

जृने-तालीम

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का शैक्षणिक सफरनामा

(फीडबैक के लिए सीमित संस्करण)



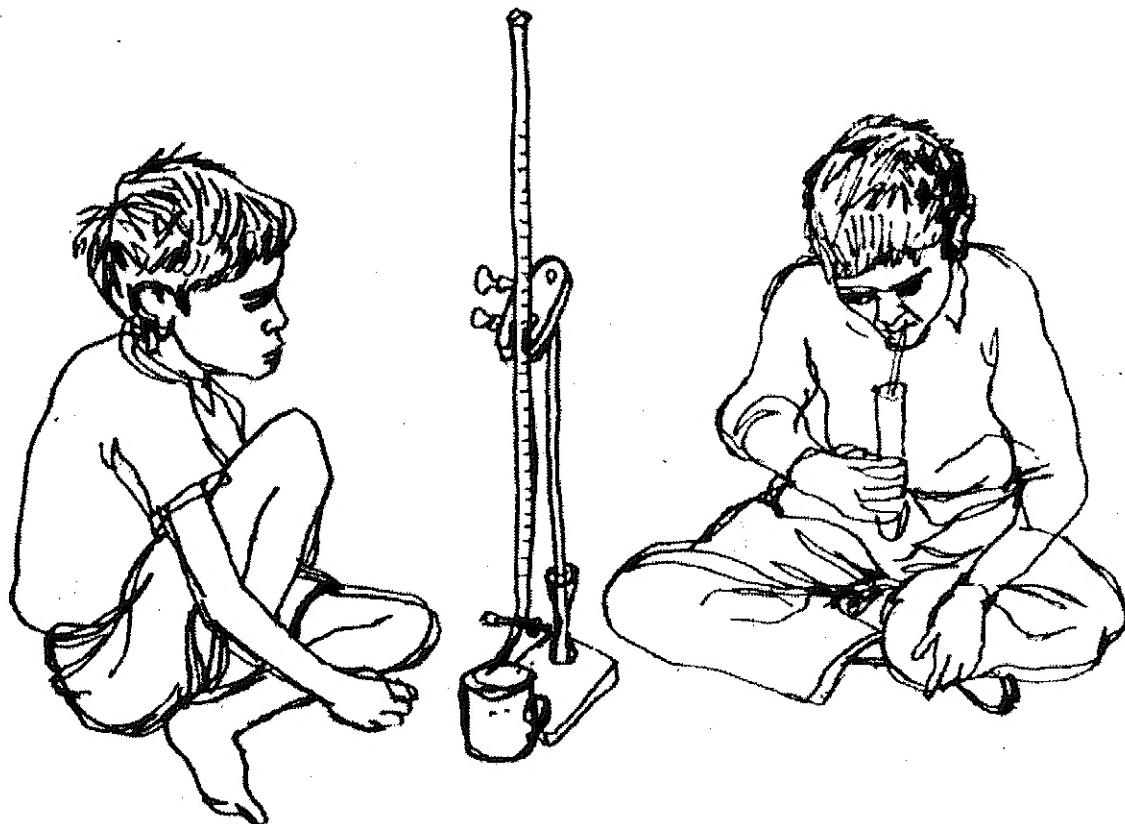
डॉ. सुशील जोशी

होविशिका के शैक्षणिक पहलुओं के बयान का एक प्रयास

मई 2007

होशंगाबाद विज्ञान : जश्ने तालीम

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का शैक्षणिक सफरनामा



होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के शैक्षणिक पहलुओं के बयान का एक प्रयास
मई 2007

विषय सूची

होशंगाबाद विज्ञानः एक अनोखी पहल	4
होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रमः प्रमुख पड़ाव	8
होशंगाबाद कार्यक्रम के अकादमिक प्रेरणा खोत	10
पब्लिक स्कूल से नगर निगम तक	11
बंबई से होशंगाबाद का सफर	13
1972 से 1975 का दौर	15
जुड़ना विशेषज्ञों का	16
पहला प्रशिक्षण	17
लाल वैज्ञानिक	17
कार्ड्स	19
पाठ्यक्रम और विषयवस्तु की समझ	22
पाठ्यक्रम	25
विषयवस्तु चयन के आधार	26
क्रमिक विकास	27
पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के सवाल	29
जानकारी न देने का हठ	33
पूरक सामग्रीः एक सरीचिका	36
पाठ्यक्रम का लचीलापन	38
बाल वैज्ञानिक अध्याय की संरचना	40
प्रयोग व गतिविधियां	42
प्रयोग में तुलना का प्रावधान	44
जानकारी के अन्य खोत	46
परिभ्रमण	46
सवाल-दर-सवाल	48
मॉडल का निर्माण या विकास	49
टोलियां यानी सीखना मिलकर होता है	51
तुम्हारा क्या विचार है?	54
चित्रांकन और साज-सज्जा	56
अध्यायों के सारांश	62
कक्षा 6	
कक्षा 7	70
कक्षा 8, खण्ड 1	80
कक्षा 8, खण्ड 2	86
बदलती बाल वैज्ञानिक	93
फीडबैक के खोत	93
प्रथम संशोधन	94
दूसरा संशोधन	97
एक अध्याय की जीवनी - आकाश की ओर	101
एक अध्याय की जीवनी - पौधों का पोषण	108

एक अध्याय की जीवनी: बल और भार	114
रसायन शास्त्र का पाठ्यक्रम उर्फ सवाल आगे की कक्षा से कड़ियों का	119
सवा रुपए का विज्ञान: किट का विकास	129
शिक्षक निर्देशिका	133
सवालीराम	136
नवाचार और शिक्षकों की भागीदारी की तैयारी	141
शिक्षक प्रशिक्षण: पहला शिविर (1972)	143
शिक्षकों के साथ काम का ढांचा	146
सेवाकालीन प्रशिक्षण	147
शिविर दर शिविर	149
प्रशिक्षण का मॉडल	151
प्रतिदिन पांच घण्टे	153
कुछ और प्रक्रियाएं	155
फीडबैक बैठक	156
फैलता कार्यक्रम, बदलता प्रशिक्षण	158
अनुवर्तन	159
मासिक गोष्ठियां	161
शिक्षक निर्देशिका व बुलेटिन	162
स्रोत शिक्षकों का प्रशिक्षण	162
नवाचार की चुनौतियां	163
कक्षाओं के अनुभव	166
मूल्यांकन व परीक्षा	187
एक रूपरेखा	188
ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद	191
लिखित परीक्षा: प्रश्न पत्र का सामूहिक निर्माण	192
खुली किताब	192
प्रायोगिक परीक्षा	193
लिखित परीक्षा	194
मूल तत्व	196
प्रश्नों की प्रकृति	198
प्रश्न पत्र निर्माण के अनुभव	199
प्रश्न पत्र निर्माण की प्रक्रिया	200
अंकों का पुनर्निर्धारण	201
प्रश्नों की स्थिति	203
परीक्षा में पूछे गए कुछ प्रश्न	204
शिक्षण प्रक्रिया पर प्रभाव	207
उपसंहार	213

होशंगाबाद विज्ञानः एक अनोखी पहल

3 जुलाई 2002 शिक्षा के इतिहास में एक काला दिवस है। इस दिन मध्य प्रदेश सरकार ने शिक्षा में नवाचार के उस कार्यक्रम को बंद करने का निर्णय लिया था जो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (हो.वि.शि.का.) के नाम से देश-विदेश में मशहूर रहा है। जो लोग वैश्वीकरण व निजीकरण के प्रभावों पर नज़र रखते हैं, उन्हें मध्य प्रदेश सरकार के इस कदम पर तनिक भी हैरत नहीं हुई होगी। मध्य प्रदेश सरकार के इस दुर्भावना से प्रेरित व दुर्भाग्यपूर्ण फैसले से जुड़े मुद्दों का विश्लेषण कई लोगों ने किया है।

हो.वि.शि.का. की शुरुआत 1972 में एक छोटी-सी पहल से हुई थी। इस संदर्भ में दंतकथा यह है कि जब दो स्वैच्छिक संस्थाओं - किशोर भारती और मित्र मंडल केंद्र - ने सरकारी मिडिल स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में काम करने का एक प्रस्ताव राज्य शासन को दिया, तो तत्कालीन संचालक, लोक शिक्षण डॉ. बी.डी. शर्मा ने उन्हें अनुमति देने के विरुद्ध समर्प्त आपत्तियों को दरकिनार करते हुए कहा था, “प्रदेश के सरकारी स्कूलों में विज्ञान शिक्षा की हालत इतनी खराब है कि ये नौसिखिए उसे और खरोब क्या करेंगे। इसलिए मैं इन्हें अनुमति देता हूँ।” एक सक्षम सरकारी अधिकारी के इस कथन ने विज्ञान शिक्षा में परिवर्तन की एक नई धारा को मुक्त कर दिया।

होशंगाबाद ज़िले के 16 स्कूलों के शिक्षक और साथ में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फैंडामेंटल रिसर्च के वैज्ञानिक, ऑल इण्डिया साइन्स टीचर्स एसोसिएशन के सदस्य तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापक दो स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा उपलब्ध कराए गए मंच पर साथ आए थे। यहीं से शुरुआत हुई थी एक जश्न की जिसमें इन सब और अनगिनत अन्य लोगों ने मिलकर शिक्षा, और खासकर विज्ञान शिक्षा को बच्चों के लिए एक सार्थक व आनंददायी अनुभव बनाने के लिए प्रयास किए। इस कार्यक्रम ने जल्दी ही विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और शोध संस्थानों के अध्यापकों और वैज्ञानिकों को आकृष्ट किया।

खोज व पर्यावरण पर आधारित इस कार्यक्रम में बच्चे अपने पर्यावरण से अंतर्क्रिया करते हुए प्रयोग करके ऐसी परिकल्पनाएं गढ़ते थे जिनको वे जांच सकें। यह संभवतः पहली बार था कि माध्यमिक कक्षाओं में बच्चे टोलियों में बैठकर प्रयोग करते थे, परिभ्रमणों पर जाते थे, अपने अवलोकन रिकॉर्ड करते थे, उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालते और विज्ञान के सिद्धांत सीखते थे और मज़ा करते थे। सीखने की इस प्रक्रिया में शिक्षक एक साथी व मार्गदर्शक था और शायद पहली बार तोतारटंत पद्धति को कक्षा से बाहर का रास्ता दिखाया गया था।

हो.वि.शि.का. समूह ने सीखने की प्रक्रिया में मज़े को खासा महत्व दिया। बाद के वर्षों में “सीखने का आनंद” मुख्यधारा में भी स्वीकार किया गया जुम्ला बना। कार्यक्रम बंद होने के बाद एक स्रोत व्यक्ति पंचापकेसन से जब कार्यक्रम के सबक के बारे में पूछा गया तो उन्होंने बेहिचक कहा था: “हमें मज़ा आया, शिक्षकों को मज़ा आया, बच्चों को मज़ा आया; और क्या चाहिए?”

मगर सरकारी लोगों को मज़ा एक फालतू चीज़ लगता है। कार्यक्रम को बंद करने के लिए शासन के एक उच्च अधिकारी ने इस पर एक रिपोर्ट में बताया था कि कार्यक्रम में कोई दम नहीं है। मखौल करते हुए उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि “इसके पक्ष में एकमात्र तर्क ‘बच्चों के आनंद’ का रह जाता है जो कोई ठोस चीज़ नहीं है और अधिगम की गुणवत्ता का समुचित सूचक नहीं है।”

संक्षेप में कहें, तो हो.वि.शि.का. में कोशिश की गई थी कि जानकारी के विस्फोट की बजाय विज्ञान करने व अवधारणा के विकास को पाठ्यक्रम की बुनियाद बनाया जाए। इसमें बच्चे अवलोकनों, प्रयोगों, आंकड़ों के प्रस्तुतीकरण व विश्लेषण और सामूहिक चर्चा के माध्यम से नियम व परिभाषाओं तथा अवधारणाओं तक पहुँचते थे।

हो.वि.शि.का. का मर्म यह रहा है कि बच्चों को स्वतंत्र सीखने वाले बनाया जाए; इसके लिए कोशिश

यह थी कि उन्हें उन तौर-तरीकों से लैस किया जाए जो नए-नए सवालों व समस्याओं की खोजबीन को आगे बढ़ाने में सहायक हों।

16 रकूलों के सघन दौर के बाद 1978 में कार्यक्रम को होशंगाबाद ज़िले के समस्त मिडिल स्कूलों में फैलाया गया था। जब सरकार ने इसे बंद करने का बदनुमा फैसला लिया उस समय कार्यक्रम प्रदेश के 15 ज़िलों के 800 से ज्यादा स्कूलों में चल रहा था। इसमें लगभग 3000 शिक्षक सहभागी थे। ये शिक्षक एक ऐसी अभूतपूर्व शिक्षक प्रशिक्षण की प्रक्रिया से होकर गुज़रे थे जिसकी गहराई व गहनता देखते ही बनती थी। शिक्षकों के इस समूह में करीब 200 शिक्षकों का एक स्रोत दल भी उभरा था जो अन्य शिक्षकों को प्रशिक्षण देने में सक्षम था और इस चुनौतीपूर्ण काम की बागडोर संभालने की तैयारी में जुटा था। इनमें से कई स्रोत शिक्षकों ने तो राज्य से बाहर भी शिक्षकों के प्रशिक्षण में अहम भूमिका निभाई थी। 30 सालों के इतिहास में करीब ढाई लाख छात्र इस कार्यक्रम में भागीदार रहे।

कार्यक्रम के समर्त पहलुओं में शिक्षकों की भागीदारी व महत्वपूर्ण भूमिका की दृष्टि से हो.वि.शि.का. ने नए प्रतिमान स्थापित किए हैं और शिक्षकों की भागीदारी की संभावनाओं व चुनौतियों को उजागर करने में अहम योगदान दिया है। स्कूली शिक्षकों, विश्वविद्यालय व महाविद्यालय के अध्यापकों, शोध संस्थानों के वैज्ञानिकों, राजकीय-स्नातक-स्नातकोत्तर छात्रों और गैर सरकारी संगठनों का मिल-जुलकर कंधे से कंधा मिलाकर स्कूली शिक्षा में काम करने की दूसरी मिसाल ढूँढ़े नहीं मिलेगी।

कार्यक्रम को लागू करते हुए यह स्पष्ट था कि शिक्षा तंत्र की सीढ़ीदार संरचना में शिक्षक को सबसे निचली पायदान पर रखा गया है। जो शिक्षक बच्चों के सामने ज्ञान के एक अलंघ्य स्रोत के रूप में पेश होता है, वही प्रशासन के किसी भी अदना से अदना अधिकारी के सामने अत्यंत दब्बू और निरीह हो जाता है। यह भी समझा गया कि शिक्षक को एक सम्मानजनक हैसियत दिए बगैर शिक्षा में सुधार की बात करना बेमानी है। यह भी स्पष्ट था कि शिक्षा तंत्र से बाहर जो व्यापक सामाजिक तंत्र है, उसमें शिक्षक सामंती वर्ग के साथ खड़ा नज़र आता है। मगर स्कूल में अपनी शैक्षणिक योग्यता और विभागीय अफसरशाही के चलते वह प्रायः आत्म सम्मान के अभाव से पीड़ित होता था मगर साथ ही कक्षा में सर्वज्ञाता का किरदार निभाने को मजबूर था।

‘हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के साथ काम उक्त सरोकारों में से विकसित हुआ था। खास तौर से, शिक्षकों के बीच परस्पर ‘शैक्षिक संवाद’ या अपने व्यवसाय से सम्बंधित मुद्दों पर विचार-विमर्श के अभाव को संबोधित करते हुए हो.वि.शि.का. के तहत इस तरह की peer interaction के लिए औपचारिक मंच बनाने के प्रयास किए गए ताकि शिक्षक स्वयं को एक शैक्षणिक पेशेवर समूह के सदस्य के रूप में देख पाए।

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम इस मायने में अनोखा है कि इसने शिक्षा में परिवर्तन की संभावना को उजागर करने के साथ-साथ उस परिवर्तन की दिशा व उसके क्रियांवयन के विभिन्न आयामों का भी संकेत दिया। समकालीन भारतीय परिदृश्य में शिक्षा का इससे अधिक प्रभावशाली कार्यक्रम शायद ही कोई और हो। इसका असर शिक्षा के पूरे स्रोत व तंत्र पर देखा जा सकता है।

हो.वि.शि.का. इस मायने में भी उल्लेखनीय है कि शुरू से ही हरतक्षेप को बहुआयामी रूप में सोचा व क्रियान्वित किया गया था। यह शुरू से ही स्पष्ट था कि स्कूली शिक्षा के किसी एक पक्ष के साथ छेड़छाड़ करने से परिवर्तन नहीं होगा। कार्यक्रम के तहत स्कूलों के लिए शिक्षकों की मदद से पाठ्य वस्तु निर्मित करने के साथ-साथ सीखने-सिखाने के हर पहलू को संबोधित किया गया था। नई पाठ्य पुस्तकें बनाने के साथ ही प्रायोगिक किट का विकास किया गया। शिक्षक प्रशिक्षण की बात तो हमने ऊपर की ही है। इसके अलावा बच्चों की बढ़ती जिज्ञासा को संबोधित करने के लिए सवालीराम जैसी संस्था का निर्माण किया गया। शिक्षकों को कार्यस्थल पर मदद करने और फीडबैक प्राप्त करने के लिए नए विकेंट्रित ढांचे तैयार किए गए। कार्यक्रम में बच्चों के मूल्यांकन के लिए परीक्षा में बुनियादी परिवर्तन किए गए। परीक्षा

को एक ऐसा रूप दिया गया जो रटी हुई जानकारी को उगलवाने की बजाय अवधारणात्मक विकास का आकलन करे, प्रायोगिक कुशलता की जांच करे और परीक्षा को तनाव से मुक्त करे।

होशंबागाद विज्ञान की एक और उल्लेखनीय बात यह है कि यह शायद पहली बार था कि सरकारी शिक्षा विभाग से बाहर की संस्थाओं ने स्कूली शिक्षा में सुधार के लिए हस्तक्षेप किया था। शायद शिक्षा व्यवस्था की जड़ता में किसी बुनियादी परिवर्तन के लिए जिस ताज़ा हवा की ज़रूरत थी वह ऐसे ही लोग उपलब्ध करा सकते थे जो ‘शिक्षाई’ जकड़न से मुक्त हों। हो.वि.शि.का के तीस साल के इतिहास की एक खास बात यह भी रही है कि इसमें ‘शिक्षा’ में औपचारिक रूप से प्रशिक्षित लोगों का लगभग अभाव रहा है। शिक्षा महकमे की हायरार्की से बंधे न होना भी इस समूह के लिए फायदे की बात थी। इसके चलते यह समूह शिक्षा से जुड़े हर तबके के साथ एक बराबरी का सम्बंध बना पाया।

इसी ‘हस्तक्षेप’ का नतीजा था कि कार्यक्रम के क्रियावयन में विकेंद्रित ढांचों का निर्माण करके उन्हें सक्रिय किया गया। शिक्षा आयोग (1964-66) की शाला संकुल व संगम केंद्र की अवधारणा को हो.वि.शि.का. में साकार किया गया और उसमें जान फूंकी गई। शिक्षा प्रशासन में शैक्षणिक आयाम को जोड़ने की कोशिश भी इसी हस्तक्षेप का परिणाम कही जा सकती है। शिक्षकों पर प्रशासन की पकड़ को शिथिल करने के प्रयास भी किए गए।

हो.वि.शि.का. देश भर में कई कार्यक्रमों व पहलकदमियों का प्रेरणा स्रोत भी रहा और इसने देश में शिक्षा सम्बंधी विमर्श में कई नए आयाम जोड़े। सबसे बड़ी बात तो यह रही कि हो.वि.शि.का. एक ऐसा मंच बना जहां वैज्ञानिक व अकादमिक लोग, विश्वविद्यालय व महाविद्यालय के अध्यापक व छात्र, प्रशासक, विभिन्न गैर सरकारी संगठनों के कार्यकर्ता और स्कूली शिक्षक नियमित रूप से शिक्षा व शिक्षण पद्धति पर विचार-विमर्श में भागीदार रहे।

एक मायने में हो.वि.शि.का. भारत में शिक्षा के परिदृश्य में एक अनूठी पहल थी। इस कार्यक्रम के शैक्षणिक पक्षों को व्यवस्थित रूप से सामने रखना ही इस दस्तावेज़ का लक्ष्य है।

इस दस्तावेज़ में हम मुख्यतः कार्यक्रम के तीन पक्षों की चर्चा करेंगे - सामग्री का निर्माण व संरचना, शिक्षकों की भागीदारी व उनकी तैयारी के लिए किए गए प्रयास और परीक्षा व मूल्यांकन। सामग्री से आशय पाठ्यक्रम, विषय वस्तु, पाठ्य पुस्तक, शिक्षक निर्देशिका, किट वगैरह से है। इसमें हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम व विषयवस्तु किस तरह विकसित हुई, समय-समय पर इनमें क्या परिवर्तन हुए हैं। हम इस बात पर भी ध्यान देंगे कि इन परिवर्तनों के आधार क्या रहे व किन कारकों का प्रभाव रहा। इसके बाद यह समझने का प्रयास करेंगे कि किस तरह हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम और विषय वस्तु को पाठ्य सामग्री में ढाला गया है।

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों से परिचय के क्रम में सर्वप्रथम एक सामान्य (प्रारूपिक) अध्याय का विवरण दिया गया है और उसके विभिन्न पक्षों को उजागर किया गया है। इसके बाद इन अलग-अलग पक्षों की विस्तृत चर्चा भी की गई है। बाल वैज्ञानिक के तीनों संस्करणों में शामिल अध्यायों के सार भी शामिल किए गए हैं और विकास क्रम की एक मोटी-मोटी समीक्षा भी की गई है। समूह की समझ के साथ-साथ अध्यायों के विकास को समझने की दृष्टि से तीन अध्यायों के सिलसिलेवार विश्लेषण भी जीवनियों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

बाल वैज्ञानिक के जरिए सीखने सिखाने के कई आयाम उभरते हैं। शिक्षक के लिए इस प्रक्रिया को सुगम बनाने हेतु शिक्षक निर्देशिका तैयार करने व उनके उपयोग के अनुभवों को एक संक्षिप्त अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

किट सामग्री का विकास पाठ्यक्रम विकास का अभिन्न अंग रहा है और इसकी चर्चा भी हम संक्षेप में करेंगे। प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षा को लेकर एक चिंता यह व्यक्त की जाती है कि यह महंगा होगा। इस

अध्याय में हम यही समझने का प्रयास करेंगे कि यह चिंता कहां तक वाजिब है। किट को सुगम व सस्ता बनाने के प्रयासों पर चर्चा करते हुए खास तौर से किट के विकास में शिक्षकों व अन्य लोगों के योगदान को रेखांकित किया जाएगा।

ऐसा कहा जाता है कि हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के साथ बहुत काम किया गया है। शिक्षक प्रशिक्षण व उससे जुँड़ी अन्य प्रक्रियाओं का ब्यौरा एक खंड में दिया गया है। इसी खंड में यह चर्चा भी की गई है कि कैसे शिक्षकों की भागीदारी हो.वि.शि.का. का सबसे महत्वपूर्ण पहलू रहा है और इसके विविध रूपों की बात की गई है।

इसके बाद हम स्कूलों की वास्तविक परिस्थिति में सामग्री के उपयोग के अनुभवों पर चर्चा करेंगे। इस चर्चा का प्रमुख आधार वे अनुवर्तन रिपोर्ट्स हैं जो कार्यकारी दल तथा स्रोत दल के सदस्यों ने समय-समय पर प्रस्तुत की हैं। इसके अलावा शिक्षकों से प्रत्यक्ष चर्चा व लिखित प्रतिवेदनों से प्राप्त जानकारी भी इसमें समेटी गई है।

और अंत में हम कार्यक्रम के और शिक्षा के सबसे नाजुक मसले परीक्षा पर चर्चा करेंगे। हो.वि.शि.का. के अंतर्गत परीक्षा प्रणाली में किए गए आमूल परिवर्तनों को रेखांकित करने के अलावा इस खंड में परीक्षा के वास्तविक अनुभवों का विश्लेषण भी किया जाएगा।

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रमः प्रमुख पड़ाव

1972 किशोर भारती, बनखेड़ी व मित्र मंडल केंद्र, रसूलिया द्वारा 16 स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में नवाचार के प्रस्ताव को शासन की मंजूरी। ऑल इण्डिया साइन्स टीचर्स एसोसिएशन के सहयोग से कार्यक्रम की शुरुआत। पहला प्रशिक्षण शिविर मई में। लाल वैज्ञानिक का प्रकाशन सितंबर में।

1973 दिल्ली विश्वविद्यालय का विज्ञान शिक्षण समूह कार्यक्रम में शामिल। उनकी भागीदारी को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की औपचारिक मान्यता।

1975 म.प्र. के महाविद्यालयों से विज्ञान अध्यापकों का समूह शामिल हुआ। तीन वर्षों के प्रयास के बाद कक्षा 6, 7 व 8 के लिए बाल वैज्ञानिक कार्य पुस्तिकाओं का कार्ड रूप में प्रकाशन। शासन द्वारा परीक्षा प्रणाली में फेरबदल की छूट। कार्यक्रम का पहला बैच कि.भा. व मित्र मंडल केंद्र द्वारा ली गई बोर्ड परीक्षा में बैठा।

1977 कार्यक्रम को पूरे होशंगाबाद ज़िले में फैलाने का शिक्षा विभाग, म.प्र. शासन व एन.सी.ई.आर.टी. का संयुक्त निर्णय। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किट प्रदाय का निर्णय। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल के तत्वावधान में ज़िला स्तरीय प्रसार का विस्तृत प्रस्ताव तैयार। बाल वैज्ञानिक पाठ्यक्रम व कार्य पुस्तकों को राज्य पाठ्य पुस्तक समीक्षा समिति की स्वीकृति मिली।

1978 ज़िला स्तरीय प्रसार। म.प्र. पाठ्य पुस्तक निगम द्वारा बाल वैज्ञानिक का प्रकाशन प्रारंभ। कार्यक्रम संचालन हेतु संचालक, लोक शिक्षण की अध्यक्षता में संचालन समिति का गठन व संभागीय शिक्षा अधीक्षक, नर्मदा संभाग के कार्यालय में विज्ञान इकाई की स्थापना।

1982 एकलव्य की स्थापना। म.प्र. राज्य शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद (एस.सी.ई.आर.टी.) का गठन।

1984 कार्यक्रम का फैलाव एस.सी.ई.आर.टी. के तत्वावधान में तीन ज़िलों - उज्जैन (नरवर संकुल) देवास (हाट पिपल्या संकुल), और धार (तिरला व धार संकुल) में।

1985 तीन अन्य ज़िलों - शाजापुर (आगर संकुल), मंदसौर (पिपल्या मंडी संकुल) और रतलाम (नामली संकुल) में प्रसार।

1986 नरसिंहपुर (गोटेगांव संकुल), छिंदवाड़ा (परासिया संकुल), खंडवा (हरसूद संकुल), इंदौर (सांचेर संकुल), झावुआ (मेघनगर संकुल) और खरगोन (मंडलेश्वर संकुल) में भी कार्यक्रम का फैलाव।

1987-89 स्कूलों से प्राप्त फीडबैक के आधार पर बाल वैज्ञानिक में प्रथम संशोधन।

1990 राज्य स्तरीय प्रसार के लिए एकलव्य द्वारा म.प्र. शासन व मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार को प्रस्ताव। कार्यक्रम की समीक्षा हेतु एन.सी.ई.आर.टी. के प्रो. बी. गांगुली की अध्यक्षता में छ: सदस्यीय विशेषज्ञ समिति का गठन।

1991 गांगुली समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत। कार्यक्रम की सराहना करते हुए कार्यक्रम के चरणबद्ध राज्य स्तरीय फैलाव की अनुशंसा। राज्य स्तरीय प्रसार की कार्ययोजना पर काम शुरू हुआ लेकिन सरकार परिवर्तन के कारण अवरोध आया। राज्य शासन ने कार्यक्रम का फिर से मूल्यांकन करवाने के लिए संचालक राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान के निदेशक डॉ. जी.एस. मिश्रा की अध्यक्षता में एक समिति गठित की।

द्वितीय प्रारूप

1992	मिश्रा समिति की रिपोर्ट के निष्कर्ष सकारात्मक थे किन्तु किसी कारण से यह रिपोर्ट न तो प्रस्तुत हुई न प्रकाशित की गई।
1993	गुजरात राज्य की पांच संस्थाओं ने संयुक्त रूप से हो.वि.शि.का. की तर्ज पर गुजरात के तीन जिलों में शासन की अनुमति से अध्येता केंद्री वैज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू किया।
1994	कार्यक्रम के राज्य स्तरीय प्रसार पर फिर से विचार प्रारंभ। इसकी योजना बनाने हेतु संचालक, एस.सी.ई.आर.टी. की अध्यक्षता में समिति गठित। समिति की योजना पर निर्णय यह हुआ कि शासन फिलहाल डी.पी.ई.पी. में व्यस्त है, उसके बाद ही कोई निर्णय लिया जाएगा। इसी बीच बाल वैज्ञानिक में द्वितीय संशोधन की प्रक्रिया शुरू होकर रुकी।
1995	स्रोत शिक्षक प्रशिक्षण शिविरों की शुरूआत। माध्यमिक शालाओं में विज्ञान शुल्क लागू होने से किट क्षतिपूर्ति में सहूलियत के आसार।
1996	निजी शालाओं की समरस्या व स्थानीय स्रोत शिक्षकों की भागीदारी को ध्यान में रखते हुए शिक्षक प्रशिक्षण का विकेंद्रित ढांचा लागू।
1998	बाल वैज्ञानिक के अंग्रेजी संरकरण का प्रकाशन। लोक जुंडिश परिषद की पहल पर कार्यक्रम राजस्थान में पहुंचा। खोजबीन नामक पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित।
1999	1994 में बंद हुई बाल वैज्ञानिक संशोधन की प्रक्रिया फिर से शुरू हुई। शिक्षकों की व्यापक भागीदारी व बच्चों के साथ परीक्षण।
2000	म.प्र. पाठ्य पुस्तक स्थायी समिति द्वारा अनुमोदन के पश्चात कक्षा 6 की संशोधित बाल वैज्ञानिक का पा.पु. निगम द्वारा प्रकाशन। एक बार फिर राज्य स्तरीय प्रसार की चर्चा।
2001	कक्षा 7 की संशोधित पुस्तक प्रकाशित। कक्षा 8 की बाल वैज्ञानिक का पुनर्लेखन प्रारंभ।
2002	शासन ने कार्यक्रम को बंद करने का निर्णय लिया। कक्षा 8 की संशोधित पुस्तक प्रकाशित न हो सकी।

होशंगाबाद कार्यक्रम के अकादमिक प्रेरणा स्रोत¹

सोवियत संघ द्वारा 1950 के दशक के आरंभ में स्पूतनिक का प्रक्षेपण अंतरिक्ष विज्ञान में तो एक युगांतरकारी कदम था ही, इसने सारी दुनिया में विज्ञान शिक्षा पर एक बहस को भी जन्म दिया था। शीत युद्ध के उस दौर में स्पूतनिक का प्रक्षेपण संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए करारा झटका था। इसके चलते अमेरिका में यह बहस छिड़ गई कि हो न हो यहां की विज्ञान शिक्षा में कुछ दिक्कत है जिसकी वजह से अच्छे वैज्ञानिक तैयार नहीं हो रहे हैं। इससे प्रेरणा लेकर अमेरिका में स्कूली विज्ञान शिक्षा के कई प्रोजेक्ट शुरू हुए मगर स्वयं अमेरिका द्वारा अंतरिक्ष यान के प्रक्षेपण के बाद इनमें वह जोश नहीं रह गया और सरकारी मदद भी कम हो गई। वहां प्रमुख चिंता यह थी कि बच्चे विज्ञान से विमुख हो रहे हैं। इस विंता के जवाब में जो प्रयास किए गए, वे इस बात पर केंद्रित थे कि विज्ञान शिक्षा में विज्ञान के अपने तरीके का गहन प्रशिक्षण शामिल होना चाहिए और बच्चों को एक वैज्ञानिक की तरह काम करने का मौका मिलना चाहिए। मगर बच्चों को विज्ञान के व्यापक एकीकरण का अनुभव देते हुए, इन प्रयासों में बच्चों के अपने परिवेश व अनुभवों को समुचित रूप से नहीं मिल पाया। इनमें इस बात का भी ध्यान नहीं रखा गया था कि बच्चे किस स्तर के अमूर्त सोच के लिए तैयार हैं। इसके अलावा शिक्षा के इस महत्वपूर्ण उद्देश्य की भी उपेक्षा हुई थी कि बच्चों को वह ज्ञान और वे हुनर हासिल हों जो उन्हें अपने परिवेश में विचारशील जीवन जीने में मददगार हों। इस खामी का जवाब यह था कि विज्ञान शिक्षा को लोगों के दैनिक जीवन के लिए ज्यादा उपयोगी बनाया जाए²।

विज्ञान शिक्षा के बारे में कुछ करने की ज़रूरत को भारत में साठ के दशक के मध्य में पहचाना गया था। इसके बाद से कई संगठित व असंगठित प्रयास शुरू हुए। सरकारी नवाचार के प्रयास राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) के गठन के बाद शुरू हुए थे। इन्हीं प्रयासों के तहत शालेय विज्ञान की कुछ पुस्तकें तैयार करके कई राज्यों को उपलब्ध कराई गई थीं। इन्हें एन.सी.ई.आर.टी.-यूनेस्को सामग्री कहा जाता था। राज्यों ने इनका अनुवाद क्षेत्रीय भाषाओं में करके कुछ स्कूलों में उपयोग भी किया था। इनके साथ कुछ प्रयोग किट भी दिया गया था मगर लगता है कि इसका ज्यादा उपयोग नहीं होता था। यह सामग्री पारंपरिक सामग्री से सिर्फ़ इस मायने में बेहतर थी कि यह साधारण लागत पर त्रुटिरहित सामग्री थी। पाठ्यक्रम काफी रुढ़िगत ही था और इन पुस्तकों में विषयवस्तु की भरमार थी।

इसके अलावा एन.सी.ई.आर.टी. ने 1967-68 में नई पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में 21 अध्ययन दलों को वित्तीय सहायता प्रदान की थी। इन दलों ने मिडिल स्कूल स्तर के लिए कई पाठ्य पुस्तकें तैयार की थीं। इस सामग्री की गुणवत्ता में काफी विविधता थी और इनमें से कुछ पुस्तकें उस समय उपलब्ध सामग्री से कहीं बेहतर थीं।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा समर्थित एक समूह ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन (ए.आई.एस.टी.ए.) का भौतिकी अध्ययन दल था। मूल समूह तो स्कूली शिक्षकों का था मगर साथ में विश्वविद्यालयों के कुछ शिक्षक और कुछ शोध वैज्ञानिक भी सलाहकारों के रूप में थे। इस समूह ने एक पुस्तक तैयार की थी ‘फिजिक्स थ्रू एक्सप्रेसिंग्स’। इसे तैयार करने में प्रमुख भूमिका दून स्कूल के दो अध्यापकों बी.जी. पित्रे व सी.के. दीक्षित की थी। वैसे ये लोग इंग्लैण्ड में चल रहे एक कार्यक्रम नफील्ड साइंस से प्रभावित थे

¹ इस विवरण को तैयार करने में दो प्रमुख स्रोतों से मदद मिली है: किशोर भारती में अक्टूबर 1983 में आयोजित एक गोष्ठी के मिनट्स तथा यश पाल द्वारा अक्टूबर 1972 में आयोजित ‘ए मीटिंग ऑफ़ लीडर्स ऑफ़ साइंस एण्ड मैथेमेटिक्स इम्प्रूवमेंट प्रोजेक्ट्स’ में प्रस्तुत पर्चा।

² From Sputnik to TIMSS: Reforms in Science Education Make Headway Despite Setbacks: More time is needed for widespread classroom changes, Naomi Freilindich, Harvard Education

मगर इस पुस्तक की रचना इन लोगों ने भौतिकी पढ़ाने के अपने अनुभवों के आधार पर की थी। उस समय जिस ढंग से विज्ञान पढ़ाया जाता था, उससे ये लोग बहुत पीड़ित थे और बदलाव करना चाहते थे। अपनी सामग्री का निर्माण करते हुए इन्हें फायदा यह था कि ये इसका परीक्षण अपने स्कूल में कर सकते थे। इसके अलावा इन्हें ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के अन्य सदस्यों की रचनात्मक समालोचना का लाभ भी मिला।

जहां विज्ञान की पारंपरिक किताबें जानकारी से भरी थीं, वहीं ‘फिजिक्स थ्रू एक्सपरिमेंट्स’ का सिद्धांत अलग था। ‘फिजिक्स थ्रू एक्सपरिमेंट्स’ के पाठ्यक्रम का सिद्धांत यह था कि बच्चों को ‘आधुनिक ज्ञान’ नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह ‘ज्ञान’ इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है कि किसी भी बच्चे के दिमाग में इसे ठूंसा नहीं जा सकता। बच्चे की सीमाएं हैं, उस आयु समूह की सीमाएं हैं। इसलिए बच्चों को ज्ञान हासिल करने के तरीके सिखाए जाने चाहिए, ज्ञान हासिल करने के औज़ारों में माहिर बनाना चाहिए। इसलिए ए.आई.एस.टी.ए. की पुस्तक और अन्य पुस्तकों में अंतर मात्र प्रयोग होने-न-होने का नहीं था। वार्षिक अंतर उद्देश्यों का था।

भौतिकी अध्ययन दल ने विज्ञान शिक्षा की खोज पद्धति का चुनाव किया था। इस चुनाव में उन्हें अन्य देशों में चल रहे कुछ प्रतिष्ठित कार्यक्रमों (खासकर नफील्ड कार्यक्रम) से नैतिक समर्थन भी हासिल हुआ था। दूसरी ओर, देश के कुछ शिक्षाविदों का विरोध भी था, जो सिद्धांततः तो इस पद्धति के खिलाफ नहीं थे मगर उन्हें लगता था कि पिछड़े हुए शिक्षकों और साधनहीन स्कूलों वाले इस गरीब देश में इस तरह का प्रयोग नहीं हो सकता। (गौरतलब है कि जब फरवरी 1972 में फ्रेंड्स रुरल सेंटर और किशोर भारती ने विज्ञान शिक्षा में सुधार करने का प्रस्ताव सरकार के सामने रखा था, तब एन.सी.ई.आर.टी. के फील्ड एडवाइजर ने यही तर्क दिया था: “एन.सी.ई.आर.टी. इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि भारत जैसे गरीब देश में ऐसे विज्ञान नहीं पढ़ाया जा सकता। यह जो विज्ञान है वह अमरीका और पश्चिमी देशों के लिए ठीक है। यह सम्पन्न देशों का विज्ञान है।”) अतः शुरू से ही इस दल (भौतिकी अध्ययन दल) को अपने अस्तित्व को जायज़ ठहराने के लिए अपनी विधि के परीक्षणों और स्कूलों में प्रदर्शनों का सहारा लेना पड़ा था।

भौतिकी अध्ययन दल की पुस्तकों का शुरुआती परीक्षण अनौपचारिक ढंग से चंद अपेक्षाकृत संपन्न स्कूलों में हुआ था। दल के अधिकांश शिक्षक ऐसे ही स्कूलों के थे। सभी स्वीकार करते थे कि यह सामग्री इन स्कूलों में तो बढ़िया चलती है मगर बड़े शहरों और देहातों के विपन्न स्कूलों में इसकी वैधता को लेकर संदेह थे।

पब्लिक स्कूल से नगर निगम तक

इस पुस्तक को एन.सी.ई.आर.टी. से कोई तवज्जो नहीं मिली थी। पित्रे और दीक्षित ने इसे मुंबई के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च (टी.आई.एफ.आर.) के वैज्ञानिकों के एक समूह के सामने रखा। संयोग ही था कि आग वहां भी लगी हुई थी - ये वैज्ञानिक तड़प रहे थे कि विज्ञान को समाज से कैसे जोड़ा जाए। इसके लिए वे लोग अपने ढंग से प्रयास भी कर रहे थे। इस समूह में यशपाल और बी.जी. कुलकर्णी जैसे वैज्ञानिक शामिल थे। बी.जी. पित्रे द्वारा तैयार ‘फिजिक्स थ्रू एक्सपरिमेंट्स’ देखकर वे फूले नहीं समाए और फौरन इच्छा जाहिर की कि वे इसका उपयोग करके बंबई के नगर निगम के स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में हस्तक्षेप करना चाहेंगे। नगर निगम ने 10 स्कूलों में इस सामग्री व पद्धति के परीक्षण की अनुमति दे दी। तो, आम स्कूलों में इस सामग्री के परीक्षण का अवसर टी.आई.एफ.आर. और बंबई नगर निगम के बीच बने संवाद में से उभरा। इस कार्यक्रम के क्रियांवयन के लिए टी.आई.एफ.आर. के वैज्ञानिकों और भौतिकी अध्ययन दल के निदेशक को मिलाकर एक फेकल्टी का गठन किया गया।

जो किताब मूलतः दून स्कूल जैसे पब्लिक स्कूलों के लिए तैयार की गई थी, वह मराठी में अनुदित होकर बंबई के नगर निगम स्कूलों में पहुंची। पहली बार यह पुस्तक अपने रचयिताओं के हाथों से निकलकर

अन्य शिक्षकों के हाथों में पहुंची थी। तो यहां शिक्षक प्रशिक्षण का इन्तज़ाम करने की ज़रूरत सामने आई। पित्रे और साथियों के लिए भी यह बिलकुल नया अनुभव था। उन्होंने कभी दूसरे शिक्षकों को प्रशिक्षित नहीं किया था।

एक बात यह भी थी कि ‘फिजिक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स’ में सिर्फ भौतिकी से सम्बंधित अध्याय थे। इसलिए टी.आई.एफ.आर. के समूह ने इसमें जीव विज्ञान व रसायन के कुछ अध्याय जोड़े। यह किताब ‘प्रायोगिक पदार्थ विज्ञान’ कहलाई। इसके आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण आयोजित किया गया जिसमें यश पाल और वी.जी. कुलकर्णी जैसे व्यक्तियों ने स्रोत व्यक्तियों ने भूमिका अदा की। कार्यक्रम का प्रस्ताव तीन साल के लिए दिया गया था - 1970 से 1972। गौरतलब है कि महाराष्ट्र में मिडिल स्कूल कक्षा 5 से 7 होता है और बोर्ड परीक्षा कक्षा 7 में होती है।

पहला शिक्षक उन्मुखीकरण शिविर 1970 के शुरू में आयोजित हुआ। पहले ही शिविर के बाद स्पष्ट हो गया था कि कार्य पुस्तकों में और प्रयोग सामग्री में किस तरह के बदलाव करने होंगे। अधिकांश शिक्षक हाई स्कूल पास थे और उन्हें विज्ञान पढ़ाने का कोई विशेष प्रशिक्षण नहीं मिला था।

इस कार्यक्रम के लिए गठित स्रोत दल (फेकल्टी) द्वारा स्कूलों में नियमित अनुवर्तन और शिक्षकों के साथ होने वाली मासिक बैठकों से प्राप्त फीडबैक के आधार पर कार्य पुस्तकों में कई संशोधन किए गए। हर सत्र के बाद परीक्षा भी फेकल्टी द्वारा ली जाती थी और मूल्यांकन के नए तरीके विकसित किए गए थे। शिक्षकों के साथ मूल्यांकन तकनीक पर विचार-विमर्श निहायत ज़रूरी लगा क्योंकि आम तौर पर वे बच्चों के अधिकांश उत्तरों को बहुत कम करके आंकते थे।

सबसे बढ़िया बात यह थी कि बच्चों को इस पाठ्यक्रम में बहुत मज़ा आता था। उनका प्रदर्शन बहुत बढ़िया था और अनुत्तीर्ण होने की दर नगण्य थी। बच्चों ने कई कीमती सुझाव भी दिए। स्कूलों में उपस्थिति वैसे ही काफी अच्छी थी, वह और बढ़ गई। बच्चे चाहते थे कि उनका विज्ञान का पीरियड अंत में रखा जाए ताकि ज़रूरी हो, तो वे स्कूल समय के बाद भी काम कर सकें।

अर्थात पब्लिक स्कूलों में से निकलकर जब यह कार्यक्रम नगर निगम के स्कूलों में पहुंचा तो कई परिवर्तन हुए। एक तो जीव विज्ञान व रसायन के अध्याय तैयार किए गए। दूसरा शिक्षक प्रशिक्षण के तौर-तरीकों का विकास हुआ। तीसरा, परीक्षा व मूल्यांकन पर विचार-विमर्श शुरू हुआ। इसके अलावा फीडबैक के आधार पर किताबों में कई संशोधन हुए।

मगर यह कार्यक्रम तीन साल के बाद जारी न रह सका। तीन साल बाद इस कार्यक्रम के बंद हो जाने के कारण स्पष्ट नहीं हैं। अनिल सदगोपाल के मुताबिक कार्यक्रम बंद होने का एकमात्र नहीं, तो प्रमुख कारण यह था कि नगर निगम ने परीक्षा प्रणाली में ज़रूरी परिवर्तन करने की अनुमति नहीं दी थी। कार्यक्रम से जुड़े शिक्षक और फेकल्टी दोनों को स्पष्ट था कि यदि परंपरागत परीक्षा ली गई तो इन बच्चों का बहुत नुकसान होगा क्योंकि परंपरागत परीक्षा में तो रटी-रटाई जानकारी पूछी जाएगी, फार्मूले पूछे जाएंगे। दूसरी ओर, यश पाल और उस समय नगर निगम के एक शाला निरीक्षक के आलेखों से लगता है कि परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन की अनुमति मिली थी। मगर फ्रेंड्स रलर सेंटर (रसूलिया) की अनीता आनंद द्वारा लिखी गई एक समीक्षा और कार्यक्रम से नजदीक से जुड़े रहे टी.आई.एफ.आर. के वी.जी. कुलकर्णी द्वारा प्रस्तुत एक पर्चे से लगता है कि परीक्षा में बदलाव की यह छूट सिर्फ स्थानीय परीक्षा तक ही सीमित रही थी। बोर्ड परीक्षा में बच्चों को आम परीक्षा में ही बैठना पड़ा था। जनवरी 1973 में मदुरै के एक विज्ञान शिक्षा सम्मेलन में प्रस्तुत अपने एक पर्चे में वी.जी. कुलकर्णी ने बताया था कि “बंबई नगर निगम के स्कूलों में किए प्रयोगों से पता चलता है कि (इस कार्यक्रम में शामिल) छात्रों का प्रदर्शन न सिर्फ वर्तुनिष्ठ परीक्षा में बल्कि परंपरागत परीक्षा में भी तुलनात्मक रूप से बेहतर रहा। कम से कम जहां तक भौतिकी और रसायन की बात है, तो इन छात्रों को तथ्यों के लिहाज से कोई नुकसान नहीं हुआ है।” वैसे एक संभावना यह भी है कि टी.आई.एफ.आर. दल ने तीन साल के कार्यक्रम का प्रस्ताव दिया था और तीन साल की

अवधि बीत जाने पर कार्यक्रम बंद हो गया। अनिल सद्गोपाल ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा में बदलाव के सवाल' में इस मुद्दे को काफी शिद्धत से उठाया है। उनका कहना है कि इस पूरे घटनाक्रम से स्पष्ट होता है कि परीक्षा यथास्थिति को बनाए रखने का एक शक्तिशाली औज़ार है³ होशंगाबाद के कार्यक्रम के लिए यह एक प्रमुख सबक बना।

अलबत्ता, नगर निगम में चले इस कार्यक्रम के नतीजे काफी सकारात्मक रहे थे और कई शिक्षक चाहते थे कि कार्यक्रम पूरा हो जाने के बाद भी उन्हें अपने स्कूलों में इस तरीके से पढ़ाने की अनुमति मिले, जो पता नहीं भिली या नहीं।

बंबई से होशंगाबाद का सफर

सवाल यह है कि यह कार्यक्रम बंबई से होशंगाबाद कैसे पहुंचा। जिस समय यह कार्यक्रम बंबई नगर निगम के स्कूलों में चल रहा था उस समय अनिल सद्गोपाल टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक थे। आगे की कहानी उनके ही शब्दों में:

"मैं सन 1969 से 71 तक टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक था। और मैं इसको (कार्यक्रम को) मात्र एक दिलचर्पी लेने वाले अवलोकनकर्ता के रूप में देख रहा था। मैंने इसमें कोई भाग नहीं लिया था; सिवाय इसके कि जिस दिन शिक्षक प्रशिक्षण की शुरुआत हुई थी, उस दिन मैं दिन भर मंत्रमुग्ध होकर पित्रे की प्रशिक्षण पद्धति को देखता रहा था।...मगर मैं उस वक्त अपने काम खत्म कर रहा था, बाहर निकलने की तैयारी कर रहा था। (अनिल सद्गोपाल उस समय किशोर भारती संस्था की स्थापना करने के काम में लगे थे। अंततः इस संस्था की स्थापना होशंगाबाद ज़िले के बनखेड़ी ब्लॉक के पलिया पिपरिया गांव में हुई।)

"...इन्हीं दिनों मैं होशंगाबाद आ गया था। हम लोग (किशोर भारती संस्था) स्कूलों में विज्ञान पढ़ाने के लिए बिलकुल नहीं आए थे। हम गरीब बच्चों की रोज़गार व ग्रामीण शोषण की समस्याओं से जूझने की बात को लेकर औपचारिकेतर शिक्षा में काम करने आए थे।

"होशंगाबाद आने का निर्णय होने में होशंगाबाद के पास रसूलिया की एक संस्था (फ्रेंड्स रूरल सेंटर) व उसके तत्कालीन संयोजक सुदर्शन कपूर का बड़ा हाथ था। शिक्षा में रुचि के कारण सेंटर ने रसूलिया गांव में एक स्कूल भी खोला था जो अन्यान्य कारणों से बंद हो गया था। सुदर्शन ने मेरे सामने यह सवाल रखा कि अब सेंटर क्या करे। मैंने उसे ए.आई.एस.टी.ए. की कहानी सुनाई और कहा कि कुलकर्णी, पित्रे वगैरह से बात कर ले। उसके बाद सुदर्शन का खाना-पीना छूट गया, उसे लगने लगा कि बंबई नगर निगम के इस काम को इस इलाके में लाया जाए। यही नींव है इस कार्यक्रम के यहां आने की।"

फ्रेंड्स रूरल सेंटर के तत्कालीन समन्वयक सुदर्शन कपूर ने इस कथा में इतना और जोड़ा⁴:

"हो.वि.शि.का. की उत्पत्ति कई दिमागों और दो प्रोजेक्ट्स - फ्रेंड्स रूरल सेंटर और किशोर भारती - के मिलन का परिणाम थी। 1970 के दशक के आरंभ में किशोर भारती के लिए जगह की तलाश में डॉ. अनिल सद्गोपाल (फ्रेंड्स रूरल) सेंटर आए थे। यह वह समय था जब सेंटर अपने सारे कार्यक्रमों, खासकर स्कूल शिक्षा में अपने काम का मूल्यांकन कर रहा था।

"(गांधीजी के बुनियादी शिक्षा के विचार समेत शिक्षा में भागीदारी का सेंटर का लंबा इतिहास था।) मगर कई वर्षों से आम शिक्षा में सेंटर का योगदान एक स्कूल चलाने तक सीमित हो गया था। सेंटर की चारदीवारी के अंदर एक स्कूल, और वह भी एक औसत स्कूल, चलाने का कोई अर्थ नहीं था।

3 अनिल सद्गोपाल, शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2000

4 सुदर्शन कपूर, निजी पत्र व्यवहार

1970 के दशक के शुरू में सेंटर अपना स्कूल बंद करने को तैयार था। (सेंटर के बोर्ड ने) कार्यकर्ताओं को कह दिया था कि वे कोई ऐसा कार्यक्रम खोजें जिसका स्कूली शिक्षा पर व्यापक असर हो सके।

“इसी समय डॉ. सद्गोपाल और उनके साथियों ने बनखेड़ी के पास किशोर भारती के लिए ज़मीन ढूँढ़ी। सेंटर ने किशोर भारती के साथ पूरा सहयोग करने का वायदा किया। हो.वि.शि.का. इस सहयोग का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था। हमें लगा कि यह (हो.वि.शि.का.) सरकारी स्कूलों में विज्ञान पाठ्यक्रम, सीखने के तरीकों और सिखाने की विधियों में सुधार में योगदान देने का एक अवसर प्रदान करता है। साथ ही, यह मध्य प्रदेश में स्कूली शिक्षा में सुधार की संभावना भी प्रस्तुत करता है। विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को शुरू करने का निर्णय इसी पृष्ठभूमि में लिया गया था।”

यह 1972 जनवरी-फरवरी की बात है।

फरवरी 1972 में किशोर भारती व फ्रैण्ड्स रुरल सेंटर द्वारा होशंगाबाद ज़िले की माध्यमिक शालाओं में विज्ञान शिक्षा में नवाचार करने का एक प्रस्ताव मध्य प्रदेश शासन को दिया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था:

“पिछले कुछ दशकों में शिक्षा की अवधारणाओं में क्रांतिकारी बदलाव हुए हैं। मगर इन विचारों ने हमारे स्कूलों व कॉलेजों में शिक्षण कार्यक्रमों को बहुत कम प्रभावित किया है।

(शिक्षा का) लक्ष्य छात्र के दिमाग में जानकारी टूंसने की बजाय उसे बुनियादी सिद्धांत व सामान्य अवधारणाएं प्रदान करना होना चाहिए।

देश के अग्रणी वैज्ञानिक और शिक्षाविद इस बात पर एकमत हैं कि बच्चा सिद्धांतों को मात्र प्रयोगों और खुली चर्चा के ज़रिए ही समझ सकता है।

स्कूलों और कॉलेजों में विज्ञान शिक्षण के लिए इस्तेमाल की जा रही अधिकांश पाठ्य पुस्तकों में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह बासी पड़ चुका है या शायद गलत भी साबित हो चुका है। किसी भी नवीन विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का लक्ष्य विज्ञान को ऐसे रोमांचक विषय के रूप में प्रस्तुत करना होना चाहिए जिसकी सीमाएं लगातार आगे बढ़ रही हैं।

शिक्षक की भूमिका एक निर्देशक की बजाय एक प्रेक्षक और मार्गदर्शक की होनी चाहिए जो सिर्फ प्रयोगों का प्रदर्शन करने की बजाय बच्चे को प्रयोग करने और विश्लेषणात्मक ढंग से सोचने में मदद करे।

कठोर सिलेबस और पाठ्य पुस्तकें स्कूल स्तर पर नवाचार के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते। एक गतिशील विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में सभी सम्बंधित पक्ष - छात्र, शिक्षक, शिक्षाविद और वैज्ञानिक - सतत फीडबैक और कक्षा के अनुभव के माध्यम से पाठ्यक्रम व शिक्षण पद्धतियों के विकास व परिवर्तन में हाथ बंटाएंगे।

ऑल इण्डिया साइन्स टीचर्स एसोसिएशन के भौतिकी अध्ययन दल द्वारा तैयार किया गया भौतिकी शिक्षण कार्यक्रम उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति करता है।

प्रस्ताव यह है कि ऑल इण्डिया साइन्स टीचर्स एसोसिएशन भौतिकी दल का कार्यक्रम म.प्र. के होशंगाबाद ज़िले में प्राथमिक व माध्यमिक स्कूलों में क्रियांवित किया जाए।

15 स्कूलों के 30 शिक्षकों के लिए उन्मुखीकरण शिविर मई/जून 1972 में आयोजित किया जाए। शिविर के दौरान कार्य-पुस्तकों और किट को पुनर्गठित करके उन्हें ग्रामीण स्कूलों के लिए उपयुक्त बनाया जाएगा। इसके लिए उदाहरणों व प्रायोगिक सामग्री के लिए गांव के भौतिक पर्यावरण को आधार बनाया जाएगा।

इसके लिए कार्यक्रम में शामिल स्कूलों को राज्य के सिलेबस और परीक्षा से छूट दी जाए।”

यह प्रस्ताव होशंगाबाद ज़िले की 15 शालाओं के लिए था। राज्य शासन से अनुमति मिलने के बाद कुल 16 माध्यमिक शालाएं कार्यक्रम में शामिल की गई थीं।

जब 1972 में हो.वि.शि.का. शुरू हुआ था तो वह भी निर्धारित पाठ्यक्रम या विषयवस्तु को लेकर शुरू नहीं हुआ था। शुरुआत उपरोक्त अत्यंत सीमित अकादमिक संसाधनों के साथ और विज्ञान शिक्षा के उद्देश्यों व प्रक्रिया की एक मोटी-मोटी समझ के साथ हुई थी।

1972 से 1975 का दौर

1972 से 1975 के बीच काफी फासला तय किया गया। जैसे दून रक्कूल से निकलकर नगर निगम के स्कूलों में पहुंचना एक महत्वपूर्ण कदम था, उसी प्रकार रो नगर निगम स्कूलों से आगे बढ़कर होशंगाबाद के ग्रामीण स्कूलों में कदम रखना तो एक छलांग थी। इस छलांग के कई आयाम हैं।

वैसे इस कार्यक्रम की पहली पाठ्य पुस्तक (जिसे शायद कार्य पुस्तक कहना ज्यादा उपयुक्त होगा) - बाल वैज्ञानिक - का प्रकाशन अक्टूबर 1972 में हुआ था। बाल वैज्ञानिक से आशय था कि कक्षा में बच्चे वैज्ञानिक के रूप में काम करते हुए सीखें। इस पहली बाल वैज्ञानिक का कवर लाल रंग का था और इसे प्यार से लाल वैज्ञानिक कहा करते थे।

पहला शिक्षक प्रशिक्षण शिविर इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले फ्रेंड्स रूरल सेंटर, रसूलिया में मई 1972 में आयोजित किया गया था। यहीं से होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में पाठ्यक्रम निर्माण और पाठ्य पुस्तक निर्माण की यात्रा शुरू होती है। बंबई से होशंगाबाद आने के बाद कई नए आयाम जुड़ते गए। ये सारे आयाम किसी सोची-समझी रणनीति या नीति वक्तव्य के तहत नहीं जुड़े थे। जैसे-जैसे काम आगे बढ़ा, स्कूलों में सामग्री का उपयोग हुआ, नए-नए स्रोत व्यक्ति जुड़े, शिक्षक प्रशिक्षण हुए, वैसे-वैसे पाठ्यक्रम के सिद्धांत उभरते गए।

आगे बढ़ने से पहले एक और बात का ज़िक्र करना ज़रूरी है क्योंकि वैसे तो यह अनुषांगिक है मगर इसका गहरा असर हो.वि.शि.का. की प्रक्रियाओं पर पड़ा है। फ्रेंड्स रूरल सेंटर और किशोर भारती, दोनों ही बहुआयामी संस्थाएं थीं। सबसे पहली बात तो यह गौर करने की है कि दोनों ही संस्थाएं ग्रामीण परिवेश में स्थित थीं। फ्रेंड्स रूरल सेंटर होशंगाबाद ज़िला मुख्यालय के नज़दीक के गांव रसूलिया में और किशोर भारती होशंगाबाद ज़िले के पूर्वी छोर पर बनखेड़ी विकास खंड के पलिया पिपरिया गांव में।

फ्रेंड्स रूरल सेंटर या भित्र मंडल केंद्र एक क्वेकर संस्था थी जिसकी स्थापना उन्नीसवीं सदी के अंत में अकाल राहत के उद्देश्य से की गई थी। उस समय (1971 में) विख्यात गांधीवादी शिक्षाविद मार्जी साइक्स रसूलिया का मार्गदर्शन कर रही थीं। उनका मत था कि शिक्षा के क्षेत्र में सेंटर ऐसा काम करे जो दिशा परिवर्तन का हो और मुख्यधारा को बदलने वाला हो। इसमें निहित था कि एक टापू नहीं बनाना है। स्पष्ट है कि बंबई नगर निगम का काम इन दोनों शर्तों को पूरी करता था।

दूसरी ओर किशोर भारती की स्थापना यह समझने के उद्देश्य से की गई थी कि गांव में जो बच्चे गरीबी के कारण स्कूल नहीं जा पाते हैं, उनके लिए किस ढंग की शिक्षा हो और किस तरीके से दी जाए ताकि ये बच्चे बेरोज़गारी व ग्रामीण शोषण की समस्या से जूझ पाएं। इसकी प्रेरणा एक तरह से गांधीजी की नई तालीम से मिली थी।

सेंटर व किशोर भारती दोनों में ही ग्रामीण समाज को लेकर, विकास को लेकर, विकास में शिक्षा की भूमिका को लेकर निश्चित विचार थे। दोनों के काम में खेती-बाड़ी, पशुपालन, स्वास्थ्य वगैरह शामिल थे। इसके चलते हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम में एक ग्रामीण रुझान नज़र आता है। इसके अलावा विज्ञान शिक्षण को पर्यावरण, खासकर ग्रामीण पर्यावरण पर आधारित करना भी इन दो संस्थाओं की विशेष परिस्थिति का परिणाम कहा जा सकता है। दोनों संस्थाओं के सामाजिक सरोकारों का असर तैयार की गई सामग्री तथा कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं में दिखाई पड़ता है।

अर्थात् विज्ञान शिक्षा में विज्ञान की आंतरिक व्यवस्था और उसकी विधियों से परिचय की बात तो फिजिक्स थू एक्सपेरिमेंट्स, प्रायोगिक पदार्थ विज्ञान के साथ आई थी मगर पाठ्यक्रम को बच्चों के परिवेश व पर्यावरण से और सामाजिक मुद्दों से जोड़ना होशंगाबाद आकर शामिल हुआ।

जुड़ना विशेषज्ञों का

जल्दी ही कार्यक्रम के विकास का एक और अहम मोड़ आया। फ्रेंड्स रुरल सेंटर में आई.आई.टी. कानपुर से एक कार्यकर्ता आया रशीद शेख जो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का पहला पूर्णकालिक कार्यकर्ता बना। उसका विचार था कि ऐसे कार्यक्रम के लिए एक स्रोत दल चाहिए और ऐसे बहुत से लोग हैं जो विज्ञान शिक्षा के अंतर्द्वन्द्वों से पीड़ित हैं। उसने बताया कि एन.सी.ई.आर.टी. की विज्ञान प्रतिभा खोज के ग्रीष्मकालीन शिविर में वह दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के डॉ. कृष्ण साने से मिला था और उनकी शिक्षण तकनीक से बहुत प्रभावित हुआ था। तब अनिल सद्गोपाल और रशीद शेख अगस्त-सितंबर 1972 में दिल्ली विश्वविद्यालय जाकर डॉ. साने से मिले।

अक्टूबर में डॉ. साने ने दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी व रसायन के अध्यापकों को इकट्ठा किया। यह समूह विज्ञान शिक्षण को लेकर पहले से चिंतित था। अर्थात् टी.आई.एफ.आर. की ही तरह यहां भी तैयारी पहले से थी। यहां यह जोड़ना मुनासिब होगा कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ शिक्षक इस बात से दुखी थे कि स्कूलों से जो बच्चे उनके पास पहुंचते हैं वे विज्ञान में बहुत कमज़ोर होते हैं। तो उन्हें भी स्कूली शिक्षा की चिंता सत्ता रही थी।

इन 15-20 लोगों के साथ दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र विभाग के एक कमरे में बैठक हुई और उन्होंने फौरन जुड़ने की इच्छा जाहिर की। यह भी एक संयोग था कि वहां मौजूद विजय शंकर वर्मा उस भौतिकी अध्ययन दल के आमंत्रित सदस्य थे जिसने फिजिक्स थू एक्सपेरिमेंट्स तैयार की थी। उन्हें बहुत खुशी हुई कि 1966-67 में शुरू हुआ वह काम अब होशंगाबाद पहुंच गया है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के दल दिसंबर 1972 व जनवरी 1973 में शिक्षकों की मासिक गोष्ठी में पहुंचे। इनके आने से माहौल ही बदल गया। इनके पास विज्ञान की बहुत अच्छी समझ थी, नए-नए तरीके थे। इन प्रयोगों से ये शिक्षकों की मासिक गोष्ठियों में जान डाल देते थे। शिक्षकों को जोश आया, कार्यक्रम के संचालकों को जोश आया और दिल्ली विश्वविद्यालय के लोगों को भी एक मंच मिला।

इस संवाद के परिणामस्वरूप दो प्रस्ताव विकसित हुए। दिल्ली विश्वविद्यालय व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को दिए गए इन प्रस्तावों में मूलतः विश्वविद्यालयीन शिक्षकों को स्कूली शिक्षा में सुधार के प्रयासों में भागीदारी के लिए अनुमति व समर्थन चाहा गया था। काफी जदोजहद के बाद यह अनुमति मिल गई और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे अपना समर्थन भी दे दिया। दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापकों और आगे चलकर छात्रों से यह जु़़ाव दूरगामी व निर्णायक साबित हुआ। इस तरह संभवतः पहली बार विश्वविद्यालय के शिक्षक स्कूली शिक्षा में प्रत्यक्ष रूप से शामिल हुए।

दिल्ली विश्वविद्यालय के ये शिक्षक मुख्यतः भौतिकी व रसायन के थे हालांकि जीव विज्ञान के कुछ शिक्षक भी थोड़े समय के लिए भागीदार रहे थे। इन लोगों ने नए अध्याय विकसित करने की ज़िम्मेदारी उठाई। इसी दौरान 1975 के आसपास म.प्र. के महाविद्यालयों के शिक्षकों का एक दल भी कार्यक्रम से जुड़ा। इस दल में ज़्यादा संख्या जीव विज्ञान के शिक्षकों की थी।

इस प्रकार से विशेषज्ञों, स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों का एक सशक्त दल बना जिसने मिल-जुलकर अध्याय विकसित करने से लेकर परीक्षा प्रणाली, शिक्षक प्रशिक्षण, किट, शिक्षकों के लिए सतत समर्थन तंत्र बगैरह हर पक्ष को आकार दिया। यह भी पहली बार था कि विश्वविद्यालय के शिक्षक और स्कूल के शिक्षक कंधे से कंधा मिलाकर स्कूली शिक्षा, खासकर विज्ञान शिक्षा की समस्याओं से जूँझ रहे थे, उनके समाधान खोज रहे थे, अध्याय विकसित कर रहे थे।

एक और बात कहना ज़रूरी है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की कहानी में ‘शिक्षा शास्त्रियों’ का अभाव रहा है। चाहे टी.आई.एफ.आर. के वैज्ञानिक हों, दिल्ली विश्वविद्यालय, आई.आई.टी., म.प्र. के महाविद्यालयों के लोग हों, विभिन्न शोध संस्थानों के लोग हों या स्कूलों के शिक्षक, ये सब वैज्ञानिक या विज्ञान शिक्षक थे, शिक्षा शास्त्री कोई न था। इनके अलावा थे किशोर भारती और फ्रेंड्स रुरल सेंटर के कार्यकर्ता, जो विविध पृष्ठभूमियों से आए थे। यदा-कदा क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, म.प्र. के शिक्षा महाविद्यालयों के शिक्षकों की भागीदारी को छोड़ दें, तो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में कभी भी औपचारिक शिक्षा शास्त्रियों की उल्लेखनीय उपस्थिति नहीं रही। इस तथ्य ने कार्यक्रम की बनावट पर ज़रूर असर डाला होगा।

पहला प्रशिक्षण

मई 1972 में हो.वि.शि.का. का पहला 21 दिवसीय उन्मुखीकरण शिविर शुरू हुआ। फ्रेंड्स रुरल सेंटर के एक सभा कक्ष में 40 शिक्षक और साथ में कार्यक्रम के नवगठित स्रोत दल के सदस्य। फिजिक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स के आधार पर भौतिकी के अध्याय तैयार थे। लेकिन जीव विज्ञान, रसायन वैग्रह का काम बाकी था। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च के आणविक जीव विज्ञान विभाग के कुछ शोध छात्रों ने लगभग डेढ़ महीने की कड़ी मेहनत से जीव विज्ञान के अनेक प्रयोग तैयार किए थे और उन्हें सलीके से लिखकर शिविर के लिए लाए थे। मगर जब ये प्रयोग करने की बारी आई तब तक इनके रचयिताओं का परिचय सरकारी स्कूलों के हालात, बच्चों के शैक्षणिक स्तर और सामाजिक मान्यताओं आदि से हो चला था। इसके आधार पर वे समझ गए कि उनके द्वारा तैयार कई गई कार्य पुस्तक स्थानीय परिवेश से मेल नहीं खाती। उन्होंने स्वीकार किया कि उनकी यह समझ गलत थी कि विज्ञान के प्रयोग परिवेश को समझे बिना किए जा सकते हैं। बताते हैं कि 1974 में दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्रियों ने तो उनके द्वारा तैयार कार्य पुस्तक को बहुत ही नाटकीय ढंग से आग के हवाले कर दिया था। पहले ही प्रशिक्षण से यह अहम सबक सामने आया कि अवधारणाएं व पद्धति पर्यावरण आधारित होना आवश्यक है।

इसी प्रशिक्षण में एक और बात सामने आई थी। शिविर में जो प्रयोग सामग्री उपयोग की गई थी वह वैसे तो काफी मामूली थी मगर फिर भी इसमें ब्यूरेट, पिपेट, राउंड बॉटम फ्लास्क, स्टैण्ड वैग्रह शामिल थे। यह भी साफ हुआ था कि इस तरह की सामग्री थोड़ा बेगामापन पैदा करती है। इस संदर्भ में तत्काल तो कुछ नहीं किया गया मगर यह एक सरोकार रहा जिसे लेकर 1975 में एक शिविर के दौरान विचार किया गया था। उसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। दरअसल हो.वि.शि.का. में किट सामग्री का विकास एक अनूठा आयाम है जिसकी चर्चा एक अलग अध्याय में की जाएगी।

लाल वैज्ञानिक

सितंबर 1972 में लाल वैज्ञानिक छपकर आ गई। यह किताब बम्बई कार्यक्रम के लिए तैयार की गई किताब (प्रायोगिक पदार्थ विज्ञान) और फिजिक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स के आधार पर तैयार की गई थी। फिजिक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स तो मात्र भौतिकी की किताब थी। वैसे बम्बई में कार्यक्रम चलने के दौरान टी.आई.एफ.आर. समूह ने जीव विज्ञान और रसायन के अध्याय भी विकसित किए थे मगर होशंगाबाद के लिए सोचा गया कि ये अध्याय नए सिरे से तैयार किए जाएंगे। तो लाल वैज्ञानिक मूलतः फिजिक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स का अनुवाद थी और जीव विज्ञान के कुछ अध्याय टी.आई.एफ.आर. समूह द्वारा जोड़े गए थे। दिलचस्प बात है कि इसमें रसायन शास्त्र से सम्बंधित अध्याय नहीं थे।

बताते हैं कि 1974 में दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्रियों ने तो उनके द्वारा तैयार कार्य पुस्तक को बहुत ही नाटकीय ढंग से आग के हवाले कर दिया था।



द्वितीय प्रारूप मई 07

दरअसल रसायन शास्त्र हो.वि.शि.का. की दुखती रग रहा है। आगे इसके बारे में और चर्चा करेंगे।

लाल वैज्ञानिक की सबसे प्रमुख विशेषता इसका मित्रवत रवैया और शैली थी। पुस्तक बच्चों को न्यौता देती है विज्ञान सीखने का, कुछ खोजने का और आनंद लेने का। यह बात पुस्तक की भूमिका ‘आओ, प्रयोग करें’ से स्पष्ट हो जाती है:

“इन पुस्तकों में स्वतः प्रयोग करके विषय को अच्छी तरह समझने का तरीका बताया गया है। नई बातों को ‘रटने’ या ‘जानने’ के स्थान पर यदि नए प्रयोगों को ‘करने’ में तुम्हें अधिक मज़ा आता है तो तुम्हारे लिए विज्ञान सीखना बहुत सरल हो जाएगा। हमें आशा है कि इस प्रयोग पुस्तक में सुझाई गई विधि से काम करने में तुम्हें उतना ही आनंद और संतोष मिलेगा जितना वैज्ञानिकों को मिलता है।”

यानी तीन बातें स्पष्ट थीं। पहली कि बाल वैज्ञानिक में जानकारी नहीं परोसी जाएगी और दूसरी कि सीखने की प्रक्रिया में बच्चों को मज़ा आना चाहिए। ये दोनों ही बातें शिक्षा की उस रूढ़ अवधारणा से उलट थीं और हैं जिसमें शिक्षा का प्रमुख मकसद जानकारी रटना माना जाता है और इसमें मज़े वगैरह जैसी चीज़ों के लिए कोई स्थान नहीं होता। तीसरी बात थी कि बच्चों को वैज्ञानिक खोज का अनुभव मिले।

लाल वैज्ञानिक के भौतिकी के अध्याय मूलतः तीन बातों पर केंद्रित थे। पहली थी समूहीकरण, दूसरी मापन और तीसरी पारस्परिक क्रिया (interactions) का अध्ययन। ये विज्ञान समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। जीव विज्ञान के अध्यायों के बारे में कहा जा सकता है कि संभवतः खोज पद्धति के ताने-बाने में यही अध्याय उस समय तैयार हो सके होंगे। फिर भी देखा जाए तो ये अध्याय जीव विज्ञान की कुछ बुनियादी अवधारणाओं से सम्बंधित थे: सजीवों के गुणधर्मों को समझना (पोषण, श्वसन, वृद्धि-विकास, संवेदनशीलता) और अंततः इन गुणधर्मों के आधार पर सजीवों को निर्जीवों से अलग कर पाना। और जीवजगत में विविधता को खास स्थान दिया गया था और यह आधुनिक जीव विज्ञान की एक प्रमुख अवधारणा है।

मगर ये अध्याय बच्चों के पर्यावरण से जुड़े नहीं थे। खासकर भौतिकी के अध्याय काफी ‘प्रयोगशालाटाइप’ कहे जा सकते हैं। जीव विज्ञान के अध्यायों में भी पर्यावरण को आधार नहीं बनाया गया था।

लाल वैज्ञानिक के अध्याय काफी कुछ मानकर चलते हैं। जैसे यह मानकर चला जाता है कि बच्चों में गणित के हुनर काफी विकसित है। इसी प्रकार से वृद्धि के अध्याय में मानकर चला गया है कि बच्चे ग्राफ बनाना जानते ही हैं। इस प्रकार की कई चीज़ें लाल वैज्ञानिक में नज़र आती हैं। इन मान्यताओं को आगे चलकर गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा था।

लाल वैज्ञानिक में भौतिकी के 12 अध्याय और जीव विज्ञान के 8 अध्याय थे। ये सारे अध्याय प्रयोगों और खोज पद्धति पर आधारित थे। ये अध्याय थे:	
1. वस्तुएं और समूह	2. दूरी और उसका मापन
3. घट-बढ़ और सञ्चिकटन	4. सतह और क्षेत्रफल
5. स्थान और सापेक्ष स्थिति	6. आयतन और धारिता
(Relative Position and Location)	
7. निकाय और पारस्परिक क्रिया	8. समय और पुनरावर्ती निकाय
(System and Interaction)	
9. बल और भार	10. भार और तुला
11. विद्युत प्रवाह और उसका परिपथ	12. चुम्बक और पारस्परिक क्रिया
13. जीव-जगत में विविधता	14. वृद्धि
15. विकास	16. भोजन और पाचन क्रिया
17. श्वसन और शक्ति	18. सूर्य का प्रकाश और भोजन की उत्पत्ति
19. संवेदनशीलता और प्रतिक्रिया	20. सजीव और निर्जीव

काड़स

इस समय एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया। यह निर्णय कार्यक्रम की प्रायोगिक प्रकृति का नतीजा कहा जा सकता है। पहले प्रशिक्षण से यह तो स्पष्ट था कि जो भी अध्याय विकसित किए गए हैं या आगे विकसित किए जाएंगे उनमें स्कूली अनुभव व फीडबैक के आधार पर सतत फेरबदल व संशोधन आवश्यक होगा। इसलिए तय किया गया कि फिलहाल इस कार्यक्रम हेतु किताब छापी ही न जाए। किताब ऐसा भाव पैदा करती है जैसे कोई ‘पत्थर की लकीर’ हो, अंतिम स्वरूप हो। इसलिए लाल वैज्ञानिक के अनुभव के आधार पर हरेक अध्याय के काड़स तैयार किए गए और शिक्षकों को यह स्पष्ट कर दिया गया कि ये प्रायोगिक व आजमाइशी अध्याय हैं, स्कूली अनुभव के आधार पर इनमें व्यापक संशोधन किए जाएंगे। हरेक अध्याय एक-एक करके छापा जाता था और इसी रूप में शिक्षकों व छात्रों को दिया जाता था। चूंकि ये अध्याय एक जिल्द में नहीं थे इसलिए सुरक्षा की दृष्टि से इन्हें मोटे कागज पर छापा जाता था। इन्हें काड़स कहते थे।

काड़स का एक फायदा यह भी था कि यदि किसी एक अध्याय में परिवर्तन करना हुआ तो बस उसे फिर से छापकर उपलब्ध कराना होता था। यदि किसी अध्याय को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में स्थानांतरित करना है तो भी सरलता से किया जा सकता था। इससे सतत संशोधन की प्रक्रिया भी आसान हो गई।

1972 से 1975 के बीच कई अध्याय तैयार किए गए, स्कूलों में आजमाए गए, शिक्षकों के साथ करके देखे गए और धीरे-धीरे हो.वि.शि.का. के लिए अध्यायों का एक सेट बनता गया। इसी दौरान धीरे-धीरे अध्यायों की बनावट तथा पाठ्यक्रम के विभिन्न आयाम भी परिभाषित होते गए। लिहाज़ा 1972-75 की इस अवधि की कुछ प्रक्रियाओं पर ध्यान देना लाज़मी है।

यह तो स्पष्ट था कि इस बारे में कोई पूर्व निर्णय नहीं था कि कौन-से अध्याय शामिल किए जा सकते हैं और कौन-से नहीं। इसलिए इस दौरान कई विविध विषयों पर अध्याय तैयार करने की प्रक्रिया चली। इनमें से कई अध्याय अंततः बाल वैज्ञानिक के हिस्से बने मगर कई अध्याय बीच में ही छूट गए। इस बात की काफी छूट थी कि आप किसी भी विषय पर अध्याय तैयार करने की कोशिश कर सकते थे।

प्रक्रिया यह होती थी कि किसी स्रोत व्यक्ति को यह ज़िम्मेदारी सौंपी जाती थी कि किसी विषय पर अध्याय तैयार करे। सबसे पहले तो स्रोत दल के विभिन्न सदस्य इस पर विचार करते थे। इस चरण में मुख्यतः किसी भी अध्याय के वैज्ञानिक पक्ष पर तथा प्रयोगों की प्रकृति पर, तार्किक क्रम वगैरह पर ध्यान दिया जाता था। इस विचार विमर्श के उपरांत अध्याय के प्रथम प्रारूप को अंतिम रूप दिया जाता।

जब अध्यायों के पहले मसौदे तैयार हो जाते थे तब शिक्षकों के उन्मुखीकरण शिविर में इनकी आजमाइश होती थी। प्रतिदिन शिक्षकों की टोलियों को एक-एक अध्याय दिया जाता था और वे उसे ठीक उसी तरह करने का प्रयास करते जैसा कि वह लिखा गया है। अध्याय को करने के बाद प्रत्येक टोली उसके सारे पहलुओं पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती। इस प्रतिवेदन में प्रयोगों को करने में दिक्कतों, भाषा को लेकर दिक्कतों, अवधारणा की अस्पष्टता वगैरह पर टिप्पणी की जाती थी। इसके बाद शिक्षक व स्रोत व्यक्ति सामूहिक रूप से बैठकर इन प्रतिवेदनों पर विचार करते। प्रत्येक बिंदु पर विस्तार में चर्चा होती थी। कई बिंदु ऐसे होते थे जिन पर मात्र विचार करके मामला सुलझ नहीं पाता था। ऐसे मामलों में गहन विचार-विमर्श के लिए ‘आयोग’ का ठंडन होता था। यह आयोग उस मुद्दे पर विस्तार से काम करके अपनी रिपोर्ट देता था। इसके अलावा कुछ अवधारणात्मक मुद्दों के लिए अलग से समय रखा जाता था ताकि अध्याय के ढांचे और सम्बन्धित मुद्दे पर ज्यादा गहराई से विचार हो सके। इन सारी प्रतिक्रियाओं के आधार पर सम्बन्धित व्यक्ति तत्काल (यानी उसी शिविर में) उस अध्याय में संशोधन करता/करती थी और उसे फिर से परखा जाता था। एक तरह से देखा जाए तो विश्वविद्यालय के शिक्षकों, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं से सम्बद्ध वैज्ञानिकों, स्कूली शिक्षकों द्वारा साथ मिलकर पाठ्य पुस्तक तैयार करने का यह

अनूठा उदाहरण है।

इसके बाद इन अध्यायों के चित्र बनाने, भाषा सुधार करने, ले-आउट करने और मुद्रण की प्रक्रिया शुरू होती थी और अंततः अध्याय शिक्षकों को कक्षा में अध्यापन के लिए दिए जाते थे। ऐसा नहीं था कि पूरे वर्ष के सारे अध्याय एक साथ साल के शुरू में ही बंट गए। साल भर अध्याय तैयार करना और स्कूलों को देना चलता रहता था।

स्कूलों में बाल वैज्ञानिक के अध्यापन के समय स्रोत दल के सदस्य मौजूद रहते थे और हर अध्याय, हर प्रयोग, हर प्रश्न को लेकर विस्तृत फीडबैक हासिल होता था। यह फीडबैक कार्यक्रम व सामग्री के विकास में बहुत मददगार रहा। वैसे लगता तो यह है कि ऐसा अधिकांश फीडबैक मौखिक स्तर पर ही रहता था क्योंकि इसके कोई व्यवस्थित रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं हैं।

इसके अलावा उस समय बच्चों के साथ कई सर्वेक्षण-अध्ययन भी किए गए थे। इसी प्रकार का एक अध्ययन बच्चों में दशमलव संख्याओं की समझ को लेकर किया गया था, जिसके निराशाजनक परिणामों के मद्दे नज़र बच्चों में स्थानीय मान व दशमलव की समझ की पुष्टि के लिए ‘गणक के खेल’ नामक अध्याय विकसित किया गया।

इस तरह धीरे-धीरे एक-एक करके अध्याय विकसित होते गए। स्कूलों में स्थिति यह होती थी कि शिक्षकों को बताया जाता था कि लाल वैज्ञानिक में से कौन-कौन-से अध्याय का उपयोग किया जाना है और कार्डर्स के रूप में कौन-से अध्याय मिलेंगे। जब कार्यक्रम तीनों कक्षाओं में फैल गया तो लाल वैज्ञानिक के सारे अध्याय एक ही कक्षा में नहीं होते थे। इन्हें तीनों कक्षाओं में बांटा गया था। तो तीनों कक्षाओं में कुछ अध्याय लाल वैज्ञानिक से और कुछ अध्याय कार्डर्स से होते थे। ये निर्णय हर साल किए जाते थे क्योंकि समूह यह आज़माकर सीख रहा था कि किस कक्षा में कौन-सी अवधारणाएं उचित होंगी। यह भी सीखने की बात थी कि किस कक्षा में क्या मानकर चला जा सकता है। यह भी देखने की बात थी कि यदि कोई अध्याय करवाना है जिसके लिए पूर्व तैयारी के रूप में कुछ हुनर या अवधारणात्मक समझ की ज़रूरत है तो क्या वह पहले से मौजूद है या उसके लिए अलग से अध्याय विकसित करने की ज़रूरत होगी। इन सब प्रयोगों को करते-करते धीरे-धीरे पाठ्यक्रम और विषयवस्तु सम्बन्धी मुद्दों पर स्पष्टता हासिल हो रही थी, कुछ सामान्य सिद्धांत उभरते जा रहे थे और समझ परिष्कृत होती जा रही थी। अगले अध्याय में हम इन्हीं की बात करेंगे।

बाल वैज्ञानिक अध्याय का विकास

(ऐजाज़ मसीह की पुस्तक 'न्यू ट्रेंड्स इन साइंस करिक्यूलम', 1998 के आधार पर)

ग्रामीण बच्चों के लिए प्रासंगिकता और विषय की ज़रूरत के आधार पर टॉपिक्स का चुनाव



विशेषज्ञों के एक दल के द्वारा अध्याय का प्रारूप बनाया जाता है



स्रोत व्यक्तियों द्वारा समीक्षा के बाद संशोधन



संशोधित प्रारूप शिक्षकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है



शिक्षक प्रयोगों की व्यावहारिकता परखते हैं



अध्याय की भाषा, विषय वस्तु, प्रयोगों वगैरह पर शिक्षकों की टिप्पणियों के आधार पर पुनः संशोधन



पुनर्लिखित अध्याय बच्चों के साथ आजमाए जाते हैं



फीडबैक के आधार पर फिर से संशोधन



अंततः अध्याय प्रकाशित किया जाता है



सतत अनुवर्तन और फीडबैक के आधार पर सतत सुधार

पाठ्यक्रम और विषयवस्तु की समझ

इस अध्याय में हम बात करेंगे कि हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम व विषयवस्तु किन सिद्धांतों पर आधारित रहे हैं। मगर यह समझना गलत होगा कि ये सारे सिद्धांत पहले दिन से पता थे - जैसे-जैसे स्कूलों में काम आगे बढ़ा, वैसे-वैसे समझ बढ़ी और समझ ने सिद्धांतों का रूप लिया। चूंकि समझ व सिद्धांतों का सम्बंध काम व व्यवहार से है, इसलिए स्पष्ट है कि यह समझ निरंतर परिवर्तनशील और विकासोन्मुख है। इसी वजह से होशंगाबाद विज्ञान को शिक्षण के किसी 'वाद' के दायरे में रखकर देखना अनुचित होगा।

हो.वि.शि.का. समूह शुरू से इस बात को लेकर काफी सजग रहा कि 'जानकारी का विस्फोट' पाठ्यक्रम का आधार नहीं होगा। यदि 'जानकारी के विस्फोट' के नाम पर अपने कार्यक्रम को बढ़ाते ही जाएं, तो एक ऐसा समय आएगा जब सारी बातें डालना असंभव हो जाएगा और वैसे भी पाठ्यक्रम में चाहे आज उपलब्ध सारी जानकारी ठूंस दें, तो भी आज से दस साल बाद जब ये बच्चे जानकारी का इस्तेमाल करना चाहेंगे तो पाएंगे कि उनकी जानकारी दस साल पुरानी है। इसलिए खुद सीखने की बात पर काफी जोर दिया गया है। चूंकि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें बच्चे भी शामिल हैं, इसलिए शुरू से ही स्पष्ट था कि इसमें समय लगेगा।

1972 से लेकर 1977 के बीच जो सघन प्रक्रिया चली उसमें से हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम और विषयवस्तु से सम्बंधित लगभग सारे प्रमुख सिद्धांत उभरे थे। इसी समझ को किशोर भारती में 3-8 अक्टूबर, 1983 के दरम्यान आयोजित एक बैठक में प्रस्तुत किया गया था।

इस बैठक में प्रस्तुत विवरण और अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी के मुताबिक हो.वि.शि.का. के पाठ्यक्रम व उसके विकास के निम्नलिखित प्रमुख मुद्दे हैं:

1. यह पाठ्यक्रम गतिविधि आधारित है, जिसमें बच्चे खुद प्रयोग करते हैं। ख्याल यह था कि माध्यमिक स्कूलों में विज्ञान शिक्षण में प्रयोग एक बुनियादी गतिविधि होनी चाहिए। इसके बगैर काम न चले। यह स्पष्ट था कि केवल शिक्षक द्वारा प्रयोग करके दिखा देने भर से काम नहीं चलेगा।

१ बच्चे टोलियों में प्रयोग करें, प्रयोग करके उस पर सवाल हों, उस पर चर्चा हो, इस चर्चा से विज्ञान के सिद्धांत निकलें।

२ प्रयोग इस तरह से क्रमबद्ध हों कि बच्चे धीरे-धीरे वैज्ञानिक सिद्धांतों की ओर बढ़ें। हर गतिविधि बच्चों की समझ के स्तर को ध्यान में रखकर की जाए।

३ यदि किसी अवधारणा को विकसित करना है तो अवलोकन बार-बार दोहराए जाने चाहिए। यह नहीं कि आपने एक बार प्रयोग कर दिया और बच्चे तराजू के सिद्धांत सीख गए। बार-बार अलग-अलग तरह के प्रयोग करवाने पड़ेंगे जिनसे वे कदम-कदम आगे बढ़ें।

४ प्रयोगों से जुड़ा एक मुद्दा यह था कि इन प्रयोगों के निष्कर्ष पुस्तक में न दिए जाएं ताकि बच्चों को खोज का आनंद मिले।

५ एक कोशिश यह भी रही है कि बच्चे कुछ प्रयोग डिज़ाइन करने की कुशलता भी हासिल करें।

६ प्रयोगों का एक पहलू यह भी है कि बच्चे प्रयोग में तुलना के प्रावधान (controls) के बारे में भी कुछ सीखें ताकि अगर प्रयोग में दो-तीन अलग-अलग कारक हैं तो तुलनात्मक प्रयोग करके कह सकें कि कौन-से कारक के कारण क्रिया हो रही है।

दरअसल हो.वि.शि.का. और उसके पूर्ववर्ती कार्यक्रमों में प्रमुख सरोकार यह था कि विज्ञान शिक्षण का आधार प्रयोग व गतिविधियां होने चाहिए और बच्चों को वैज्ञानिक सिद्धांतों, नियमों वैराग्य की खोज में शरीक होना चाहिए। विज्ञान को प्रयोगों द्वारा पढ़ाने का यह निर्णय धीरे-धीरे एक मार्गदर्शक सिद्धांत बना।

इसका आशय यह हो गया कि हो.वि.शि.का. में ऐसी कोई चीज़ नहीं पढ़ाई जाएगी जिसे प्रयोगों के माध्यम से नहीं पढ़ाया जा सकता। इसी मार्गदर्शक सिद्धांत का नतीजा था कि परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्र नहीं शामिल करने का निर्णय लिया गया।

उपरोक्त बात के पीछे यह समझ कभी नहीं रही कि विज्ञान केवल प्रयोग करके ही सीखा जा सकता है। मान्यता केवल इतनी ही थी कि कक्षा आठ तक विज्ञान के शिक्षण में अपेक्षाकृत ज्यादा ध्यान वैज्ञानिक कौशल और दृष्टिकोण के विकास पर होना चाहिए जिसके लिए प्रयोगों को आधार बनाना ज़रूरी है। आगे की कक्षाओं और आम जीवन में विद्यार्थियों को बहुत सी ऐसी जानकारी स्वीकारने और समझने की ज़रूरत होगी जिन पर अन्य वैज्ञानिक वर्षों से शोधकार्य करते आ रहे हैं या कर चुके हैं। इस कार्यक्रम में प्रयास यह था कि विद्यार्थियों में ऐसे गुण विकसित कर दिए जाएं जो ऐसी जानकारी को विवेकपूर्ण तरीके से प्राप्त करने और सही व गलत तथ्यों को पहचानने में सहायक हों।

2. एक सिद्धांत यह रहा कि पाठ्यक्रम बच्चों के पर्यावरण से सम्बंधित होना चाहिए। जीव विज्ञान में ऐसा करना आसान है। जीव विज्ञान से सम्बंधित अध्यायों में आसपास के पेड़-पौधों या जानवरों पर ही प्रयोग करने की कोशिश रही। यह कुछ हद तक भौतिकी और रसायन के अध्यायों में भी किया गया है। कोशिश हमेशा यही रही कि बच्चों की ज़िन्दगी में भौतिकी के कुछ सिद्धांत या उपकरण या कोई मशीनरी हो तो उसकी चर्चा ज़रूर हो और उसी से अध्याय शुरू करें जिससे उन्हें लगे कि हमारे आसपास की चीज़ों के बारे में कुछ सीख रहे हैं।

पर्यावरण को किसी भी पाठ्यक्रम का आधार बनाना या हम जो भी सीखते हैं उसे पर्यावरण पर लागू कर देना, ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं। जैसे आयतन का अध्याय विकसित करते हुए लगा कि लोगों और बच्चों की आयतन को लेकर पूर्व धारणाएं हैं और उन्होंने आयतन को अलग-अलग ढंग से समझा है। होशंगाबाद के आसपास के क्षेत्र में पाई (अनाज नापने का एक बर्तन) का प्रचलन है। लोग जानते हैं कि इससे अलग-अलग अनाज का वज़न अलग-अलग मिलता है। ये सारा मज़ादूरी के लेन-देन से जुड़ा है। इस उदाहरण को आयतन के अध्याय में शामिल किया गया है। यदि कहीं लोगों व बच्चों की अवधारणाओं और वैज्ञानिक अवधारणाओं में कुछ अंतर्विरोध दिखा तो उसे भी उभारने की कोशिश की गई है।

दूसरी बात है कि जो कुछ सीखा जाए उसे पर्यावरण पर लागू करने की कोशिश की जाए। जंतुओं का जीवन चक्र अध्याय इसका अच्छा उदाहरण है। बच्चों की बहुत सी गलत धारणाएं हैं, जैसे मक्खी अपने-आप गोबर में से निकल आती है। इसके लिए प्रयोग विकसित किया गया, जिससे साफ हो जाता है कि जिस गोबर में अप्छे नहीं थे उसमें मक्खी पैदा नहीं होती। इसके बाद प्रश्नों के माध्यम से प्रचलित अंधविश्वासों पर सवाल उठाए गए हैं।

स्कूली शिक्षण को पर्यावरण से जोड़ने के लिए परिभ्रमण को पाठ्यक्रम का अंग बनाया गया है। इनमें कोशिश है कि बच्चे स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकलें, चीज़ें इकट्ठी करें, आसपास जो चीज़ें हैं, पौधे हैं, उनकी जानकारी इकट्ठी करें। एक कोशिश यह भी रही कि बच्चे पाठ्य पुस्तक और शिक्षक को ही सारे ज्ञान का स्रोत न समझें। इसलिए जहां संभव हुआ, उनसे अपेक्षा की गई है कि वे अन्य स्रोतों से भी जानकारी प्राप्त करें। किसानों, ग्राम सेवकों, स्थानीय पशु चिकित्सक, कारीगरों वगैरह से जानकारी प्राप्त करने को काफी अहमियत दी गई है।

इसके अलावा कई जगहों पर सर्वेक्षण को भी जानकारी प्राप्त करने के एक तरीके के रूप में शामिल किया गया है।

3. एक प्रमुख सरोकार यह रहा है कि कार्यक्रम बोझिल न लगे। बच्चे खुशी से प्रयोग करें, प्रयोग उनको रुचिकर लगें, प्रयोग करने में आनंद आए। क्लास में ही नहीं, क्लास के बाहर घर पर भी प्रयोग करें, और सिर्फ़ प्रयोग न हों, उन पर आपस में चर्चा करें, शिक्षक से चर्चा करें और इससे जो सिद्धांत निकलते हैं उनकी ओर वे बढ़ें।

4. सबसे ज़रूरी बात है किसी भी विषयवस्तु या अध्याय के उद्देश्य क्या हैं। जैसे फूलों का अध्याय है - आम तौर पर जो फूलों का अध्याय होता है उसका उद्देश्य यह होता है कि बच्चे फूलों के अंगों के नाम सीख जाएं, उनके अंतर्सम्बंध और रूपांतरण वगैरह की जो सामान्य जानकारी है वह बच्चों तक पहुंच जाए। बाल वैज्ञानिक के इस अध्याय का उद्देश्य केवल यह नहीं है कि खूब सारे फूलों के अंग और उनके रूपांतरण की जानकारी उन तक पहुंचे हालांकि बच्चे बहुत सारे फूलों का अध्ययन करते हैं। हमने उद्देश्य रखा है कि जो भी फूल मिले उसकी रचना खुद समझना और दूसरों को समझाना शुरू कर दें। मकसद यह है कि वे खोजबीन की प्रक्रिया को पकड़ लें। कहने का मतलब यह है कि जब पुस्तक के अध्याय स्कूलों में खत्म हों तब भी उनकी खोज स्कूल के बाहर जारी रहे।

5. एक और कोशिश थी कि विज्ञान की पद्धति भी बच्चे सीखें। वैज्ञानिक पद्धति के तत्वों - प्रयोग करना, प्रयोग के निष्कर्षों पर चर्चा करना, इसके आधार पर सिद्धांत विकसित करना व सिद्धांत को परखने के लिए प्रयोग विकसित करना - से भी परिचित हों। वैसे विज्ञान की पद्धति की इस समझ पर आगे चलकर कई सवाल उठे और इसमें कई और आयाम जुड़े। इसकी चर्चा हम 'बदलती बाल वैज्ञानिक' अध्याय में करेंगे।

इसके बाद कुछ ज्यादा ठोस चीज़ें हैं जिन पर पाठ्यक्रम में काफी ज़ोर दिया गया है।

सबसे पहले तो नापने की क्रिया सिखाने को काफी महत्व दिया गया है। पाठ्यक्रम में यह सिखाने का प्रयास है कि आंकड़े क्या होते हैं, कैसे इकट्ठे किए जाते हैं और आंकड़ों को व्यवस्थित करके कैसे प्रस्तुत करते हैं। स्तम्भालेख, ग्राफ आदि बनाकर आंकड़ों का विश्लेषण कैसे करते हैं। आंकड़ों के आधार पर कौन-से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

मापन में इस बात पर काफी ज़ोर दिया गया है कि मापन की किसी भी क्रिया में कुछ घट-बढ़ होती है और यह घट-बढ़ कभी शून्य नहीं की जा सकती। प्रयोगों को बेहतर करके ज्यादा शुद्ध परिणाम निकाला जा सकता है मगर विज्ञान में यह कभी नहीं कह सकते कि अमुक परिणाम एकदम सही है।

समूहीकरण की प्रक्रिया व उसके उपयोग पर काफी ज़ोर दिया गया है। विज्ञान सीखने, नियम आदि विकसित करने, पैटर्न देखने और आगे अध्ययन के लिए प्रश्नों का चुनाव करने व परिकल्पना विकसित करने में समूहीकरण का महत्व बताने की ज़रूरत नहीं है। समूहीकरण बाल वैज्ञानिक भर में पसरा मिलेगा।

एक और चीज़ जिस पर ज़ोर दिया है वह है हाथों के कौशल का विकास। बच्चे खुद प्रयोग सामग्री बनाएं, अन्य चीज़ें बनाएं, इसका काफी अभ्यास करवाया जाता है।

पाठ्यक्रम का एक अहम हिस्सा यह है कि बच्चे अपने शब्दों में अपने अनुभवों को व्यक्त करें। हमेशा ज़ोर दिया जाता है कि प्रयोग करने के बाद प्रश्नों के उत्तर बच्चे खुद अपने शब्दों में लिखें। कभी यह कोशिश नहीं हुई कि प्रयोग हो जाएं, चर्चा हो जाए और फिर शिक्षक खड़ा होकर कह दे कि बच्चों आज हमने यह सीखा। यह तो स्पष्ट ही था कि बच्चों के लिखने में बहुत स्पष्टता नहीं होगी, ज़रूर खामी होगी पर फिर भी उन्हें कुछ लिखवा देने से उतना फायदा नहीं है जितना कि खुद अपने टूटे-फूटे शब्दों में लिखें जो उन्होंने देखा, जो सीखा। यदि चित्र बनाकर दिखाएं तो उनकी समझ और भी ज्यादा विकसित होती है।

प्रयोग व गतिविधि आधारित पाठ्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग किट होता है। यह इसलिए ज़रूरी है कि दिए गए प्रयोगों को करने के लिए आवश्यक सामग्री यदि स्थानीय क्षेत्र में उपलब्ध न हो तो उसे किट के माध्यम से पहुंचाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

पाठ्यक्रमः एक अलग नज़र से

पाठ्यक्रम का एक और कथन हमें एक अलग संदर्भ में भी मिलता है। हो.वि.शि.का. में परीक्षा की दृष्टि से विज्ञान की कुछ प्रक्रियाओं व अवधारणाओं को मूल अवधारणाएं माना गया था। कभी-कभी ऐसा लगता है कि विषयवस्तु का चयन व विकास इस तरह किया गया है कि बच्चों को इन चीज़ों का अधिक से अधिक अभ्यास कराया जाए। एक मायने में कहा जा सकता है कि ये चीज़ें मिलकर ही हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम बनता है क्योंकि वर्ष के अंत में होने वाली परीक्षा में इन चीज़ों की जांच खास तौर से की जाती थी। ये मूल अवधारणाएं निम्नलिखित थीं:

वैज्ञानिक कौशल

- ▶ बारीक और सही अवलोकन करना
- ▶ सर्वेक्षण और संकलन करना
- ▶ आंकड़ों को व्यवस्थित करके प्रस्तुत करना - तालिका, स्तम्भालेख, ग्राफ व रेखाचित्र बनाना।
- ▶ आंकड़ों का विश्लेषण
- ▶ अलग-अलग प्रयोगों में सम्बंध पहचानना
- ▶ तार्किक विवेचन द्वारा निष्कर्ष निकालना
- ▶ विवेचन के तार्किक क्रम में स्पष्ट, सटीक व नए प्रश्न पूछना
- ▶ सामान्यीकरण एवं अमूर्त चिन्तन
- ▶ प्रायोगिक कुशलता
- ▶ मापन, मापन में घटबढ़ की संभावना की समझ
- ▶ नक्शा बनाना
- ▶ स्थानीय स्रोतों से उपकरण बनाना

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

- ▶ जिज्ञासा
- ▶ पर्यावरण के प्रति सजगता व उससे सीखने की निरन्तर प्रवृत्ति
- ▶ खोज की प्रवृत्ति
- ▶ प्रयोग में तुलना के प्रावधान के महत्व की समझ
- ▶ तथ्यों या जानकारी को स्वीकार करने से पहले उनकी प्रामाणिकता की मांग करना
- ▶ एक प्रश्न के एक से अधिक उत्तरों की संभावना को स्वीकारने की तैयारी
- ▶ मतभेद, आलोचना और प्रश्नों के प्रति सकारात्मक रुख

अवधारणाएं

- ▶ समूह और उपसमूह
- ▶ वर्गीकरण
- ▶ निर्देशांक
- ▶ क्षेत्रफल, आयतन व भार
- ▶ पृथक्करण
- ▶ अम्ल, क्षार, लवण एवं उदासीनीकरण
- ▶ विभिन्न पदार्थों को रासायनिक परीक्षण द्वारा पहचानना
- ▶ जीव-जगत में विविधता के महत्व को समझते हुए जीव विज्ञान के सिद्धांतों को विकसित करना।
- ▶ संयोग और संभाविता

विषयवस्तु चयन के आधार

विषयवस्तु के चयन में सर्वोपरि मार्गदर्शक सिद्धांत यह रहा कि उन्हीं वैज्ञानिक अवधारणाओं को शामिल किया जाएगा जिन्हें प्रयोगों या गतिविधियों के माध्यम से पढ़ाया जा सके या वे बच्चे के प्रत्यक्ष अनुभव अथवा अवलोकन के दायरे में आती हों। यदि किसी अवधारणा के लिए समुचित गतिविधियां उपलब्ध नहीं हैं, तो वह नहीं पढ़ाई जाएगी। समुचित गतिविधि से तात्पर्य ऐसी गतिविधियों और प्रयोगों से है जिन्हें ग्रामीण मिडिल स्कूल में किया जा सके।

एक सिद्धांत यह भी रहा कि विषयवस्तु का सम्बंध बच्चे के पर्यावरण से होना चाहिए।

विज्ञान की सामान्य प्रक्रियाओं (जैसे समूहीकरण) को प्राथमिकता दी गई।

कुछ हद तक उस समय प्रचलित सरकारी पाठ्यक्रम का भी ध्यान रखा गया था, खासकर जीव विज्ञान में। दिसंबर 1990 में एकलव्य के एक स्रोत व्यक्ति अरविंद गुप्ते द्वारा लिखी गई एक टीप से लगता है कि 1978 में कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार के समय जीव विज्ञान की विषयवस्तु के चयन का एक प्रमुख आधार यह था कि उसका सिलेबस मोटे तौर पर अन्य मिडिल स्कूलों के लिए निर्धारित विज्ञान सिलेबस के अनुसार होना चाहिए। लिहाज़ा, जंतुओं व पादपों की संरचना व कार्य से सम्बंधित अधिकांश अध्याय आपो-आप शामिल हो गए। फिर भी, पारंपरिक सिलेबस में शामिल कुछ विषय जानबूझकर छोड़ दिए गए थे। इनमें कोशिका की संरचना, कोशिका विभाजन और जंतुओं और पादपों का रूढ़िगत वर्गीकरण के उदाहरण दिए जा सकते हैं। कोशिका इतनी सूक्ष्म इकाई होती है कि मिडिल स्कूल के बच्चे उसे भलीभांति समझ नहीं सकते। कोशिका विभाजन तो और भी अमूर्त चीज़ है और इस विषय का कोई भी विवरणात्मक अध्याय बच्चों को भ्रमित ही करेगा।

इसके अलावा कुछ ऐसे विषय बाल वैज्ञानिक में शामिल किए गए थे जो पारंपरिक विषयवस्तु के अंग नहीं थे। जैसे जीवजगत में विविधता, जो आधुनिक जीव विज्ञान की एक मूल अवधारणा है। भगव प्रयोगों व प्रत्यक्ष अवलोकन की कसौटी के चलते कई ऐसी चीज़ें छोड़ी गई थीं जो सरकारी पाठ्यक्रम में शामिल थीं। इनमें परमाणु संरचना, रासायनिक संकेत, सूत्र, समीकरण, जीव विज्ञान का मानक वर्गीकरण वगैरह प्रमुख थीं।

वैसे परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रों को छोड़ने का एक कारण यह समझ भी थी कि इस उम्र (10-13 वर्ष) में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी नहीं होती कि वह परमाणु संरचना समझ सके। इसी से सम्बंधित दूसरी बात यह थी कि यदि परमाणु संरचना सिखानी है, तो ऐसे प्रयोग करके दिखाना ज़रूरी है जिनसे बच्चे विश्वास करें कि स्थूल चीज़ें वास्तव में छोटे-छोटे परमाणुओं से मिलकर बनी हैं। ऐसे प्रयोग उपलब्ध तो ज़रूर हैं जो उन्हें बता सकते हैं कि परमाणु संरचना का ठोस आधार है भगव एक तो इन प्रयोगों को समझने में काफी बोह्लिक विकास की ज़रूरत होती है और दूसरे, इन प्रयोगों के लिए उपकरण बहुत महंगे हैं। यह कदापि स्वीकार्य नहीं था कि शिक्षक उनको किसी प्रकार बता दे कि मॉडल के आधार पर परमाणु संरचना का सबूत मिलता है।

इसी प्रकार से जीव विज्ञान में वर्गीकरण का एक आधार है भगव यह आधार बहुत अमूर्त है, जैव विकास से उसकी एक कड़ी है। इसलिए विकास की बात किए बिना यदि आप सजीवों के वर्गीकरण पर ज़ोर दें तो यह केवल रटने वाली बात रह जाएगी। प्रारंभिक अवस्था में इसे बच्चों पर थोपना अनावश्यक है। भ.प्र. के बच्चों ने शायद ही फर्न के दर्शन किए हों, और जिन्होंने देखे होंगे उन्हें भी यह समझाना मुश्किल होगा कि इकाइनोडमेटा ‘कंटकयुक्त त्वचा’ वाले जीव होते हैं जिनका ‘कंकाल केल्केरियस प्लेट्स से बना होता है’। दूसरी बात है कि जंतु व पादप वर्गीकरण में ढेर सारे पारिभाषिक शब्द होते हैं जो यूनानी अथवा लैटिन मूल के होते हैं। जो बच्चे अंग्रेज़ी वर्णमाला से भी ठीक तरह से परिचित नहीं हैं, उनसे इन शब्दों को याद करने की अपेक्षा अन्याय है।

वैसे विज्ञान में वर्गीकरण के महत्व को देखते हुए इसे हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम में काफी अलग ढंग से शामिल किया गया था। इसके अलावा सजीवों का वर्गीकरण भी एक सर्वथा-अलग ढंग से व अलग उद्देश्य के साथ बाल वैज्ञानिक का अंग बना था। ‘वर्गीकरण के नियम’ नामक अध्याय में बच्चे अपने स्कूली बस्ते की सामग्री का समूहीकरण करते हुए धीरे-धीरे वर्गीकरण के नियम सीखते हैं। सजीवों का वर्गीकरण करने के लिए आसपास पाए जाने वाले जंतुओं के गुणधर्मों को आधार बनाया जाता है।

क्रमिक विकास

बाल वैज्ञानिक में विषयवस्तु को काफी सलीके से रखा गया है। इसमें अवधारणाओं के क्रमिक विकास, परस्पर सम्बंधों, जटिलता, अमूर्तीकरण के स्तर वगैरह का ध्यान रखा गया है।

जैसे बाल वैज्ञानिक में पहले गुणात्मक अवधारणाएं हैं और धीरे-धीरे मात्रात्मक अवधारणाएं जुड़ती जाती हैं। छठी कक्षा में गुणात्मक अवधारणाओं को अधिक महत्व दिया गया है और जैसे-जैसे सातवीं, आठवीं में पहुंचते हैं मात्रात्मक अवधारणाएं बढ़ती जाती हैं। इसके कई उदाहरण हैं। जैसे समूहीकरण (गुणात्मक) छठी में है पर क्षेत्रफल और आयतन नापना सातवीं में है, इससे ज्यादा जटिल मात्रात्मक चीजें - जैसे संभाविता - आठवीं में रखे गए हैं।

गुणात्मक अवधारणाएं वे हैं जिन्हें समझने के लिए बहुत नाप-जोख नहीं करना पड़ता। जैसे संबद्धनशीलता। इसी प्रकार से रसायन शास्त्र में चीजों को अलग-अलग करना या गुणकरण छठी में है जबकि अम्ल, क्षार और लवण, जिसमें गणना करनी होती है, को आठवीं में रखा गया है। ऐसा नहीं है कि छठी में मात्रात्मक अवधारणाएं हैं ही नहीं, पर ज्यादा गुणात्मक हैं; जैसे दूरी नापना छठी में है। पहले क्षेत्रफल और आयतन भी छठी में थे पर पता चला कि बच्चों को दिक्कत आ रही है और इनके पहले बच्चों को बहुत कुछ सीख जाना चाहिए, इसलिए बाद में इन्हें सातवीं में कर दिया।

कई अवधारणाओं के लिए ज्यादा अमूर्त, ज्यादा अवधारणात्मक कौशल चाहिए और गणितीय कौशल भी होना चाहिए। जैसे बच्चे दशमलव के भाग खास तौर से नहीं कर पाते। कुछ अवधारणाओं के लिए प्रायोगिक कौशल की भी ज़रूरत होती है। मसलन, ‘जल - मृदु और कठोर’ के प्रयोगों में उचित परिणामों तक पहुंचने के लिए ज़रूरी है कि उपकरणों की सफाई अच्छी तरह हो और सारे प्रयोग अत्यंत सावधानी से किए जाएं।

एक चीज़ है जिसे शिक्षा के लोग ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बात कहते हैं। इस सिद्धांत को मूलतः इस रूप में लागू किया गया कि अवधारणाओं को बच्चों के परिवेश से जोड़ा जाए, बात परिचित उदाहरणों से शुरू हो।

विषयवस्तु के विकास का एक सिद्धांत यह है कि बच्चों को अमूर्त चिंतन-सिखाना चाहिए। इसे क्रमिक ढंग से विकसित किया गया है। छठी-सातवीं में बच्चों से अपेक्षा है कि जिस परिस्थिति का अध्ययन उन्होंने किया है, उससे एक चरण में सीधे-सीधे जो निष्कर्ष या सिद्धांत निकाल सकते हैं, निकाल लें। परंतु एक चरण से बढ़कर दो, तीन, चार चरणों की बात छठी में नहीं रखी गई। उसे सातवीं कक्षा में थोड़ा डाला और आठवीं में और ज्यादा डाला। पहली बार सातवीं में इस प्रकार की कोशिश पत्तियों द्वारा मंड बनाने के संदर्भ में है। इस अध्याय (पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश) में जब बच्चे सीख गए कि बिना सूर्य के प्रकाश के पत्तियां मंड नहीं बना सकतीं तो यह प्रश्न उठाया गया कि हरी पत्तियों और सूर्य के प्रकाश का जीवन में क्या महत्व है। इसमें उनसे आशा की गई है कि वे कई अवधारणाओं को जोड़ें और इसका जवाब दें। जैसे उन्होंने ‘भोजन और पाचन क्रिया’ अध्याय में सीखा था कि भोजन का महत्वपूर्ण अंग मंड है। इसी अध्याय में एक प्रश्न यह है कि यदि पृथ्वी पर हमेशा अंधेरा रहे तो क्या तुम्हें दूध मिलेगा?

मगर ‘आकाश की ओर’ नामक अध्याय में इसकी अति हो गई। कक्षा 7 व 8 में फैले इस अध्याय में

सौर मंडल की गतियों का अध्ययन किया जाता है। 6-7 प्रयोगों के निष्कर्षों को जोड़ कर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। इन प्रयोगों से जो आंकड़े प्राप्त होते हैं, उन्हें समझने के दो तरीके हैं। इनमें से एक सरल हल है, इसलिए बेहतर है। इसको समझाने में बहुत मुश्किल आई। इसके पीछे विज्ञान की समझ है कि जो सरल हल हो, वही अपेक्षाकृत बेहतर हल होगा। शिक्षकों को भी यह समझाने में काफी मुश्किल आई। इसमें मॉडल के आधार पर समझाने की तकनीक का उपयोग किया गया था।

इससे भी आगे बढ़कर ‘संयोग और संभाविता’ में एक प्रयोग से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। बहुत सारे अवलोकन एक साथ लेकर और उनको जोड़कर एक निष्कर्ष निकालना होता है। प्रयोग भी अपने-आप में टुकड़ों-टुकड़ों में होते हैं और बहुत अमूर्त हैं। उन सारे अवलोकनों से भी सीधे कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। इन आंकड़ों में कोई पैटर्न समझकर निष्कर्ष निकलता है। यह और भी ऊंचे स्तर का अमूर्ताकरण है।

इस तरह की अमूर्त अवधारणाएं शामिल करते हुए एक चिंता बनी रहती है कि क्या इन्हें पूरी गहनता से परीक्षा में भी पूछा जाएगा। इस बारे में हो.वि.शि.का. समूह की समझ यह रही है कि जब पाठ्यक्रम में बच्चों को अमूर्ताकरण की ऐसी सघन प्रक्रिया में से गुजारते हैं तो उनसे अपेक्षा यह नहीं होना चाहिए कि वे उसे पूरी तरह आत्मसात कर लेंगे। यदि वे इसमें से मोटे-मोटे एहसास हासिल कर पाते हैं तो काफी है। जैसे संयोग और संभाविता का अध्ययन करते हुए वित या पट आने की संभाविता के बारे में यदि वे यह बता पाते हैं कि दिए गए 6 पैटर्न में से कौन-सा उन्हें अपने प्रयोगों के दौरान कभी नहीं मिला या मिलने की संभावना बहुत कम है, तो काफी है।

आम तौर पर यह समझ थी कि अध्यायों में जानकारी नहीं दी जाएगी। मगर इसको लेकर थोड़ा भ्रम है जिसे दूर करने की ज़रूरत है। कहीं-कहीं बच्चों के प्रयोग को आगे बढ़ाने के लिए या बच्चों द्वारा विश्लेषण को आगे बढ़ाने के लिए कुछ जानकारी ज़रूरी हो जाती है और उस जानकारी को पाने के बच्चों के पास और कोई तरीके नहीं हैं तो वहां नपी-तुली मात्रा में जानकारी बच्चों को दी गई है। वैसे समय के साथ इस समझ में काफी परिवर्तन हुआ है। इसके विवेचन के लिए देखें खण्ड ‘जानकारी न देने का हठ’ (पृष्ठ 25)।

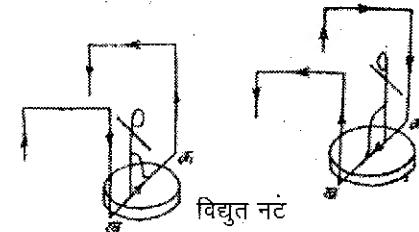
बाल वैज्ञानिक की विषयवस्तु में आंतरिक कड़ियां हैं। इस पर काफी मेहनत की गई है। कड़ियों के दो पहलू हैं। एक है विषयवस्तु का क्रमिक विकास। दूसरा पहलू है विषयवस्तु या अवधारणाओं के बीच में कड़ी; केवल क्रम के आधार पर नहीं, अवधारणा के स्तर पर। यह क्रमिक प्रक्रिया ग्राफ बनाना सिखाने में नज़र आती है। ग्राफ बनाना सीखने की शुरुआत छठी कक्षा में हो जाती है। यहां बच्चे स्तंभालेख बनाना सीखते हैं। उसके बाद सातवीं कक्षा में एक अध्याय है नक्शा बनाना सीखो। इसमें बच्चे कार्तीय निर्देशांक और पैमाने के आधार पर आकृतियों को छोटा-बड़ा करने की अवधारणा को समझते हैं। इसके बाद ग्राफ बनाने का अध्याय शुरू होता है। और आठवीं कक्षा में एक अध्याय है जिसमें यह सिखाया जाता है कि जो ग्राफ बनाया उसे समझा कैसे जाता है। इस तरह का क्रमबद्ध नियोजन बहुत जगह मिलता है।

जैसे एक अध्याय हवा का है - हवा के कुछ गुणधर्मों का इसमें अध्ययन किया जाता है। इसके बाद एक अध्याय गैसों का है - कार्बन डाईऑक्साइड और ऑक्सीजन का अध्ययन उसमें है और उसके बाद तीसरा अध्याय है श्वसन। श्वसन का अध्याय तभी कर पाएंगे जब हवा और गैसों के दो अध्याय कर लिए जाएं क्योंकि जब गैसों के गुणधर्म समझ लें तभी यह अध्याय हो सकता है।

विषयवस्तु को संप्रेषित करने के नए-नए, दिलचर्प और सरल तरीके खोजने की बहुत कोशिश की गई है। जैसे विद्युत मोटर क्यों धूमती है इसे समझने में लोगों को बहुत दिक्कत आ रही थी। तो कुछ साथियों ने एक बिलकुल नया ढंग इजाद किया इसको समझाने का, इसमें एक विद्युत नट की कल्पना की गई। इसमें एक मॉडल की मदद से दाहिने हाथ के नियम का प्रदर्शन किया जाता है।

इसी प्रकार से शरीर की आंतरिक रचना का अध्याय तैयार करते हुए लगा कि एक बहुत गलत धारणा बच्चों तक पहुंच रही है कि सारे आंतरिक अंग एक ही स्तर पर हैं जबकि वास्तव में वे अलग-अलग स्तरों पर हैं। इसके लिए एक खेल बनाया गया। इसमें बच्चे अंगों के चित्रों को काट-काटकर बताई गई प्रक्रिया के अनुसार एक बड़े रेखाचित्र में जमाते हैं और जब जमाते हैं तो ये अंग अलग-अलग स्तरों पर आ जाते हैं। इस प्रकार के बहुत सारे उदाहरण दिए जा सकते हैं।

बच्चों में सृजनात्मक शक्ति - वैज्ञानिक सृजन शक्ति और चीज़ें बनाने की सृजन शक्ति - को बढ़ावा देने के लिए विषयवस्तु में कई प्रयोग व अभ्यास दिए गए हैं। जैसे कक्षा 7 में माचिस की तीलियों और वाल्व ट्यूब से चीज़ें बनाने का एक स्वतंत्र अध्याय है। इसके अलावा, अलग-अलग अध्यायों में सूक्ष्मदर्शी बनाना, लैक्टोमीटर बनाना, हैण्ड पंप बनाना, पेरिस्कोप, कैलिडोस्कोप बनाना आदि गतिविधियां जानबूझकर रखी गई हैं।



पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के सवाल

वैसे आजकल प्राथमिक शिक्षा के समस्त कार्यक्रमों में यह बात ज़रूर कही जाती है कि पर्यावरण शिक्षा का आधार होना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने तो इस संदर्भ में आश्चर्यजनक छलांग लगाकर हर कक्षा में पर्यावरण शिक्षा अनिवार्य कर दी है। इस निर्णय के पीछे समझ यह है कि अन्य विषयों की तरह पर्यावरण भी एक विषय की तरह पढ़ाया जाना चाहिए। हो.वि.शि.का. में पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम की समझ थोड़ी अलग रही है। हो.वि.शि.का. में मान्यता यह है कि विज्ञान की विभिन्न अवधारणाओं को सीखने में पर्यावरण (यानी बच्चों का अपना परिवेश) एक महत्वपूर्ण किरदार होना चाहिए। इसका मतलब यह है कि सीखने के लिए उदाहरण स्थानीय पर्यावरण से लिए जाएं, कक्षा में कोई सिद्धांत या नियम उभरे तो उसे अपने पर्यावरण पर लागू करके देखा जाए, स्थानीय स्तर पर उपलब्ध जानकारी के स्रोतों (बुजुर्ग लोग, पटवारी, आम किसान, स्वारथ्य कार्यकर्ता वगैरह) का पूरा उपयोग किया जाए, स्थानीय भाषा को दृष्टिगत रखा जाए और सबसे बड़ी बात कि किसी भी विषय को पढ़ाते समय इस बात का ख्याल रखा जाए कि उसके बारे में स्थानीय स्तर पर किस ढंग की समझ व धारणाएं प्रचलित हैं। यश पाल ने हो.वि.शि.का. के प्रथम शिक्षक प्रशिक्षण शिविर के बारे में लिखा था, “यदि हम चाहते हैं कि विज्ञान उस धरती में जड़े जमाए जिसमें आस्थाओं, मिथ्यों और अनुभवों के बीज पड़े हैं, तो खोज पद्धति को ही अपनाना होगा क्योंकि विज्ञान शिक्षा के पारंपरिक तरीके में इन चीजों का उपयोग करने की बात तो दूर, इन्हें स्पर्श तक नहीं किया जाता।”⁵

दरअसल समझ यह लगती है कि सारी जानकारी तो आसपास के परिवेश में बिखरी पड़ी है। स्कूली शिक्षा का प्रमुख मकसद बच्चों को वे तरीके सिखाना होना चाहिए जिनकी मदद से यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है और इसका विश्लेषण किया जा सकता है। इस मायने में बाल वैज्ञानिक के पाठ्यक्रम को पर्यावरण आधारित की बजाय परिवेश से जुड़ा कहना ज्यादा सही होगा। शिक्षा बच्चे के परिवेश से जुड़ी होनी चाहिए। परिवेश में प्राकृतिक पर्यावरण तो शामिल है ही, उसके अलावा समुदाय, परिवार, रीति रिवाज़, तौर-तरीके आदि भी इसके अंग हैं। इन सब स्रोतों से जानकारी प्राप्त करना बाल वैज्ञानिक अध्यापन का एक प्रमुख अंग है। इसके लिए कई परिभ्रमणों व सर्वेक्षणों के अलावा जगह-जगह बच्चों से गांव के सायानों, कारीगरों वगैरह से जानकारी प्राप्त करने को कहा गया है। शिक्षण साधन के रूप में कई घरेलू चीजों का उपयोग भी शिक्षा के बच्चों के परिवेश से जोड़ने का काम करता है।

बाल वैज्ञानिक में पर्यावरण का आधार कई रूपों में उभरता है।

इसका सबसे सरल व आसानी से नज़र आने वाला रूप तो जीव विज्ञान के अध्यायों में दिखता है। जीव

5 यश पाल, दुड़े'स एडुकेशन फॉर दी नीडस ऑफ ट्रामरो, दिसंबर 1972, फिजिक्स स्टडी ग्रुप

विज्ञान के कई अध्याय बच्चों के परिवेश में उपलब्ध सामग्री के अध्ययन पर आधारित हैं। 1978 के संस्करण में जीव विज्ञान से सम्बंधित कुल 22 अध्याय थे। इनमें से 6 में तो बच्चों को परिभ्रमण पर जाना होता है।

कुछ अध्याय ऐसे हैं जिनमें बच्चे आसपास से इकट्ठी की गई चीज़ों का अध्ययन करते हैं। यह परिभ्रमण वाले अध्यायों में तो निहित ही है। इसके अलावा भोजन व पाचन किया नामक अध्याय में शुरुआत आसपास के जीव जंतुओं के भोजन, खाने के ढंग व खाने के अंगों की जानकारी संकलित करके होती है। मनुष्यों के भोजन का अध्ययन भी अमूर्त श्रेणियों के रूप में नहीं बल्कि ठोस खाद्य पदार्थों के परीक्षण के आधार पर होता है। बाद में इनके समूह बनाए जाते हैं। इस अध्याय में कुपोषण व गरीबी के सम्बंध को समझने के लिए बच्चों से एक सर्वेक्षण करके पता करने को कहा गया है कि कुपोषित बच्चों को क्यों कम भोजन मिलता है। इसी प्रकार से बीजों, फूलों आदि के अध्ययन में भी उन चीज़ों के अध्ययन को वरीयता दी गई है जो बच्चे लेकर आते हैं।

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के लिए सजीवों का वर्गीकरण एक खास चुनौती प्रस्तुत करता है। इसकी चर्चा हम कर ही चुके हैं। बाल वैज्ञानिक में जंतुओं का वर्गीकरण अध्याय में वर्गीकरण के लिए कुछ रुक्किंगत आधारों (मेरु दण्ड, पंख, स्तन ग्रन्थियों की उपस्थिति, टांगों की संख्या) के अलावा अन्य आधारों (आवास, त्वचा पर आवरण की उपस्थिति वगैरह) का उपयोग भी किया गया है। यह आग्रह बिलकुल नहीं किया गया है कि बच्चे परंपरागत वर्गीकरण को याद कर लें।

भौतिकी व रसायन के अध्यायों में पर्यावरण की बुनियाद इतनी गहन नहीं है। फिर भी जहां गुंजाइश थी वहां कोशिश की गई है कि भौतिक या रासायनिक सिद्धांतों व अवधारणाओं को सीखने के लिए स्थानीय सामग्री व उदाहरणों का ही उपयोग किया जाए। जैसे मिट्टी, अम्ल, क्षार और लवण, संयोग और संभाविता, पृथक्करण वगैरह अध्यायों में बच्चों के परिवेश से जुड़ी सामग्री व उदाहरण लेकर ही प्रयोग व चर्चा विकसित की गई है।

वैसे इस संदर्भ में मापन का उदाहरण गौरतलब है। दूरी, क्षेत्रफल व आयतन, इन तीनों राशियों के मापन को स्थानीय संदर्भ में इनकी समझ से शुरू किया जाता है। जैसे क्षेत्रफल अध्याय की बात खेतों के क्षेत्रफल से शुरू होती है। आयतन का अध्याय विकसित करते हुए लगा कि लोगों और बच्चों की आयतन को लेकर पूर्व धारणाएं हैं और उन्होंने आयतन को अलग-अलग ढंग से समझा है। इन अवधारणाओं के आधार पर अध्याय विकसित किया गया।

बच्चों के परिवेश से जोड़ने का एक असर भाषा पर भी देखा जा सकता है। जिस भाषा में पूरी शिक्षा होती है, उसके तीन पहलू हैं - एक तो जो लोग आम तौर पर समाज में बोलते हैं, दूसरी वह भाषा जो शिक्षक विद्यार्थी के साथ बोलता है और तीसरी वह भाषा जो शिक्षक ज़ोर देता है कि लिखी जाए। बाल वैज्ञानिक पुस्तकों का प्रथम संस्करण (1978) तैयार करते समय इस बात का बहुत ध्यान रखा गया था कि बच्चे जिस भाषा का इस्तेमाल करते हैं अधिकांशतः वही बाल वैज्ञानिक में आए। खासकर यह समस्या आई पारिभाषिक शब्दों के सवाल पर। कई बार तो पारिभाषिक शब्दों का उपयोग सिर्फ़ एक समझौते के रूप में किया गया। जब भी ऐसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है तो ये विषय को समझने में एक बाधा बन जाते हैं; उनको रटना ही मुख्य काम हो जाता है। उदाहरण के लिए हड्डियों वाला अध्याय देखा जा सकता है। अधिकांश पाठ्य पुस्तकों में कंकाल के एक ही चित्र में ढेर सारे मुश्किल नाम मिलेंगे - संस्कृत से निकले हुए। इसे सरल करने के लिए बाल वैज्ञानिक में आम शब्दों का उपयोग किया गया है। मगर एक समझौता किया गया और बोलचाल के शब्दों के साथ कोष्ठकों में पारिभाषिक शब्द लिख दिए गए - आंख का गड्ढा (नेत्र कोटर) आदि। प्रमुख उद्देश्य है कि बच्चे हड्डियां पहचानें; यह न हो कि वे हड्डी न पहचानें पर मुश्किल-सा नाम रट लें। पारिभाषिक शब्दों को लेकर यह समस्या काफी गंभीर है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब इसी ज़िले के दो हिस्सों में एक ही चीज़ के लिए अलग-अलग शब्द आ गए तो शिक्षकों की आपत्ति के चलते खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग किया गया।

तो पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम या शिक्षण पद्धति के कई आशय हैं - इसका मतलब है कि वैज्ञानिक अवधारणाओं को सिखाने के लिए बच्चों के परिवेश से उदाहरण लिए जाएंगे, पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तक व शिक्षण विधि में बच्चों की उस अवधारणा की समझ का सज्जान लिया जाएगा और संबोधित किया जाएगा, स्थानीय पर्यावरण के अध्ययन को महत्व दिया जाएगा, स्थानीय परिवेश में उपलब्ध ज्ञान का पूरा उपयोग किया जाएगा, उससे एक संवाद स्थापित किया जाएगा और किताब में बच्चों की भाषा का अधिक से अधिक उपयोग किया जाएगा।

दरअसल काड़स के बाद जब बाल वैज्ञानिक पुस्तक तैयार करने की बात आई तो अध्यायों को पर्यावरण आधारित बनाने के उद्देश्य से 1975 में एक कार्यशाला आयोजित की गई थी - ग्रामीणीकरण कार्यशाला। नाम से ही साफ है कि इस कार्यशाला में अध्यायों को ग्रामीण परिवेश के अनुकूल बनाने पर विचार विमर्श हुआ। कार्यशाला में चार प्रमुख बातों पर विचार हुआ था - समूहीकरण और वर्गीकरण, मापन, जीव विज्ञान के अध्याय तथा किट। इसमें हो.वि.शि.का. स्रोत दल और कार्यक्रम से जुड़े करीब 40 शिक्षकों ने भाग लिया था।

ग्रामीणीकरण कार्यशाला में तीन दिनों तक शिक्षक व स्रोत दल ने मिलकर यह समझाने का प्रयास किया था कि समूहीकरण और वर्गीकरण तथा मापन का ग्रामीण जीवन में क्या उपयोग है और इन्हें लेकर स्थानीय स्तर पर क्या समझ है। जीव विज्ञान के मामले में इस बात पर विचार किया गया था कि ग्रामीण परिवेश में किस तरह के विषय उपयुक्त होंगे। इसे लेकर कई छोटे-छोटे प्रोजेक्ट्स भी किए गए मगर इसमें से सामग्री के स्तर पर कुछ ठोस निकला ऐसा प्रतीत नहीं होता। इतना ज़रूर है कि इस कार्यशाला ने शिक्षकों के बीच पाठ्यक्रम व सामग्री निर्माण की एक नई समझ को बढ़ावा दिया और पाठ्यक्रम को पर्यावरण आधारित बनाने की बात को एक स्पष्ट गंभीरता प्रदान की।

एक रोचक बात यह है कि आम तौर पर पर्यावरण शिक्षा का मतलब माना जाता है कि बच्चे पर्यावरण के विवरण पढ़ लें। पर्यावरण से वार्ताविक अंतक्रिया पर प्रायः नाक-भौं सिकोड़ी जाती है। रकूल स्तर के फीडबैक में कई बार यह बात आई कि परिभ्रमण करने में बहुत मुश्किल आती है, बच्चों को संभालना बहुत मुश्किल होता है, बच्चे कहीं भी चले जाते हैं, किसी को सांप वगैरह ने काट लिया तो क्या होगा, बच्चे खेत को नुकसान पहुंचाते हैं, वगैरह-वगैरह। परिभ्रमण के वार्ताविक अनुभवों पर आगे बात की जाएगी।

वैसे पर्यावरण आधारित शिक्षा, या अपने पर्यावरण की खोजबीन करने के किसी भी शैक्षिक प्रयास के सामने यह सवाल ज़रूर आएगा। इसका कारण यहीं लगता है कि मिट्टी में हाथ सानना आम तौर पर एक गंदा काम समझा जाता है और बनते कोशिश शिक्षा को इससे दूर रखने की कोशिश की जाती है। मगर होशंगाबाद ज़िले के इटारसी विधान सभा क्षेत्र के विधायक ने तो हद ही कर दी। होशंगाबाद की ज़िला योजना समिति को लिखे एक पत्र (2002) में विधायक महोदय ने कहा था: “छात्रों को प्रयोग हेतु अनेक प्रकार की पत्तियां एकत्रित करनी होती हैं जिसके कारण छात्रों को अत्यधिक असुविधा होती है।”

बहरहाल, शिक्षकों (और पालकों) की मजबूरियों और अनिच्छा के अलावा शायद पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि और कार्य पुस्तक को लेकर एक अलग ढंग की चर्चा ज़िला स्तरीय प्रसार (1978) के समय ही शुरू हो चुकी थी। पर्यावरण आधारित पहलू के लिहाज़ से कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार ने दो चुनौतियां पेश कीं।

पहली चुनौती यह थी कि होशंगाबाद ज़िला काफी बड़ा था (अब इसे दो भागों में बांटकर होशंगाबाद व हरदा ज़िले बना दिए गए हैं)। इस कारण से इसके अलग-अलग हिस्सों में भाषा, संस्कृति के अलावा खेती-बाड़ी में भी बहुत विविधता थी। एक इलाका मूलतः धान उगाता था, तो कपास उगाने वाला इलाका

भी काफी बड़ा था। इस विविधता के कारण बाल वैज्ञानिक पर एक नए किस्म का दबाव पड़ा। इस दबाव का सबसे छोटा पक्ष था शब्दों का चयन। इस पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

मगर बात सिर्फ शब्दों की नहीं थी। आप अध्ययन के लिए जो उदाहरण चुनते हैं, जिन धारणाओं के आधार पर आगे बढ़ते हैं, उन सब पर इस बात का असर पड़ना स्वाभाविक है। और यह सिर्फ जीव विज्ञान तक सीमित नहीं है। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण संयोग और संभाविता का अध्याय है, जिसके बारे में कृष्ण कुमार ने कहा है कि स्थानीय ट्रेनों के आने-जाने के समय को शिक्षा का आधार बनाना एक अनूठा नवाचार है। संयोग और संभाविता का अध्याय बनखेड़ी नामक स्टेशन पर एक पेसेंजर ट्रेन के टाइम टेबल और वास्तव में उसके आने-जाने के इतिहास से शुरू होता है। यह अध्याय आज भी उसी रूप में है मगर पता नहीं अन्य जगहों के बच्चे क्या उसी अपनेपन से इसे लेते हैं। इसी प्रकार से आयतन का अध्याय है जिसमें स्थानीय धारणाओं को आधार बनाकर आयतन की अवधारणा विकसित की गई है। ऐसे कई और अध्याय हैं।

किसी भी पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम में यह एक महत्वपूर्ण पक्ष होना चाहिए। पाठ्यक्रम को स्थानीय परिस्थिति से जु़ङ्ना चाहिए व बच्चों के पास पहले से उपलब्ध ज्ञान की बुनियाद पर सीखने-सिखाने की प्रक्रिया चलना चाहिए। बच्चों की समझ को किस हद तक सामान्यीकृत किया जा सकता है?

वैसे इस सम्बंध में एक बात पर गौर करना ज़रूरी है। यदि हम सिर्फ ग्रामीण पर्यावरण की बात करें तो चाहे अलग-अलग स्थानों पर फसलें अलग-अलग होती हों, कीड़े और जंतुओं में अंतर हों या फूल, पत्तियों में फर्क हो मगर इन सबके बारे में सीखने के तरीके सब जगह लगभग एक से ही होंगे। इसलिए बच्चों को उन्हीं तरीकों का उपयोग करते हुए एक भिन्न तरह की खेती का अध्ययन करना है। चूंकि बाल वैज्ञानिक में किसी एक पर्यावरण का विवरण देने की बजाय बच्चों से उभीद की गई है कि वे अपने पर्यावरण के अलग-अलग घटकों का अध्ययन करते हुए उसका एक विवरण विकसित करेंगे, इसलिए एक ही अध्याय कई स्थानों पर आसानी से उपयोग किया जा सकता है।

इस बात को इस रूप में व्यक्त किया गया था कि अध्याय पर्यावरण आधारित तो हों मगर क्षेत्र विशेष के पर्यावरण से स्वतंत्र हों (environment based, region free)। यह तरीका ग्रामीण क्षेत्रों में तो कमोबेश ठीक बैठता है (हालांकि वहां भी गैर खेतिहार इलाकों का मुद्दा उठेगा) मगर शहर-कस्बे तो एकदम अलग ही चुनौती पेश करते हैं।

दूसरी चुनौती यही थी कि ज़िला स्तरीय प्रसार के साथ कार्यक्रम सिर्फ ग्रामीण इलाकों तक सीमित नहीं रह गया था। कई कस्बों और छोटे शहरों में बाल वैज्ञानिक का उपयोग होने लगा था। शहरों में कार्यक्रम लागू होने का मतलब था कि बड़ी संख्या में बच्चों के पास खेती-बाड़ी का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होगा। बाल वैज्ञानिक में फसल वैगैरह सम्बंधी अध्याय पूरी तरह प्रत्यक्ष अवलोकनों और ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध जानकारी पर आधारित थे। यदि हम यह मान लें कि खेती-बाड़ी विज्ञान के पाठ्यक्रम का एक अंग होना चाहिए तो सवाल यह उठता है कि शहरी बच्चों को इससे कैसे जोड़ा जाए। किस तरह के अध्याय विकसित करने होंगे?

इसी सवाल का दूसरा पहलू यह है कि यदि पाठ्यक्रम को पर्यावरण आधारित बनाना है, तो शहरी बच्चों के पर्यावरण से सम्बंधित अध्याय विकसित किए जाएं। यह भी एक चुनौती ही थी। इस पर चर्चाएं भी हुईं - यह कहा गया कि शायद बेहतर होगा कि इस संदर्भ में ग्रामीण व शहरी पर्यावरण से सम्बंधित अलग-अलग अध्याय हों और वैकल्पिक हों। अलवत्ता, अंततः ऐसा कुछ हुआ नहीं। यह एक पक्ष है जिस पर ध्यान देकर काम करने की ज़रूरत है। तीसरे संस्करण में खेती आधारित अध्यायों का स्वरूप काफी बदला गया था और इन्हें प्रत्यक्ष अवलोकनों के रथान पर मूलतः पुस्तक में दी गई जानकारी के विश्लेषण के आधार पर विकसित किया गया था। इसी प्रकार से पौधों में प्रजनन सम्बंधी अध्याय में भी कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग

छोड़ देना पड़े थे। वैसे तो ग्रामीण स्कूलों में भी ये क्रियाएं करवाना मुश्किल साबित होता है: लगा था मगर ये निर्णय मूलतः इस चुनौती का सृजनात्मक प्रत्युत्तर न दे पाने के परिणाम कहे जा सकते हैं।

इस सवाल को एक और नज़रिए से भी देखा जा सकता है। यदि प्रसार की प्रक्रिया में पर्यावरण से सीधे संपर्क का स्थान किताब में लिखित जानकारी लेती जाएगी तो वास्तव में हम बच्चों को सीखने के एक महत्वपूर्ण रूप से वंचित कर देंगे। पूरे प्रदेश या देश के लिए एक पाठ्य पुस्तक की चाह (महत्वाकांक्षा) रखने वालों को इस बात पर विचार करना चाहिए। और यदि बात सिर्फ भौतिक या प्राकृतिक पर्यावरण से आगे जाकर पूरे परिवेश की हो, तो केंद्रीकृत प्रक्रियाओं पर और भी गंभीर सवाल खड़े हो जाते हैं।

जानकारी न देने का हठ

बाल वैज्ञानिक तैयार करते हुए स्रोत दल ने निर्णय किया था कि बच्चों को चीज़ें खोजना है। इसलिए किताब में जानकारी, नियम, सिद्धांत वगैरह खोजने पर ज़ोर है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि बच्चों को सीधे जानकारी परोसी नहीं जाएगी। इसके पीछे विचार यह था कि किताब में जानकारी दी गई तो इसे परीक्षा में पूछा जाएगा और बच्चों पर इसे रटने का दबाव बनेगा, समझने की प्रक्रिया कमज़ोर पड़ जाएगी। एक उर यह भी था कि एक बार जानकारी देना शुरू किया तो फिर इसकी बाढ़ को रोकना मुश्किल होगा क्योंकि मुख्यधारा तो चाहती है कि किताबों में जानकारी की भरमार हो। और सबसे बड़ी शंका यह थी कि खोज की प्रक्रिया पर इसका प्रतिकूल असर होगा।

दरअसल जानकारी (यानी परिभाषाएं, नियम वगैरह) पाठ्य पुस्तक में न देने का निर्णय एक और बात से प्रेरित रहा है। आम तौर पर हो.वि.शि.का. को ‘करके सीखो’ के नाम से जाना जाता है। इसलिए ऐसा भ्रम होता है कि यदि ढेर सारे प्रयोग करवा दिए जाएं तो काम बन जाएगा। हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम के जिस अंग को प्रायः नहीं समझा जाता वह है खोज करने का। सिर्फ प्रयोग और गतिविधि करना मकसद नहीं है, उनके अवलोकनों पर विचार करना, मत ज़ाहिर करना, अन्य लोगों के मतों को समझना, तर्क करना, कुछ निष्कर्ष निकालना, उसकी पुष्टि करना वगैरह इस प्रक्रिया के हिस्से हैं। इस पूरी प्रक्रिया को एक परिभाषा से विस्थापित किया जा सकता है। वह सरल लगता है क्योंकि खुद सोचकर कहीं पहुंचना कई बार खिझाने वाला, निराशाजनक हो सकता है। इसलिए जब आप जानकारी न देकर खोज की प्रक्रिया को अपनाने का फैसला करते हैं तो आप एक सपाट सड़क को छोड़कर उबड़-खाबड़ राह पर चलने का निर्णय करते हैं। सत्तर के दशक में मुख्यधारा की पाठ्य पुस्तकों पर ‘जानकारी का विस्फोट’ का भूत सवार था जो आज भी पूरी तरह उतरा नहीं है हालांकि कमज़ोर पड़ता नज़र आ रहा है। इसका श्रेय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हो.वि.शि.का. समूह को जाता है जिसने अपना पाठ्यक्रम ‘जानकारी के विस्फोट’ की धारणा पर आधारित नहीं किया और मुख्यधारा के साथ इस बहस को लगातार जारी रखा। तो जानकारी न देने के फैसले को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए।

मगर आज देखने पर लगता है कि यह एक हठ सा बन गया था। जानकारी न देने के इस हठ के कारण बाल वैज्ञानिक कई जगह थोड़ी बनावटी खोज पद्धति को बढ़ावा देती नज़र आती है। इसी कारण से बाल वैज्ञानिक में आपको मूलतः दो तरह की भाषा नज़र आएगी - निर्देश और प्रश्न।

कई बार कोई जानकारी चर्चा या प्रयोगों की शृंखला को आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी होती है मगर इसे भी प्रयोग के माध्यम से खोजने का आग्रह होता है। इस कारण से कहीं-कहीं एक सहजता टूटती है। हो.वि.शि.का. में आगे के अनुभवों से साफ होता है कि यह ज़रूरी नहीं कि जानकारी हमेशा खोज की प्रक्रिया में, और उससे भी आगे जाकर, सोच की प्रक्रिया में बाधक ही बने।

जैसे कक्षा 7 (प्रथम संस्करण, 1979) में ‘पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश’ नाम का एक अध्याय था। इसमें बच्चे यह पता करते हैं कि पत्तियों में मण्ड का निर्माण सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में ही होता है। इसके लिए वे एक क्लासिकल प्रयोग करते हैं - पत्ती को एक काले कागज से ढंककर कुछ दिनों बाद

उसमें मण्ड का परीक्षण करके देखा जाता है कि किस हिस्से में मण्ड बना है और किसमें नहीं।

यह ज़रूरी है कि बच्चों को पता हो कि काला कागज़ लगाने पर पत्ती के उस हिस्से को प्रकाश नहीं मिलता। मगर बाल वैज्ञानिक यह बात सीधे-सीधे नहीं कहती। इसकी बजाय बच्चों से कहा जाता है कि “काले कागज को आंखों के सामने रखकर सूरज की तरफ देखो और बताओ कि इस प्रयोग में काले कागज का उपयोग क्यों किया गया?” ऐसे विडब्बना यह है कि यह उदाहरण उन दुर्लभ अपवादों में से है जहां बाल वैज्ञानिक में प्रयोग का निष्कर्ष दिया गया है - “तुमने ऊपर पता किया है कि पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश ज़रूरी है।”

आम तौर पर बाल वैज्ञानिक में जब जानकारी और प्रयोग के बीच चुनाव की स्थिति आई तो फैसला प्रयोग के हक में हुआ।

एक और उदाहरण लीजिए। यह उदाहरण कक्षा 7 (प्रथम संस्करण, 1979) के अध्याय ‘हवा’ से है। अध्याय की शुरुआत इस तरह से होती है:

“प्रयोग 1: अपने हाथ पर मुँह से फूंको और बताओ कि तुमने क्या महसूस किया? (1)

एक पत्ती या कागज का टुकड़ा लो और उसके एक सिरे को पकड़कर दूसरे सिरे पर फूंक मारो। ऐसा करने पर पत्ती को क्या होता है? (2)

अब पत्ती के दूसरे सिरे को उंगली से पकड़ो और फिर से फूंक मारो।

क्या तुम बता सकते हो कि फूंक मारने से पत्ती क्यों झुक गई थी और मुँह से निकलकर पत्ती पर क्या गया था? (3)”

यह पूरी शृंखला थोड़ी बनावटी लगती है और बचकाना भी, शायद trivial भी। इसकी बजाय एक अच्छा पैराग्राफ लिखना शायद बेहतर होता।

हवा अध्याय (प्रथम संस्करण, 1979) से ही एक और उदाहरण है:

इस अध्याय में एक जगह हवा का आयतन नापा जाता है। प्लास्टिक की एक बोतल में पानी के विस्थापन से कुछ हवा इकट्ठी की जाती है और पानी में रखे-रखे ही उसे नापा जाता है। यहां यह ज़रूरी हो जाता है कि बोतल के अंदर हवा का दाब वायुमंडलीय दाब के बराबर हो। इसका तरीका यह है कि बोतल को पानी में इतना डुबाकर रखा जाए कि बोतल के अंदर व बाहर पानी का तल बराबर हो। वहां यह बात बताने की बजाय यह कहा गया है: “प्लास्टिक की बोतल में पानी के तल को देखते समय क्या बोतल को किसी विशेष स्थिति में पकड़े रहना आवश्यक है? गुरुजी से चर्चा करो।”

दरअसल बाल वैज्ञानिक के अध्यायों की एक प्रमुख समस्या शिक्षक की भूमिका को लेकर संशय की रही है। कई बार ऐसा लगता है कि जो सवाल शिक्षक को स्थिति के अनुसार पूछना चाहिए, उन्हें बाल वैज्ञानिक के अध्यायों का ही अंग बना दिया गया है। जैसे हवा के अध्याय में प्रयोग 1 भूमिका स्वरूप ही दिया गया है। इसके स्थान पर शिक्षक कई अन्य ढंग से शुरुआत कर सकता/ती है। वास्तव में खोज प्रक्रिया का पूर्वानुमान एक हद तक ही किया जा सकता है। उसे एक ढांचे में बांधने और फिर भी एक लचीलापन बनाए रखने के प्रयासों के बीच मध्यमार्ग की जदोजहद इन अध्यायों में कई जगह नज़र आती है।

शायद बाल वैज्ञानिक नुमा खोज पद्धति का बेहतर स्वरूप यह होगा कि बच्चों के लिए कोई किताब ही न हो। शिक्षक के पास एक खाका हो और उसके अनुसार कक्षा-कार्य चले। शिक्षक के पास जो खाका हो वह काफी विस्तृत हो, जिसमें विषय की गहरी समझ हो, करने के लिए प्रयोग/गतिविधियां हों। उसमें बच्चों के साथ की जाने वाली प्रक्रियां का एक ऐसा विवरण हो जिसमें से शिक्षक चुन सके कि किसी कक्षा-विशेष में क्या करना है।

संभवतः और भी बेहतर यह होगा कि सीखने की प्रक्रिया बच्चों के मन में उठ रहे सवालों से शुरू व उन्हीं से प्रेरित हो। शिक्षक की भूमिका इन सवालों की खोजबीन के लिए ज़रूरी गतिविधियाँ/प्रयोग सुझाने तथा सवालों को एक परिप्रेक्ष्य में रखने की होगी। इस तरह का एक तजुर्बा दिल्ली विश्वविद्यालय स्थित विज्ञान शिक्षा एवं संचार केंद्र ने किया है। इस कार्यक्रम का निर्देशन हो.वि.शि.का. से जुड़े स्रोत व्यक्तियों ने किया था और हो.वि.शि.का. समूह ने इसमें बढ़-बढ़कर हिस्सा लिया था। ‘सबके लिए विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी साक्षरता’ नामक इस कार्यक्रम के विस्तार में हम यहां नहीं जाएंगे।

मगर वर्तमान हालात में सरकारी स्कूलों में शिक्षण के लिए एक पाठ्य पुस्तक ज़रूरी मानी जाती है। पाठ्य पुस्तक (बाल वैज्ञानिक) होने पर भी पालकों को यह शिकायत रहा करती थी कि उसमें ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे बच्चे याद कर लें। एक शिकायत यह भी रही है कि पालक जानते नहीं कि परीक्षा के समय बच्चों को क्या तैयारी करवाएं। यानी बाल वैज्ञानिक पाठ्य पुस्तक की उनकी परिभाषा में फिट नहीं होती। तब यदि पाठ्य पुस्तक न हो, तो कल्पना की जा सकती है कि पालकों की क्या हालत होगी।

जानकारी न देने की बात का एक पहलू और भी है जो उतना ही महत्वपूर्ण है। बाल वैज्ञानिक के लेखक जानते थे और जानते हैं कि बच्चों के साथ इस पद्धति में कई जगह जानकारी की ज़रूरत होगी। कई मुकाम ऐसे भी होंगे जहां कक्षा में उभरे निष्कर्षों को एक परिप्रेक्ष्य देने के लिए जानकारी ज़रूरी होगी। कई बार तो निष्कर्ष निकालने या अगला प्रयोग शुरू करने के लिए भी जानकारी देना ज़रूरी होगा। इसका एक रास्ता निकाला गया था। जहां भी ऐसी जानकारी की ज़रूरत की संभावना है वहां बच्चों से कहा गया है कि वे गुरुजी से बात करें। इसी तरह, बाल वैज्ञानिक में एक तरह के सवाल वे हैं जहां बच्चों से कहा गया है कि वे आपस में चर्चा करके उस सवाल का जवाब दें। ये दो संकेत हैं शिक्षक के लिए कि यहां उनकी एक अलग ढंग की भूमिका की आवश्यकता है। इन सवालों के जवाब देना शायद सिर्फ वहां किए गए प्रयोग के आधार पर संभव नहीं होगा; उसके लिए अतिरिक्त तर्क, जानकारी या अनुभव ज़रूरी होगा। यहां शिक्षक से अपेक्षा है कि वे आवश्यकतानुसार जानकारी मुहैया कराएं।

इस व्यवस्था का एक फायदा यह होता है कि यह जानकारी पाठ्य पुस्तक का अंग नहीं बनती। इसलिए शिक्षक अपने विवेक से, कक्षा व बच्चों की स्थिति को देखकर तय कर सकते हैं कि कितनी जानकारी दी जाए और किस तरह दी जाए। इसे बाल वैज्ञानिक को जानकारी के बोझ से बचाने का एक तरीका भी माना जा सकता है। मगर साथ ही नुकसान यह होता है कि पूरा मामला शिक्षक की तैयारी, समझ व हुनर पर टिक जाता है। दरअसल यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें नवाचार की ज़रूरत है।

वैसे इस संदर्भ में शिक्षक निर्देशिका, पूरक पठन सामग्री, बाल वैज्ञानिक के टीका सहित संस्करण वगैरह के विचार थे मगर उनके परिणाम आशाजनक नहीं रहे हैं।

बाद के संस्करणों में इस संदर्भ में थोड़ा ज्यादा उदार नज़रिया अपनाया गया था। इसके अंतर्गत तीसरे संस्करण में कई बदलाव किए गए और कुछ पूरक पठन सामग्री तो पुस्तक में ही शामिल कर दी गई।

जानकारी सम्बन्धी उदारता खास तौर से तीसरे संस्करण में देखी जा सकती है। एक तो यह मत बन रहा था कि बाल वैज्ञानिक के अध्यायों का ढांचा काफी सपाट व रुखा है। इनमें प्रयोग-प्रश्न-प्रयोग-प्रश्न का एक सख्त सिलसिला चलता है।

इस बारे में सवाल उठने लगे थे कि बागेर किसी अपेक्षा के प्रयोग करने से अवलोकनों और निष्कर्षों पर क्या असर पड़ता है। जैसे कार्यक्रम की एक स्रोत व्यक्ति अनीता रामपाल द्वारा कुछ स्कूलों में किए गए एक अध्ययन से पता चला था कि यदि कोई अपेक्षा न हो, कोई परिकल्पना न हो, तो बच्चे ऐसे अवलोकन भी नहीं कर पाते जो हमें एकदम साफ नज़र आते हैं। जैसे एक पुष्टे के नीचे चुंबक रखकर उस पर लोहे का बुरादा बिखराकर थोड़ा ठोंके तो चुंबकीय बल रेखाएं हमें एकदम साफ नज़र आती हैं मगर बच्चों के लिए वे बेतरतीब बिखरा लोहे का बुरादा ही रहीं। वैसे भी यह लगने लगा था कि बाल

वैज्ञानिक में किसी प्रयोग को क्यों किया जा रहा है, यह बताए बगैर ही अधिकांश प्रयोग शुरू किए जाते हैं। इससे प्रयोग करने का जोश कम होता है और बच्चे विज्ञान के एक प्रमुख तत्व से वंचित रह जाते हैं कि प्रयोग करने से पहले कुछ न कुछ परिकल्पना दिमाग में होती है।

एक बात यह भी उभरने लगी थी कि करके सीखों के चक्कर में सीखने के कुछ अन्य पहलुओं की उपेक्षा हो रही है। जैसे, अन्य वैज्ञानिकों द्वारा किए गए प्रयोगों के विवरण पढ़कर तर्क करना, वैज्ञानिकों द्वारा किए गए कार्यों को पढ़ना, किसी विषय को सीखने में उसके इतिहास का उपयोग करना, किसी विषय के बारे में रोचक विवरण पढ़ना और अपनी गतिविधियों को एक परिप्रेक्ष्य में रखकर देख पाना बगैरह। सीखने के इन पहलुओं को लेकर होशंगाबाद विज्ञान समूह में काफी तीखी बहसें हुईं। कुछ लोगों को लगता था कि ये सब विज्ञान की प्रयोग आधारित खोज प्रकृति को दुर्बल बनाएंगे। ये विवरण किस्से-कहानियों के रूप में प्रयोगों पर हावी हो जाएंगे। खुद करने की प्रक्रिया कमज़ोर पड़ेगी।

इसी दौरान एक बात और स्पष्ट हो चली थी कि ‘जानकारी’ का मतलब सिर्फ यह नहीं होता कि प्रयोगों के निष्कर्ष बता दिए जाएं या नियम व परिभाषाएं लिख दिए जाएं। ज्यादा व्यापक अर्थों में जानकारी का अर्थ यह है कि ऐसी विवरणात्मक पाठ्य वस्तु हो, जो बच्चों को सोचने के प्रेरित करे, उनके सामने ज्यादा व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करे, सीखी गई बातों को विविध संदर्भों से जोड़ने का काम करे।

बाल वैज्ञानिक के संदर्भ में एक बात और सामने आ रही थी। वह बात यह थी कि सख्त ‘करके सीखो’ का मुस्तैदी से पालन करने के कारण कई विषय अधबीच में छूट जा रहे हैं। जैसे पौधों का पोषण, बल, फसलें, वृद्धि, परिवर्धन वगैरह। कारण यह था कि बाल वैज्ञानिक किसी विषय को वहीं तक ले जाती थी जहां तक प्रयोग - मिडिल स्कूल के स्तर पर करने योग्य प्रयोग - उपलब्ध हों। दूसरी ओर इसका एक दूसरा असर भी हो रहा था। कई विषय ऐसे थे जिनके लिए बहुत अच्छे प्रयोग उपलब्ध थे। मगर इन प्रयोगों को करने के बाद तर्क का जो स्तर ज़रूरी था वह शायद मिडिल स्कूल के बच्चों (खासकर उपलब्ध शिक्षकों के साथ) की पहुंच के बाहर था। मगर ये विषय बाल वैज्ञानिक में शामिल थे। ‘आकाश की ओर’ और ‘संयोग और संभाविता’ (प्रथम संरक्षण के स्वरूप में) इसके अच्छे उदाहरण हैं।

बाल वैज्ञानिक को लेकर एक समस्या यह भी सामने आई थी कि कक्षा के बाद जब पालक अपने बच्चों के साथ किताब को लेकर बैठें, तो करें क्या यह समझ नहीं आता था। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि बाल वैज्ञानिक की कल्पना कभी भी एक स्वयंपूर्ण (stand -alone) किताब के रूप में नहीं की गई थी। हालांकि बाल वैज्ञानिक बच्चों को संबोधित है मगर वास्तव में यह एक प्रक्रिया निर्धारित करती है जिसे बच्चे और शिक्षक मिलकर आगे बढ़ाते हैं। प्रश्न बच्चों से पूछे गए हैं मगर यह अपेक्षा नहीं है कि प्रत्येक बच्चा अकेले बैठकर प्रयोग करे और उन प्रश्नों के उत्तर लिख दे। मिल-जुलकर शिक्षक की मदद से प्रश्नों के उत्तर खोजना ही सीखने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को संचालित करने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण है। मगर पालक?

पूरक सामग्री: एक मरीचिका

वैसे ऐसा कभी न रहा कि हो.वि.शि.का. समूह ने बच्चों के लिए जानकारी के महत्व को नहीं समझा था, हालांकि यह समझ बदलती रही है। जैसे, 1983 में समझ थी कि “हमारी ओर से जानकारी नहीं दी जाएगी। मगर बच्चों के प्रयोग को आगे बढ़ाने के लिए या बच्चों के द्वारा विश्लेषण को आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी होने पर हमने वह जानकारी सोच समझकर, नपी-तुली मात्रा में दी।”

इससे स्पष्ट है कि जानकारी को सीखने का जरिया कदापि नहीं माना गया था। जब कोई और विकल्प नहीं रहा, तब जानकारी एक समझौते के रूप में दी गई। और इसमें भी काफी कंजूसी बरती गई (नपी-तुली मात्रा)। इसके पीछे एक ही डर झलकता है कि जानकारी का समावेश हुआ और रटना शुरू हो जाएगा। मगर जानकारी को लेकर इस समझ का साकार रूप थेगलों के रूप में सामने आता है। यह

जानकारी पूरी प्रक्रिया के अभिन्न अंग के रूप में नहीं बल्कि एक समझौते के रूप में ही दी जाती है।

जीव विज्ञान के अध्यार्थों के संदर्भ में जानकारी की समस्या को शुरू से ही पहचाना गया था। जैसे 1990 में जीव विज्ञान के अध्यार्थों पर लिखी गई एक टीप में कहा गया था: “जीव विज्ञान की प्रकृति के चलते यह संभव नहीं है कि इसमें वही तरीका अपनाया जा सके जो भौतिकी और रसायन में अपनाया गया था। जीव विज्ञान में आप जानकारी, परिभाषाओं और पारिभाषिक शब्दों से पूरी तरह कन्नी नहीं काट सकते।”

बहरहाल, धीरे-धीरे सीखने में जानकारी, विवरणों के महत्व को लेकर जागरूकता बढ़ रही थी। यह बात कई अलग-अलग ढंग से व्यक्त हो रही थी। जैसे शिक्षक प्रशिक्षणों में यह बात ज़ोर पकड़ने लगी थी कि शिक्षकों को सम्बंधित विषय वस्तु की ‘अतिरिक्त जानकारी’ दी जाए। साथ ही यह डर भी व्यक्त किया जा रहा था कि शिक्षकों की आदत है कि उन्हें जानकारी मिली नहीं कि वे इसे बच्चों पर लाद देंगे। दूसरी बात शिक्षक निर्देशिका की उठ रही थी। ऐसा सोचा जा रहा था कि शिक्षक निर्देशिकाओं में शिक्षकों को वह जानकारी प्रदान की जाएगी जिसकी ज़रूरत कक्षा में चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए हो सकती है। शिक्षक निर्देशिका के अनुभव की बात हम अलग से करेंगे।

1985 अक्टूबर में बाल वैज्ञानिक संशोधन के संदर्भ में विचार विमर्श के लिए एक कार्यशाला आयोजित की गई थी। कार्यशाला के दौरान बाल वैज्ञानिक के लगभग सारे अध्यार्थों की बारीक समीक्षा की गई थी और उनमें सुधार के सुझाव दिए गए थे। कई अध्यार्थों में यह सुझाव आया था कि जानकारी की ज़रूरत है। कई बार यह कहा गया था कि अतिरिक्त जानकारी शिक्षक निर्देशिका में शामिल की जाए, कहीं-कहीं कहा गया कि पूरक सामग्री के रूप में दी जाए। मगर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि यह पूरक सामग्री कहां व किस रूप में दी जाएगी और बच्चों तक किस तरह पहुंचाई जाएगी। इस स्पष्टता के अभाव में यह कार्य साकार रूप नहीं ले पाया। वैसे इस समय तक एकलव्य द्वारा बच्चों के लिए एक पत्रिका चकमक का प्रकाशन होने लगा था और एक सोच था कि यह पत्रिका बच्चों के लिए पूरक सामग्री का काम करेगी। मगर इस विचार पर कई सवाल हो सकते हैं और उसकी समीक्षा हम यहां नहीं करेंगे।

वैसे एक सुझाव और आया था कि बाल वैज्ञानिक में कुछ हिस्से ऐसे जोड़े जाएं जिन्हें साफ तौर पर चिह्नित कर दिया जाए कि इनके बारे में परीक्षा में प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे। इससे पता चलता है कि परहेज़ जानकारी देने से उतना नहीं था जितना यह डर था कि जानकारी को रटने का दबाव होगा।

बहरहाल द्वितीय संरकरण बनाते समय स्वयं बाल वैज्ञानिक में जानकारी जोड़ने का निर्णय नहीं लिया गया। कम से कम यह तो किसी ने नहीं कहा कि जानकारी को सीखने के एक साधन के रूप में शामिल किया जाए।

इस सम्बंध में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर केंद्र सरकार द्वारा गठित गांगुली समिति की रिपोर्ट रही।⁶ जहां गांगुली समिति ने अपनी रिपोर्ट में होशंगाबाद विज्ञान के पाठ्यक्रम के उद्देश्यों और पद्धति से पूरी सहमति जताई, वहीं उसमें इस बात पर चिंता ज़ाहिर की गई कि बाल वैज्ञानिक में ‘विज्ञान की प्रक्रिया और विज्ञान के उत्पाद’ के बीच एक असंतुलन है और इसमें विज्ञान के उत्पाद की उपेक्षा हुई है। ‘विज्ञान के उत्पाद’ से आशय विज्ञान की परिभाषाओं, नियमों, सिद्धांतों वगैरह से था। गांगुली समिति की सिफारिश थी कि हो.वि.शि.का. समूह इस असंतुलन को दूर करे। 1994 में शुरू किए गए संशोधन में गांगुली समिति की रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण संदर्भ बिंदु रही थी।

गांगुली समिति ने जानकारी के मामले जो बात उठाई थी उसका सम्बंध इस बात से था कि बच्चों को ‘विज्ञान का संचित ज्ञान’ पहुंचाने की क्या व्यवस्था है। हो.वि.शि.का. समूह की समझ यह रही है कि कम

⁶ हो.वि.शि.का. के राज्य स्तरीय प्रसार के संदर्भ में एन.सी.ई.आर.टी. के प्रो. बी. गांगुली की अध्यक्षता में छ: सदस्यीय विशेषज्ञ समिति

से कम मिडिल स्कूल के स्तर पर बच्चों को अपने अनुभव तथा कक्षा में किए जा रहे प्रयोगों के विश्लेषण के माध्यम से खोजकर सीखना चाहिए। इस प्रक्रिया को लेकर कई सवाल हो सकते हैं। जैसे एक सवाल यह उठता रहा है कि इस प्रक्रिया से सीखे गए सिद्धांत उस संदर्भ विशेष में ही स्थित होते हैं, नए संदर्भों में इनका उपयोग नहीं हो पाता। मगर जैसा कि पहले कहा गया, बाल वैज्ञानिक में लगातार यह कोशिश की गई थी कि जो भी सिद्धांत सीखें उन्हें विभिन्न परिस्थितियों पर लागू करके देखें। परीक्षा में भी इस तरह के सवाल पूछे जाते थे जहां उनको सिद्धांतों को अपरिचित परिस्थितियों पर लागू करना होता था। दरअसल हो.वि.शि.का. समूह का मत रहा है कि जिस ढंग से पाठ्य पुस्तकों में परिभाषाएं दी जाती हैं, उन्हें याद करके यह मुगालता तो पैदा हो सकता है कि सीख गए हैं मगर वे बच्चों की समझ का अंग नहीं बनती। हो.वि.शि.का. समूह का आग्रह यह कदापि नहीं था कि बच्चे आजीवन खुद प्रयोग करके ही सीखेंगे। मगर यह आग्रह ज़रूर था कि हो.वि.शि.का. बच्चों को आगे अन्य विधियों से सीखने के लिए आवश्यक वैज्ञानिक हुनर व ठोस धरातल से लैस कर दे।

वैसे इसमें समूह की एक सीमा को भी देखा जा सकता है। जानकारी को इस रूप में प्रस्तुत करना कि वह सोच की प्रक्रिया को बढ़ावा दे, इसका कोई मॉडल था नहीं। जानकारी-आधारित पाठ्य वस्तु के जो मॉडल सामने थे वे सब इस प्रकार के थे जिनमें दी गई किसी भी जानकारी को याद कर लेने की ही बात होती थी। इसलिए समूह के सामने चुनौती थी कि इसके सर्वथा नए स्वरूप विकसित करे। जब भी जानकारी देने की बात होती थी, तो वह इस रूप में ली जाती थी कि वह प्रयोगों, गतिविधियों का स्थान ले लेगी, खोज करने का आनंद समाप्त कर देगी या प्रयोग करने की अनिवार्यता पर आंच आएगी। ये बातें हो.वि.शि.का. समूह को अस्वीकार्य थीं। जब सृजनात्मता की इस सीमा को तोड़ा गया तो समूह ने जानकारी आधारित अध्यायों को भी सहर्ष स्वीकार किया। तीसरे संस्करण में कई ऐसे अध्याय शामिल किए गए थे जिनमें जानकारी या विवरणों को सीखने की प्रक्रिया में गुथा गया था। इनमें ‘फसलों के सवाल-जवाब’, ‘पौधों में पोषण’, ‘कहां-कहां नहीं है बल’ वगैरह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाठ्यक्रम का लचीलापन

हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम की समझ एक पाठ्य पुस्तक तक सीमित नहीं रही। समझ तो यह थी कि बाल वैज्ञानिक का प्रत्येक अध्याय किसी विषय वस्तु पर आधारित ज़रूर है मगर इसके माध्यम से वैज्ञानिकी पद्धति को उभारना हर अध्याय का मकसद है। यह हो सकता है कि अलग-अलग अध्यायों में इस पद्धति के अलग-अलग तत्व रेखांकित होते हैं। अब यह शिक्षक पर है और बच्चों की तैयारी पर है कि किसी कक्षा विशेष में वह अध्याय क्या स्वरूप लेता है। इसमें शिक्षक की रुचि व दक्षता, कक्षा के माहौल वगैरह जैसी चीज़ों का हाथ भी होता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक अध्याय इतने समय में पढ़ा दिया जाएगा और उसे पढ़ाने के बाद बच्चे फलां-फलां चीज़ें सीख जाएंगे। यह तो इस बात पर निर्भर करेगा कि उस कक्षा में उस अध्याय की परतें किस तरह खुलती हैं। विजय वर्मा के शब्दों में, “हमने खुद सीखने पर ज़ोर दिया है। इस प्रक्रिया में यह ज़रूरी नहीं है कि शिक्षक ही मार्गदर्शक हो, ज़रूरी यह है कि बच्चे भी उसमें भाग लें।”

इस लचीलेपन के चलते शिक्षकों को बहुत दिक्कत होती थी। वे एक ऐसे पाठ्यक्रम के आदी थे जिसमें सब कुछ पहले से तय होता है, उन्हें सिर्फ पाठ्य पुस्तक लेकर पाठ पूरा करना होता है। दूसरी ओर, यहां तो कभी कोई प्रयोग हुआ और उसकी चर्चा लंबी खिंच गई, तो दिन उसी में निकल गया। या कोई प्रयोग ठीक से नहीं हो पाया, तो आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। या किसी बच्चे या टोली के अवलोकन अलग आ गए तो समय खप गया। दरअसल खोज पद्धति अपनाने के ये ‘जोखिम’ तो मानकर ही चलने होंगे। शिक्षक प्रशिक्षण में तो कई बार ऐसा हुआ है कि किसी प्रयोग में से कोई ऐसा सवाल निकला कि उसे लेकर नए-नए प्रयोग होने लगे और अध्याय व आपकी योजना धरी की धरी रह गई।

आम तौर पर शिक्षा विभाग में एक परंपरा है। हरेक शिक्षक को एक सिलेबस बनाना होता है। कई बार

द्वितीय प्रारूप

यह सिलेबस शिक्षा विभाग बनाकर देता है। इसमें हरेक अध्याय में लगने वाले पूर्व निर्धारित समय के हिसाब से साल भर का एक कार्यक्रम होता है। इसे इकाईवार योजना भी कहते हैं। बाल वैज्ञानिक के लिए ऐसा सिलेबस बनाना असंभव है। शिक्षकों और शिक्षा विभाग ने हो.वि.शि.का. समूह से बार-बार आग्रह किया कि एक सिलेबस तैयार किया जाए। काफी समय तक समूह ने इसका प्रतिरोध किया भगवर अंततः हारकर एक सिलेबस बनाया और प्रसारित किया। इस सिलेबस को प्रसारित करते हुए हो.वि.शि.का. समूह की पीड़ा का अंदाज सिलेबस के कवरिंग पत्र से लगाया जा सकता है:

“प्रस्तुत इकाईवार विज्ञान पाठ्यक्रम हमारा आपसे व शासकीय मान्यताओं से चार वर्षों से चल रहे वार्तालाप के बाद एक समझौता है। हमारे विचार में प्रयोगनिष्ठ और क्रिया आधारित शिक्षण की शैली एवं इकाईवार योजनाबद्ध पाठ्यक्रम में परस्पर विरोधाभास है। इसलिए हमारा आपसे अनुरोध है कि इस योजना को मात्र न्यूनतम आधार ही मानें, एक सीमा नहीं। आपके उत्साह, कल्पना शक्ति एवं पहल को एक चुनौती दी जा रही है कि प्रस्तुत इकाईवार योजना के बंधनों को तोड़कर आप अपने विद्यार्थियों को स्वतंत्र चिंतन के लिए प्रेरित करें। हमें यह विश्वास है कि यदि आप संलग्न इकाईवार योजना की सीमाओं से बाहर निकल सके तो विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को नई दिशा मिलेगी।”
(जनवरी 9, 1977)

वैसे यह बात पाठ्यक्रम निर्माण की किसी भी प्रक्रिया के लिए मौजूद है – खासकर पूरे देश के लिए पाठ्यक्रम बनाते हुए तो यह एक बुनियादी बात होनी चाहिए। मगर 1978 में ज़िला स्तरीय प्रसार के समय हो.वि.शि.का. समूह के लिए यह आवश्यक हो गया कि एक पुस्तक हो जिसे कक्षा में पूरा कराया जाए। तो बाल वैज्ञानिक बनने के साथ ही हो.वि.शि.का. का सिलेबस अश्मीभूत हो गया और उसका लचीलापन समाप्त हो गया। पता नहीं अच्छा हुआ या बुरा।

उपरोक्त विवरण से ज़ाहिर है कि हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम बाल वैज्ञानिक से काफी आगे जाता है। बाल वैज्ञानिक के अध्याय इस पाठ्यक्रम के विभिन्न तत्वों को साकार रूप देने की प्रक्रिया निर्धारित करते हैं। इस प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं की वर्चा हम आगे विस्तार में करेंगे। हम यह भी देखेंगे कि प्रथम संस्करण (1978) से लेकर तीसरे संस्करण (2000) तक इनका विकास किस तरह हुआ है।

मगर आगे बढ़ने से पहले बाल वैज्ञानिक के एक सामान्य अध्याय की संरचना देखना उपयोगी होगा। अगले अध्याय में हम न सिर्फ बाल वैज्ञानिक के अध्याय की सामान्य संरचना देखेंगे वरन् पाठ्यक्रम के कुछ और तत्व भी उभराने का प्रयास करेंगे।

बाल वैज्ञानिक अध्याय की संरचना

यह पूरी चर्चा मूलतः बाल वैज्ञानिक के प्रथम संस्करण (1978-80) के संदर्भ में है मगर ज़रूरत होने पर साथ-साथ बाद के संस्करणों का जिक्र भी किया गया है।

बाल वैज्ञानिक के अध्याय सही मायनों में खुद खोज करने की पद्धति पर आधारित हैं। इनके अलग-अलग रूपों की चर्चा तो बाद में करेंगे, पहले एक सामान्य ढांचे की बात करना मुनासिब होगा। बाल वैज्ञानिक के अध्यायों के सारांश अगले खंड में प्रस्तुत किए गए हैं।

बाल वैज्ञानिक में अध्यायों में विषय के प्रस्तुतीकरण में एक खास ढंग की योजना है। पर्यावरण के किसी आधार को लेकर शुरुआत होती है। कुछ प्रश्नों के माध्यम से बच्चों के पास पहले से जो जानकारी है उसको उभारा जाता है, व्यवस्थित किया जाता है। इसके बाद उस विचार को आगे बढ़ाने के लिए कुछ प्रयोग किए जाते हैं और हर प्रयोग के निर्देश देने के बाद उन प्रयोगों से जुड़े सवाल, एक बढ़ते हुए क्रम में दिए जाते हैं। आम तौर पर ये वे सवाल हैं जो अनुभव से अनुमान किया गया है कि उठेंगे और उठने चाहिए। अपेक्षा यह है कि जो आंकड़े इकट्ठे किए गए हैं बच्चे उनको समझेंगे और दिए गए सवालों की मदद से निष्कर्ष निकालेंगे। यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

अध्यायों की शुरुआत की बात करते हैं। बाल वैज्ञानिक के अध्यायों की शुरुआती भूमिका में काफी विविधता नज़र आती है। कुछ अध्यायों में कुछ प्रश्नों के माध्यम से बच्चों की समझ को उभारा जाता है। जैसे कक्षा 7 के अध्याय ‘आयतन’ में:

“एक लोटा चाय से कितने प्याले भरे जा सकते हैं?
तुम अपनी गाय का दूध कैसे नापते हो?
क्या एक पाई धान और एक पाई गेहूं का बार बराबर होगा?
यदि इनका भार बराबर नहीं है, तो इनमें किस तरह की बराबरी है?”

कुछ अध्यायों की शुरुआत किसी प्रयोग या गतिविधि के साथ होती है, जिसके माध्यम से बच्चों के सामने उस अध्याय से सम्बंधित कुछ सवाल उठाए जाते हैं। जैसे कक्षा 8 के अध्याय ‘चीज़ें क्यों तैरती हैं?’ में:

यदि हम बाल वैज्ञानिक के प्रथम संस्करण (1978-80) को देखें तो अध्याय की शुरुआत बहुत अचानक होती है। लगभग कोई भूमिका प्रस्तुत नहीं की जाती। आगे चलकर यह आलोचना का एक प्रमुख बिंदु बना था। दरअसल बाल वैज्ञानिक अध्यायों में सिर्फ शुरुआत में ही नहीं, पूरे अध्याय में एक abruptness दिखती है।

कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट करते हैं। कक्षा 6 के अध्याय निम्नानुसार शुरू होते हैं:

अध्याय 2 समूह बनाना सीखो “कक्षा के सब बच्चों के नाम क्रमवार कापी में लिखो। (1)”

अध्याय 6 बल और भार “बल क्या है? पानी से भरी बाल्टी हो या गल्ले की बोरी - किसी भी तरह का बोझ उठाने पर अपने शरीर में खिचाव महसूस होता है।

क्या कुएं से पानी खींचते समय या हल चलाते समय भी ऐसा होता है? (1)”

अध्याय 8 बीज और उनका अंकुरण “गांव का जीवन खेती के जीवन से जु़़ा हुआ है। आम तौर पर खेती की शुरुआत बीज से होती है।

उन कफलों की सूची बनाओ जिनकी शुरुआत बीज से नहीं होती। (1)”

अध्याय 9 विद्युत-1 “तैयारी - विद्युत के प्रयोग करने के लिए घर से टॉर्च या रेडियो में से सेल निकाल लाना। प्रयोग करने के बाद सेलों को वापिस टार्च या रेडियो में ही लगा देना।”

अध्याय 11 दूरी नापना “पहले बताओ गिल्ली डंडे के खेल में गुच्छक से गिल्ली की दूरी कैसे नापते हो? (1)”

ये कुछ अध्यायों के उदाहरण हैं जिनमें शुरुआत किसी सवाल से निर्देश से की गई है। अन्य अध्यायों में संक्षिप्त सी भूमिका दी जाती है। यह पैटर्न बाल वैज्ञानिक में हर मोड़ पर मिलेगा।

“तुमने देखा होगा कि कुछ चीज़ें पानी पर तैरती हैं और कुछ झूब जाती हैं। क्या कभी पानी पर तैरने वाली चीज़ों को मिट्टी के तेल में डालकर देखा है?

एक उफननली लो और उसे पानी से आधा भरो। उसमें लगभग 15-20 मि.ली. मिट्टी का तेल डालो। अब प्लास्टिक के 2-3 रंग बिरंगे बटन, 1-2 आलपिन, माचिस की तीली के टुकड़े, कागज के टुकड़ों की गोलियां छोटे कंकड़, थोड़ी सी रेत, मोस के टुकड़े इत्यादि वस्तुएं एक-के-बाद-एक उफननली में डालो और देखो कि क्या होता है।

उफननली के मुंह को हाथ से ढंककर उसे अच्छी तरह हिलाकर रख दो। कुछ देर बाद देखो कि क्या होता है।

...इस खेल में ये चीज़ें अलग-अलग करतब क्यों दिखाती हैं? कौन-सी चीज़ें किस द्रव में झूबेंगी और किस में तैरेंगी? लोहे को भी पानी पर कैसे तैराया जा सकता है? इन सवालों के उत्तर इस अध्याय में मिलेंगे।”

इसके बाद बाल वैज्ञानिक के प्रत्येक अध्याय में बच्चों को कुछ प्रयोग या गतिविधि करने के निर्देश दिए गए हैं। हरेक प्रयोग करने के बाद कुछ सवाल पूछे गए हैं जो बच्चों को अपने अवलोकन रिकॉर्ड करने, उन अवलोकनों का विश्लेषण करने तथा उनसे निष्कर्ष निकालने में मदद करते हैं। यह एक मोटा-मोटा खाका है। यदि कोई व्यक्ति सिर्फ बाल वैज्ञानिक का अध्याय देखे तो उसे बाल वैज्ञानिक में विषयवस्तु की गहराई का आभास नहीं मिलता क्योंकि बाल वैज्ञानिक के अध्याय पढ़कर पता ही नहीं चलता कि ये कक्षा में क्या चमत्कार पैदा कर सकते हैं। उसे समझने के लिए कई अन्य बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

एक मायने में बाल वैज्ञानिक एक अधूरी किताब है। इसमें तो सिर्फ प्रयोग करने की विधि और सवाल हैं। इन सवालों के जवाबों के साथ ही यह पूरी होती है। इस बात को बाल वैज्ञानिक (कक्षा 6, 1978) में सवालीराम ने इन शब्दों में व्यक्त किया था: “तुम्हारी किताब में हर प्रयोग और परिभ्रमण के बाद कई सवाल दिए गए हैं। हर सवाल के सामने उसका नम्बर भी दिया गया है।...तुम अपनी कॉपी में हर सवाल का नम्बर डालकर जवाब लिखना। तुम्हारी किताब में सवाल हैं और अब कॉपी में जवाब। दोनों को फिर मिलाने पर पूरी किताब बनेगी।” सवालीराम हो.वि.शि.का. के तहत गढ़ा गया एक काल्पनिक पात्र है जो बच्चों से जीवंत संवाद का माध्यम था। सवालीराम के अनुभवों की चर्चा आगे की जाएगी।

मगर बात सिर्फ सवाल और जवाब की नहीं है। सवालों और जवाबों के बीच एक पूरी प्रक्रिया है जिससे होकर ये जवाब मिलते हैं। वह प्रक्रिया है प्रयोगों की, अवलोकनों की, चर्चा की, आंकड़ों के प्रस्तुतीकरण की, विश्लेषण की, सिद्धांत व नियम विकसित करने की। इस बात को बाल वैज्ञानिक (कक्षा 8, 1989) में सवालीराम ने इन शब्दों में कहा था: “बाल वैज्ञानिक में दिए गए प्रयोग करके तुम्हें प्रश्नों के उत्तर खुद खोजने हैं। फिर आपस में चर्चा करके सही-गलत का निर्णय भी तुम्हें ही करना है। अब यदि यह सब किए बिना ही प्रश्नों के उत्तर तुम्हें कहीं से मिल जाएं, तो क्या तुम कभी उत्तर खोजने का तरीका खोज पाओगे?...अब बताओ जो व्यक्ति तुम्हें बने-बनाए उत्तर दे देता है, वह तुम्हारा फायदा करता है या तुकसान?” यह बात उस समय लिखी गई थी जब कुछ शिक्षकों ने सवालों के उत्तर लिखावाकर खोज पद्धति में सेंधमारी शुरू कर दी थी। कुछ प्रकाशकों ने बाल वैज्ञानिक की ‘कुंजियां’ भी प्रकाशित कर दी थीं और पुस्तक विक्रेताओं द्वारा दबाव डालकर इन्हें बेचा जा रहा था। दबाव बनाने का एक तरीका यह था कि कुंजी खरीदे बगैर किताब नहीं मिलेगी। वैसे ये कुंजियां कभी लोकप्रिय नहीं हो पाईं।

बाल वैज्ञानिक के प्रत्येक अध्याय में पाठ्यक्रम के लगभग सारे अंगों का समावेश है। इसलिए यह शिक्षक की अभिरुचि, हुनर, आत्म विश्वास, सम्बंधित विषय की जानकारी व समझ और बच्चों की तैयारी व कक्षा के माहौल पर निर्भर है कि पाठ्यक्रम के तत्त्व किन अध्यायों में सर्वोत्तम ढंग से प्रकट होंगे। इस दृष्टि से देखें तो बाल वैज्ञानिक के हरेक अध्याय के दो पक्ष हैं और दोनों बराबर महत्व के हैं। पहला पक्ष है विषयवस्तु का। अध्याय चुंबक से सम्बंधित हो सकता है या भोजन व पाचन क्रिया से। मगर दूसरा पक्ष सभी अध्यायों

में लगभग एक-सा है; वह है विज्ञान की पद्धति का। यानी प्रयोग करना, अवलोकन करना, अवलोकनों को रिकॉर्ड करना, उन्हें व्यवस्थित रूप देना, पैटर्न पहचानना, तार्किक विश्लेषण करना, निष्कर्ष निकालना, उस निष्कर्ष को तर्क व अनुभव की कस्टौटी पर कसना, तर्क करना, और इस सबको अपने शब्दों में व्यक्त करना। इन तत्वों को विषय वस्तु में गुथने का काम अध्याय करते हैं। सवाल सिर्फ यह है कि किस कक्षा में कौन-से अध्याय में ये तत्व बखूबी उभरकर आते हैं। इसीलिए 'विज्ञान की विधि' या 'जीवन में विज्ञान' पर अलग से एक व्याख्यान देने की ज़रूरत कभी महसूस नहीं की गई।

यहां एक बात का ज़िक्र मुनासिब होगा। शुरू से ही लग रहा था कि जीव विज्ञान के सारे अध्यायों को इस सामान्य ढांचे में नहीं ढाला जा सकता। जहां भौतिकी व रसायन से जुड़े विषयों में प्रयोगों को आधार बनाना अपेक्षाकृत आसान है, वहीं जीव विज्ञान में इतनी कठोरता से इसका पालन करना मुश्किल है। कई जगह पर पारिभाषिक शब्द या परिभाषाएं और जानकारी देना आवश्यक हो जाता है। हर चीज़ को प्रयोग करके दिखाया नहीं जा सकता। इसलिए मोटे तौर पर देखें तो बाल वैज्ञानिक में जीव विज्ञान के अध्याय तीन प्रकार के हैं:

1. बड़ी संख्या में अध्याय परिभ्रमणों पर आधारित हैं और इस प्रकार से बच्चों को उनके पर्यावरण से परिचित कराने का प्रयास करते हैं, जिसमें जंतु व पौधे जीते हैं। पत्तियों, जड़ों, फसलों, फसलों के कीटों और रोगों, जंतुओं के जीवन चक्र, कीट वगैरह से सम्बंधित अध्याय इस श्रेणी में आते हैं।

2. कुछ अध्याय कक्षा में किए गए प्रयोगों पर आधारित हैं। जैसे, बीज व उनका अंकुरण, भोजन व पाचन क्रिया, संवेदनशीलता, वृद्धि, विकास, श्वसन, आंतरिक अंग और सूक्ष्मदर्शी से अवलोकन इस प्रकार के अध्यायों के उदाहरण हैं।

3. तीसरे किस्म के अध्याय वे हैं जो मूलतः बच्चों के पूर्व ज्ञान के आधार पर चर्चा पर टिके हैं। जैसे, सजीव और निर्जीव, वर्गीकरण और जंतुओं में प्रजनन।

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में वैसे तो विभिन्न घटक एक साथ गुथे गए थे मगर इनकी बात अलग-अलग करना मुनासिब है। इससे इन घटकों को विस्तार से देखने में मदद मिलेगी और यह भी स्पष्ट होगा कि पाठ्यक्रम के स्तर पर बनी समझ को ठोस रूप कैसे दिया गया।

प्रयोग व गतिविधियाँ

प्रयोग और गतिविधियों के निर्देश काफी विस्तार में दिए गए हैं। ये निर्देश लिखित रूप में भी हैं और चित्रों के माध्यम से समझाए भी गए हैं। प्रयोग के निर्देशों को अपने-आप में पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है ताकि बच्चे इन्हें पढ़कर खुद वह प्रयोग कर सकें।

आम पाठ्य पुस्तकों के विपरीत बाल वैज्ञानिक में लगभग कहीं भी प्रयोग के निर्देश देने के बाद उसके अवलोकन या निष्कर्ष नहीं दिए गए हैं। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि बाल वैज्ञानिक में भरसक कोशिश की गई है कि बच्चों को तनिक भी आभास न मिले कि किस तरह के अवोलकन की उम्मीद करें। इस प्रयास में कभी-कभी लगता है कि सवालों की संख्या बहुत अधिक हो गई थी और वे काफी पेचीदा हो गए थे। मगर प्रयोग करने में बच्चों की रुचि जगाने के लिए ज़रूरी है कि अवलोकन व निष्कर्ष पहले से मालूम न हों और न ही कहीं से पके-पकाए मिल जाएं।

प्रयोग करना ही पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है बल्कि इन प्रयोगों के अवलोकन की व्याख्या के लिए जूझना भी सीखने का एक प्रमुख अंग है। एन.सी.ई.आर.टी. आदि की पुस्तकों में 'करके सीखो' का बंटाढार इसीलिए होता है कि प्रयोग के निर्देशों के तत्काल बाद अवलोकन व निष्कर्ष बता दिए जाते हैं। इस मायने में बाल वैज्ञानिक में जानकारी नहीं है।

बाल वैज्ञानिक में प्रयोग/गतिविधि के अवलोकन व निष्कर्ष न देना एक सोचा समझा फैसला है। इसके

गलत अवलोकन

यह तो हो ही सकता है कि कोई प्रयोग करने के बाद बच्चे गलत अवलोकन ले लें। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि प्रयोग गलत ढंग से किया गया है या प्रयोग सही होने के बावजूद बच्चे सही (अपेक्षित?) अवलोकन रिकॉर्ड नहीं कर पा रहे हैं। ये दोनों ही स्थितियां कक्षा में उपस्थित होती हैं।

शासकीय माध्यमिक शाला, जुमेराती की शिक्षिका सरला नाफ़ड़े ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया था: “सरला बहिन ने कहा कि जब प्रयोग सफल नहीं होता, तो पता नहीं लगता कि अभ्यास पुस्तिका में क्या लिखें। सच ही लिखना चाहिए!” (अनुवर्तन रिपोर्ट, पंचापकेसन, 3 जुलाई 1976)

हो.वि.शि.का. पद्धति का तकाज़ा होगा कि उस प्रयोग को दोहराया जाए और ‘सफल’ किया जाए। उदाहरण के लिए 1973 की एक अनुवर्तन रिपोर्ट देखिए। यह रिपोर्ट शासकीय माध्यमिक शाला, मालाखेड़ी की है (अनुवर्तन रिपोर्ट, विजय वर्मा 1 व 6 नवंबर 1973)। प्रयोग है एक ब्यूरेट में से गिरने वाले पानी की मात्रा और समय का ग्राफ़ बनाना।

1 नवंबर 1973

समय के अध्याय में ब्यूरेट का प्रयोग। वे सब मानकर चल रहे हैं कि समय के बराबर अंतराल में बराबर पानी गिरता है। वे अपने प्रयोग पर विश्वास करने से इन्कार करते हैं जो दर्शाता है कि ऐसा नहीं होता। जब उन्होंने ब्यूरेट के सुराख से 5-5 सेकंड के लिए उंगली हटाकर प्रयोग दोहराया और देखा कि प्रयोग बार-बार करने पर नतीजे एक से आते हैं यानी अवलोकन reproducible हैं, तो कुछ बच्चों के मन में संदेह पैदा हुआ मगर अभी यह एहसास काफी प्रबल है कि प्रयोग असफल रहा है।

6 नवंबर 1973

उन्होंने शायद ब्यूरेट वाला प्रयोग नहीं दोहराया है। हमने प्रयोग फिर से सेट किया, फिर से पानी बूंद-बूंद गिरने की व्यवस्था की। पानी का स्तर घटने के साथ पानी का प्रवाह घटता जाता है मगर विद्यार्थी कहते हैं कि ऐसी गड़बड़ कचरे के कारण हो रही है। तो हमने यह प्रयोग फिर से किया और देखा कि नतीजे पहले से अलग थे - बच्चों को लगा कि वे सही कह रहे थे और खुश हो गए। हमने कुएं के पानी को छान लिया और उंगली से स्टॉपर का काम लेते हुए 5-5 सेकंड में (ब्यूरेट में) पानी की ऊंचाई नापी। जब उन्होंने देखा समय बीतने के साथ ऊंचाई में गिरावट कम होती जाती है तो कहने लगे कि कचरा फिर से गड़बड़ कर रहा है। मगर इस बार अवलोकन reproducible थे, इसलिए सबने बारी-बारी से ब्यूरेट खोलने-बंद करने और घड़ी देखने का काम किया। अंततः उन्हें यकीन हो गया कि बराबर समय अंतराल में बराबर पानी नहीं बहता है और यह कहना बंद कर दिया कि प्रयोग सफल नहीं हुआ।

पीछे समझ यह है कि यदि अवलोकन व निष्कर्ष दे दिए जाएंगे तो प्रयोग करने की न तो ज़रूरत रहेगी, न उत्साह रहेगा। जैसा कि अन्य पाठ्य पुस्तकों के साथ होता है, प्रयोग पढ़कर ही काम चल जाएगा। दरअसल यह बात बाल वैज्ञानिक को इस तरह के अन्य प्रयासों से एकदम अनूठा बनाती है।

वैसे लाल वैज्ञानिक में इस तरह का कोई आग्रह नहीं था। उसमें कई प्रयोगों के बाद निष्कर्ष रूप में बच्चों को समझाया जाता था कि उस प्रयोग या प्रयोगों की शृंखला से उन्होंने क्या सीखा है।

यहां यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि यदि कक्षा में प्रयोग ठीक से न हुए, अवलोकन ‘गलत-सलत’ आ गए तो आगे की पूरी प्रक्रिया का क्या होगा? यह सवाल एकदम वाजिब है मगर इसे एक समस्या के रूप में नहीं बल्कि एक चुनौती के रूप में देखा गया था। सबसे पहली बात तो यह है कि प्रयोग इतने सरल व सहज हों कि उनमें गलत होने की गुंजाइश बहुत कम हो। इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रयोगों में tolerance बहुत अधिक होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि यदि अवलोकन ठीक न आ रहे हों तो शिक्षक इसे भी एक शैक्षणिक अवसर के रूप में ले। इसकी चर्चा ‘कक्षा के अनुभव’ में की गई है।

वैसे यह स्वीकार करने में कोई हर्ज़ नहीं है कि यदि कक्षा में प्रयोग न हों तो सीखने-सिखाने की पूरी प्रक्रिया खटाई में पड़ जाएगी। बच्चे घर पर बाल वैज्ञानिक को पढ़कर काम नहीं चला सकते। इस दृष्टि से देखा जाए तो बाल वैज्ञानिक बहुत हद तक शिक्षक की सक्रियता की मांग करती है।

बाल वैज्ञानिक में दिए गए प्रयोगों के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये 'सत्यापन प्रयोग' नहीं हैं। यानी इन प्रयोगों का मकसद यह नहीं है कि पहले से ज्ञात किसी नियम या सिद्धांत की पुष्टि करना है। आम तौर पर हाई स्कूल व कॉलेज के स्तर पर विज्ञान में प्रयोगों का प्रावधान होता है मगर वहां प्रयोग सत्यापन के लिए होते हैं। शिक्षण में उस तरह के प्रयोगों की भूमिका के विश्लेषण में न जाते हुए भी यह बताना ज़रूरी है कि बाल वैज्ञानिक में प्रयोगों के आधार पर नियम व सिद्धांत आदि विकसित करना सीखने का प्रमुख आधार है।

तीसरी बात यह है कि, चंद अपवादों को छोड़कर, सारे प्रयोग बच्चों द्वारा खुद करने के लिए हैं, शिक्षक द्वारा प्रदर्शन के लिए नहीं।

प्रयोग में तुलना का प्रावधान

"खोज पद्धति के बुनियादी मुद्दे जल्दी ही उभरने लगे। उदाहरण के लिए वनस्पतियों के जीवन पर एक सत्र के दौरान किसी शिक्षक ने पूछा: "उर्वरक मिट्टी से पत्तियों तक कैसे पहुंच जाते हैं?" फौरन एक प्रयोग तैयार किया गया। एक टहनी काटकर लाल स्याही के घोल में रख दी गई। आधे घण्टे बाद पत्ती की शिराएं लाल हो चुकी थीं। निष्कर्ष ज़ाहिर था। मगर एक शिक्षक ने शंका ज़ाहिर की: "हम पक्का कैसे कह सकते हैं? हो सकता है कि शिराएं इसलिए लाल हो गई हैं क्योंकि हमने टहनी को काट दिया है। मैंने देखा है कि काटने पर सेब कत्थई हो जाते हैं।"

"हालांकि हमें यह सवाल काफी मामूली लगा मगर इसे अनदेखा भी नहीं किया जा सकता था। ऐसे सवाल ही तो खोज पद्धति की रीढ़ हैं जिनसे आगे प्रयोग करने के लिए कड़ियां बनती हैं। गर्मागरम बहस शुरू हो गई। तय किया गया कि इस प्रयोग में एक और टहनी होनी चाहिए जिसे सादे पानी में रखा जाए। 'तुलना के प्रावधान' यानी control की अवधारणा का जन्म हो चुका था।" (साइन्स ट्रुडे, दिसंबर 1977 में प्रकाशित लेख में एक शिक्षक शिविर का विवरण)

'सांप बीन की धून पर नाचता है।' इस कथन की सत्यता पर संदेह का कोई कारण नहीं है क्योंकि हर साल नाग-पंचमी के दिन संपरे सांप लेकर आते हैं, बीन बजाते हैं और सांप नाचता है। इस तरह के कई अवलोकन हैं जिनसे बहुत 'आसानी' से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। मगर यह 'आसानी' एक छलावा होती है। चाहे मानव जीवन पर ग्रहों का असर हो, दवाइयों के असर हों, झाड़-फूंक का असर हो, हर मामले में दिखता तो यही है कि अमुक किया करने पर फलां असर हुआ। मगर इसके आधार पर निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि अमुक किया करने के कारण फलां असर हुआ। वास्तव में इस तरह के मामलों में कई संभावनाएं होती हैं। जैसे हो सकता है कि ये दोनों बातें किसी तीसरे कारण की वजह से हमेशा साथ-साथ होती हैं। या यह भी हो सकता है कि संयोगवश ये साथ-साथ हुई हों। और यह भी हो सकता है कि इनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध हो।

आधुनिक विज्ञान में प्रयोग करना जानकारी प्राप्त करने, कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने और प्रमाण का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रमाण और कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयोग का उपयोग करते हुए कई बातों का ध्यान रखना होता है। कई मर्तबा ऐसा होता है कि एक ही प्रयोग में एक से अधिक कारक काम करते हैं और निष्कर्ष निकालने में दिक्कत होती है। इस तरह के भ्रम से बचने के लिए विज्ञान के प्रयोगों में कन्ट्रोल की अवधारणा विकसित हुई है।

कंट्रोलशुदा प्रयोग का भतलब यह होता है कि आप एक ही प्रयोग की उन सारी बातों को पहचानें जिन्हें बदलने पर कोई प्रभाव नज़र आता है और फिर इन्हें एक-एक करके बदलकर देखें। यानी एक कारक को बदलते हुए शेष सारे कारक नहीं बदलना चाहिए। मगर ऐसा करना हमेशा संभव नहीं होता। इसलिए तरीका यह अपनाया जाता है कि एक ही प्रयोग को एक साथ दो ढंग से किया जाए। दोनों में शेष समस्त बातें एक-सी हों, सिर्फ कोई एक चीज़ असमान हो। इन्हें हम तुलना के प्रावधान युक्त प्रयोग या कंट्रोलशुदा

द्वितीय प्रारूप प्रयोग कहते हैं।

बाल वैज्ञानिक में ऐसे प्रयोगों को खास महत्व दिया गया है। कक्षा 6-8 में कम से कम 8 ऐसे प्रयोग विशेष तौर पर शामिल किए गए हैं और ऐसे सवाल पूछे गए हैं जिनसे बच्चे इन प्रयोगों में तुलना के महत्व को स्पष्ट तौर पर देख पाएं। विज्ञान के किसी भी पाठ्यक्रम में ऐसे प्रयोगों का समावेश ज़रूरी है क्योंकि आम तौर पर दैनिक जीवन में हम लोग अपने अवलोकनों के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं और इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि उनमें तुलना का कोई प्रावधान नहीं था। सांप और बीन का मामला इसका एक उदाहरण है।

बाल वैज्ञानिक (1978 संस्करण) के ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं।

कक्षा	अध्याय	प्रयोग
6	भोजन और पाचन क्रिया	मंड पर लार का प्रभाव पौधों में पानी के साथ खनिज पदार्थों का ऊपर चढ़ना
6	संवेदनशीलता	पौधों में प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता पौधों में गुरुत्व के प्रति संवेदनशीलता
7	जल - मृदु और कठोर	विभिन्न लवणों का कठोरता पर प्रभाव
7	वृद्धि	वृद्धि में बीजपत्रों की भूमिका
7	पत्तियों में मंड और सूर्य का प्रकाश	मंड के निर्माण में प्रकाश की भूमिका
7	श्वसन	सांस की हवा के गुणधर्म
8	जंतुओं का जीवन चक्र	स्वतः जनन की अवधारणा की जांच
8	पौधों में प्रजनन	प्रजनन में नर की भूमिका

वैसे अन्य कई जगह पर बच्चों का ध्यान इस बात पर दिलाया गया है कि एक ही प्रयोग में एक से अधिक बातों का प्रभाव होता है और निष्कर्ष निकालते समय इस चीज़ पर ध्यान देना ज़रूरी है।

एक रोचक बात है कि इस तरह के प्रयोग ज्यादातर जीव विज्ञान के अध्यायों में हैं। शायद इसलिए कि जीव विज्ञान में चीज़ों की खोजबीन कहीं अधिक पेचीदा मसला होता है और कारकों का घालमेल ज़्यादा होता है।

वैसे देखा जाए तो बाल वैज्ञानिक में कई प्रयोग ऐसे हैं जिनमें बच्चों को प्रेरित किया जाता है कि वे जिस परिकल्पना की जांच कर रहे हैं उस पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारकों को नियंत्रित करें। इनमें स्पष्ट रूप से तुलना का प्रावधान एक अन्य प्रयोग के माध्यम से तो नहीं किया जाता मगर एक ही प्रयोग में परिस्थितियों को इस तरह नियंत्रित किया जाता है कि हम एक कारक का असर देख सकें।

जैसे बाल वैज्ञानिक कक्षा 6 के तीसरे संस्करण (2000) के अध्याय ‘संवेदनशीलता यानी आसपास की खोज खबर’ में एक प्रयोग है जिसमें आवाज़ की दिशा पता करने में कानों की भूमिका पता करने की कोशिश की जाती है। प्रयोग यह है:

“एक छात्र को कक्षा के बीचों बीच बैठा कर उसकी आंख पर पट्टी बांध दो।

“अब चार छात्र उसके चारों ओर थोड़ी दूरी पर खड़े हो जाएं। एक छात्र उसके ठीक सामने, एक ठीक पीछे, एक दाईं तथा एक बाईं ओर। अब बारी-बारी से ये छात्र ताली बजाएंगे और बीच में बैठे, आंख पर पट्टी बांधे छात्र को हाथ के इशारे से बताना है कि आवाज़ किधर से आई।”

रानी पिपरिया की शासकीय माध्यमिक शाला में जब यह प्रयोग किया गया तो छात्रों ने पहचाना कि

बीच में बैठा छात्र दाएं-बाएं से आवाज़ की दिशा तो सही बता देता है मगर आगे-पीछे और ऊपर से आई आवाज़ की दिशा में गलतियां करता है। जब उनसे पूछा गया कि प्रयोग तो सुनने से सम्बंधित है, फिर आंखों पर पट्टी क्यों बांधी है, तो उन्होंने उत्साह से बताया कि यदि पट्टी नहीं बांधेंगे तो वह देखकर भी बता सकता है।

बाल वैज्ञानिक में ऐसे कई प्रयोग हैं जो बच्चों में यह तर्क क्षमता पैदा करने का अवसर प्रदान करते हैं। कुछ जगहों पर बच्चों से ऐसे प्रयोग डिज़ाइन करने को भी कहा गया है।

कक्षा 7 (तृतीय संस्करण, 2001) के एक अध्याय में इसी तरह का एक और उदाहरण है, जिसमें प्रयोग न करके बच्चे कहीं अन्यत्र किए गए प्रयोगों के अवलोकनों का विश्लेषण इस नज़रिए से करते हैं।

“सांपों की संवेदनशीलता के बारे में एक वैज्ञानिक ने नाग के साथ प्रयोग किए थे।

इस प्रयोग में उसके निम्नलिखित अवलोकन आएः

क- उसने नाग की आंख पर पट्टी चिपकाकर कमरे में बीन बजाई। बीन का नाग पर कोई असर नहीं हुआ।

ख- फिर उसने कमरे में ज़मीन पर रखी कुर्सी को घसीटा तो नाग ने फन उठा लिया।

ग - नाग की आंखों पर से पट्टी हटाकर बिना आवाज़ वाली बीन उसके फन के सामने हिलाई तो नाग भी उसके साथ डोलने लगा।

घ - उसने यही प्रयोग बीन की जगह डण्डा लेकर किया तो भी नाग डोलने लगा।

इस प्रयोग के आधार पर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दोः

क्या नाग बीन सुनकर नाचता है?

नाग को कुर्सी खिसकाए जाने का पता कैसे चला होगा?”

जानकारी के अन्य स्रोत

सीखने को पाठ्य पुस्तक तक सीमित न रखने के कई प्रयास बाल वैज्ञानिक में नज़र आते हैं। जैसे कई अध्यायों, खासकर जीव विज्ञान के अध्यायों में परिभ्रमण व सर्वेक्षण को काफी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परिभ्रमण के उद्देश्यों में काफी विविधता है। कहीं इनका उद्देश्य मात्र सामग्री एकत्रित करना है, तो कहीं वास्तविक परिस्थिति में पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं का अध्ययन करना भी है। कुछ परिभ्रमण ऐसे भी हैं जिनमें वास्तविक परिस्थिति में (इन सीटू) प्रयोग करने की अपेक्षा है।

जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में सर्वेक्षणों का प्रावधान भी है। इनमें बच्चों में कुपोषण की स्थिति का सर्वेक्षण, फसलों तथा फसलों को हानि पहुंचाने वाले कारकों का सर्वेक्षण वगैरह शामिल हैं। इसके अलावा कुछ अध्यायों में यह भी अपेक्षा है कि सम्बंधित विषय पर चर्चा के लिए किसी विशेषज्ञ (जैसे पशु चिकित्सक या कृषि विस्तार अधिकारी) से संपर्क किया जाएगा या उन्हें कक्षा में बुलाकर चर्चा की जाएगी।

परिभ्रमण

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम में स्कूल से बाहर जाकर अध्ययन करना एक महत्वपूर्ण घटक होगा ही। खास तौर से मिट्टी, पानी, फूल-पत्ती, फसलें, कीड़े-मकोड़े वगैरह का अध्ययन तो खुले आसमान के नीचे ही होना चाहिए। यह अचरज की बात है कि सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के अनुपालन में पर्यावरण अध्ययन नामक एक पूरा विषय जोड़ा गया है मगर उसमें अध्ययन की विधि किताब-आश्रित ही है।

होशंगाबाद विज्ञान में परिभ्रमण को काफी महत्व दिया गया था। जहां भी संभव हुआ, बच्चों से कक्षा से बाहर जाकर चीजों का अध्ययन करने या चीजें इकट्ठी करके लाने को कहा गया है। और सबसे बड़ी



परिभ्रमण: एक छात्र की कल्पना

बात तो यह है कि परिभ्रमण वास्तव में हों, इसके लिए हरेक परिभ्रमण में क्या करना है, इसकी विस्तृत योजना दी गई है। सिर्फ इतना कहकर काम नहीं चलाया गया है कि “यदि तुम अपने आसपास देखो तो...”

कई अध्यायों में तो पूरा अध्ययन ही परिभ्रमण आधारित है। जैसे ‘मिट्टी, पत्थर और चट्टानें’, ‘फूल और फल’, ‘पत्तियों का समूहीकरण’, ‘पौधों में प्रजनन’, ‘जंतुओं की दुनिया’, ‘हमारी फसलें और उनका समूहीकरण’, ‘मिट्टी’ वगैरह। इसके अलावा ‘जल - मृदु व कठोर’, ‘भोजन व पाचन क्रिया’ जैसे अध्यायों के लिए सामग्री सीधे पर्यावरण से ली जाती है।

इस हिस्से की सफलता काफी हद तक इस बात पर निर्भर है कि स्वयं शिक्षक इन चीजों के कितने जानकार हैं। खेतों में पहुंचकर कीड़े-मकोड़ों, फसलों की बीमारियों या खरपतवारों के बारे में कई बातें सामने आना स्वाभाविक है। बच्चों में इन्हें लेकर काफी जिज्ञासा भी होगी। ऐसे में यदि शिक्षक जानकार नहीं हैं तो परिभ्रमण का मकसद सिर्फ अवलोकन व सामग्री एकत्रित करने तक सीमित रह जाएगा। इसलिए एक समय यह सुझाव भी आया था कि बाल वैज्ञानिक परिभ्रमणों के संदर्भ में एक फील्ड गाइड तैयार की जाए। मगर ऐसा कुछ हुआ नहीं।

यहां यह स्वीकार करना लाज़मी है कि परिभ्रमण कार्यक्रम का वह हिस्सा था जो सबसे पहले कुर्बान हुआ था। अधिकांश स्कूलों में परिभ्रमण नहीं हो रहे थे, और जहां हो रहे थे वहां भी इनका स्वरूप प्रायः सामग्री इकट्ठी करने तक सीमित हो गया था। इसमें समय व प्रबंधन की दिक्कतों की भूमिका ज़रूर रही होगी मगर शायद इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आम शिक्षकों में परिभ्रमण के शैक्षिक मूल्य को लेकर बहुत उत्साह नहीं था। पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षण के अभ्यर्त्त समाज में इसकी उम्मीद भी करना ज़्यादती है। वैसे भी परीक्षा पूरे पाठ्यक्रम पर हावी रहती है। परिभ्रमण एक ऐसी चीज़ थी जिससे परीक्षा परिणाम पर कोई असर नहीं पड़ता था।

देखा जाए, तो हो.वि.शि.का. समूह ने इस बात को एक तरह से स्वीकार कर लिया था। इसलिए पहले और दूसरे संशोधन के समय बाल वैज्ञानिक में परिभ्रमण का स्वरूप भी बदला है।

जैसे परिभ्रमण में एक तो इस बात को स्वीकार किया गया कि यदि सिर्फ सामग्री एकत्रित करने के लिए परिभ्रमण करवाना है, तो बेहतर यह है कि छात्रों को घर से स्कूल आते समय यह करने को कह दिया जाए। जहां परिभ्रमण रखे जाएं, वहां मैदानी परिस्थिति में कुछ अवलोकन, कुछ गतिविधि करने का काम ज़रूर हो। जैसे पत्तियों से सम्बंधित परिभ्रमण में यह जोड़ा गया कि छात्र पेड़-पौधों पर पत्तियों की जमावट देखें व उनके चित्र बनाएं। इस तरह से परिभ्रमण को ज़्यादा सार्थक बनाने का प्रयास किया गया। दूसरी ओर कई अध्यायों के स्वरूप बदल जाने के कारण परिभ्रमण के दौरान किए जाने वाले प्रयोगों का कोई स्थान नहीं रहा जबकि कुछ अध्यायों में ऐसे मैदानी प्रयोग जोड़े गए।

सवाल-दर-सवाल

हर प्रयोग के बाद प्रश्न दिए गए हैं। ये प्रश्न मूलतः दो प्रकार के हैं। एक हैं वे प्रश्न जो बच्चों का ध्यान अवलोकन पर केंद्रित करवाने के लिए हैं। इनमें अपेक्षा यह है कि वे अपने अवलोकनों को व्यवस्थित ढंग से लिखेंगे। कहीं-कहीं अवलोकन रिकॉर्ड करवाने के लिए तालिकाओं का उपयोग भी किया गया है। इन प्रश्नों के साथ एक दिक्कत रही है जिसे कुछ हद तक तीसरे संस्करण में संबोधित किया गया है।

दिक्कत यह है कि प्रत्येक प्रयोग से सम्बंधित प्रश्न प्रयोग के बाद आते हैं। यानी प्रयोग करते समय बच्चों को यह पता नहीं होता कि उसमें किस चीज़ का अवलोकन करना है। ज़ाहिर है, हरेक प्रयोग में कई बातें होती हैं। बच्चों को यह बिलकुल अंदाज नहीं होता कि वे यह प्रयोग कर क्यों रहे हैं। अंकसर बाल वैज्ञानिक के प्रथम संस्करण में प्रयोगों की कोई भूमिका भी नहीं बनाई जाती थी। यहां तक कि पिछले प्रयोग से उसका क्या सम्बन्ध है यह तक स्पष्ट नहीं किया जाता था। इसलिए प्रयोग करने से पहले बच्चे की कोई अपेक्षा नहीं होती थी, किस खास चीज़ पर ध्यान देना है, यह साफ नहीं होता था। प्रथम संस्करण में ऐसा करने का कारण शायद यह रहा कि थोड़ी-सा भी अंदाज़ देने की कोशिश की गई, तो प्रयोग बेमानी हो जाएगा। मगर ज़्यादा संभव कारण यह लगता है कि शिक्षक से यह अपेक्षा की गई थी कि वह कक्षा में वार्तालाप के ज़रिए यह भूमिका बनाने का काम करेगा/गी। इस तरह के प्रस्तुतीकरण में अपेक्षा यह होती है कि बच्चे और शिक्षक प्रयोग शुरू करने से पहले सम्बंधित हिस्से को पूरा पढ़ लें। कारण जो भी रहा हो, मगर शायद इसी कारण बाल वैज्ञानिक पर एक आरोप यह लगा था कि वह बहुत रुखी है। इस दृष्टि से तीसरे संस्करण में कई परिवर्तन किए गए और इन परिवर्तनों की बदौलत प्रयोग ज़्यादा सार्थक हो पाए थे (हालांकि तीसरा संस्करण पूरा होते-होते ही कार्यक्रम बंद होने के कारण उस पर पूरा फीडबैक उपलब्ध नहीं है)। तीसरे संस्करण के अध्यायों में कई जगह बच्चों को आगामी प्रयोग के अवलोकन का अंदाज लगाने को भी कहा गया है, जिससे परिकल्पना निर्माण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा।

प्रश्नों की एक दिक्कत और भी है। बाल वैज्ञानिक से एक शिकायत यह रही है कि इसमें प्रश्न बहुत ज़्यादा हैं। मगर यदि बच्चों को प्रश्नों के माध्यम से कदम दर कदम किसी सिद्धांत तक पहुंचाना है तो प्रश्न क्रमबद्ध ढंग से आएंगे। दरअसल प्रश्नों की बौछार (बमबारी कहें?) के पीछे यह प्रमुख कारण लगता

द्वितीय प्रारूप

है। प्रयोगों के बाद पूछे गए प्रश्नों में इस बात का कोई भेद नहीं है कि कौन-से प्रश्न मात्र अवलोकन को सामने लाने के लिए, कौन-से प्रश्न आपसी चर्चा करके उत्तर निकालने के लिए हैं और कौन-से वे प्रश्न हैं जिनके जवाब से उस प्रयोग की खोज का निष्कर्ष व्यक्त किया जाता है। इन सारे प्रश्नों को बराबर महत्व मिला है। या यों कहें कि इनके बीच कोई भेद नहीं किया गया गया है।

उम्मीद यह की जाती है कि शिक्षक सारे बच्चों के अवलोकन देखकर यह सुनिश्चित कर लेंगे कि सबके 'सही' अवलोकन आ गए हैं। यदि ऐसा नहीं है तो चर्चा के माध्यम से यह समझने की कोशिश होगी कि प्रयोग करने में कोई खामी तो नहीं रह गई। बच्चों द्वारा खुद प्रयोग करने में इसकी संभावना रहती है मगर जब कक्षा में 10 टोलियां प्रयोग कर रही हैं तो इस बात की प्रबल संभावना है कि कुछ टोलियों के प्रयोग 'सही' होंगे और विविधता के आधार पर आपको यह मौका मिल जाएगा कि विश्लेषण करके प्रयोग दोहराने की बात कर पाएं। आदर्श रूप में यही अपेक्षा की जाती है। वैसे यह नाजुक भसला है क्योंकि इसमें निहित है कि सम्बंधित प्रयोग का एक 'सही' अवलोकन है जो शिक्षक को मालूम है। इस स्थिति को हैण्डल करने में शिक्षक को काफी चतुराई से आगे बढ़ना पड़ेगा।

अवलोकन रिकॉर्ड हो जाने के बाद दूसरे प्रकार के प्रश्नों का सेट आता है। वैसे किताब में इन दो प्रकार के प्रश्नों को अलग-अलग चिन्हित नहीं किया गया है। इन दो प्रकार के प्रश्नों की पहचान होना शिक्षक के लिए अनिवार्य है क्योंकि कक्षा में इनके साथ होने वाली प्रक्रिया अलग-अलग है। यह काम शिक्षक प्रशिक्षण के भरोसे छोड़ा गया है। इस काम में शिक्षक की मदद के लिए शिक्षक निर्देशिका तैयार करने के अनुभवों पर तो हम अलग से बात करेंगे ही।

दूसरे प्रकार के प्रश्न वे हैं जिनमें अवलोकनों का विश्लेषण किया जाता है। यहां अपेक्षा यह है कि बच्चे टोलियों में और सामूहिक रूप से अवलोकनों की व्याख्या करेंगे। इसके लिए वे अपने पूर्व अनुभवों का उपयोग भी करेंगे और प्रयोग के अवलोकनों का भी। आदर्श रूप में तो प्रत्येक बच्चे को मौका मिलेगा कि वह अपनी परिकल्पना या व्याख्या प्रस्तुत करे, अन्य बच्चों द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं पर सवाल खड़े करे, उन्हें समझने की कोशिश करे। इस पूरी चर्चा व बहस में शिक्षक की भूमिका बहुत सक्रिय व महत्वपूर्ण होती है। उससे यह उम्मीद नहीं है कि 'सही व्याख्या' बता दे। उम्मीद यह है कि वह बच्चों द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं पर आपसी चर्चा में मदद करे, सवाल पूछकर उन्हें अपनी बात स्पष्ट करने में मदद करे, अन्य अनुभवों की कसौटी पर उनकी व्याख्याओं को परखे और ज़रूरी हो, तो विभिन्न व्याख्याओं को परखने के लिए पूरक प्रयोग करवाए। यह प्रक्रिया उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना सही व्याख्या तक पहुंचना।

बच्चों की कपियां देखकर एक बात और उजागर होती है। आम तौर पर बच्चे बाल वैज्ञानिक में दिए गए प्रश्न व उनके उत्तर लिख लेते थे या उन्हें लिखवा दिए जाते थे। इनमें उस प्रक्रिया का ज़िक्र नहीं होता था, जिसके माध्यम से ये उत्तर प्राप्त हुए हैं। यह कहना मुश्किल है कि कुछ दिनों बाद इन प्रश्नोत्तरों को पढ़ने से क्या मिलता होगा।

इस पूरी प्रक्रिया को कक्षा में लागू करने के अनुभवों और शिक्षकों की सीमाओं पर हम एक अलग अध्याय में चर्चा करेंगे - कक्षा के अनुभव।

मॉडल का निर्माण या विकास

विज्ञान में चीज़ों को समझने के लिए उनके मॉडल बनाना एक महत्वपूर्ण गतिविधि है। ये मॉडल ठोस चीज़ों भी हो सकती हैं और मानसिक मॉडल भी। दरअसल विज्ञान में सारी समझ का विकास यथार्थ के मॉडल्स के ज़रिए ही होता है - चाहे सौर मॉडल हो या अणु और परमाणु।

बाल वैज्ञानिक में बच्चों को इससे परिचित कराने के कई प्रयास किए गए हैं। प्रथम संस्करण में तो इसका पुट बहुत ज़्यादा था मगर बाद के संस्करणों में कम होता गया।

प्रथम संस्करण (1978-80) को देखें तो निम्नलिखित अध्यायों में इसकी विशेष कोशिश की गई थी:

अध्याय

मिट्ठी, पत्थर और चट्टानें (कक्षा 6)

सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत (कक्षा 8)

विद्युत-3 (कक्षा 8)

आकाश की ओर - 2 (कक्षा 8)

शरीर के आंतरिक अंग - 2 (कक्षा 8)

मॉडल का विषय

ईट भट्टे के आधार पर समझना कि चट्टानें कैसे बनती हैं

विभिन्न मॉडल्स के आधार पर कोशिका की त्रि-आयामी रचना को समझना

दाहिने हाथ का नियम समझने के लिए विद्युत नट आकाश में सूर्य और चंद्रमा की गति, चांद की कलाएं, चंद्र व सूर्य ग्रहण को समझने तथा सूर्य केंद्रित सौर मंडल की बात को समझने के लिए

शरीर के अंगों की जमावट का एहसास बनाने के लिए

आम तौर पर पाठ्य पुस्तकों में विच्छेदित शरीर के चित्र को देखकर यह समझ में नहीं आता कि शरीर में ये अंग किस तरह जमे हुए हैं। यह भी पता नहीं चलता कि कई अंग एक दूसरे के ऊपर होते हैं। इस समस्या का एक समाधान तो यह निकाला गया था कि प्रत्येक स्कूल को किट में दो-दो विच्छेदित छूटे दिए गए थे। बच्चों को इनके अवलोकन से शरीर की आंतरिक बनावट समझने में काफी मदद मिलती थी। संभवतः यह पहली बार ही था कि माध्यमिक स्कूल के बच्चों के लिए इस तरह की व्यवस्था की गई थी। अधिकांश शिक्षकों ने भी शायद पहली बार ही आंतरिक अंगों का प्रत्यक्ष अवलोकन किया होगा। इस अवलोकन के बाद बच्चों से कागज का एक मॉडल बनवाया जाता था। इसमें मानव शरीर का एक खाका है और विभिन्न अंगों की रेखाकृतियां हैं। इन रेखाचित्रों को काटकर सही जगह पर लगाना होता था। क्रम से ऐसा करने पर ये अंग मानव शरीर के खाके में ठीक उस तरह जम जाते थे जैसे वे वास्तव में जमे होते हैं। यह सबसे लोकप्रिय गतिविधियों में से एक थी। इस गतिविधि को चार्ट रूप में अलग से एक शिक्षण साधन का स्वरूप भी दिया गया है।

कई मॉडल मानसिक बिंब का निर्माण करने के लिए थे। ये बच्चों को काफी सोचने को मजबूर करते थे और अधिकांश शिक्षकों का मत था कि ये काफी मुश्किल हैं। जैसे कोशिका का मॉडल देखें। इस मॉडल का प्रमुख मकसद यह था कि बच्चे समझ पाएं कि कोशिकाएं चपटी नहीं होतीं हालांकि सूक्ष्मदर्शी में से वे चपटी ही दिखाई देती हैं। इसमें आँड़ी व खड़ी कटानों की अवधारणा समझाने की कोशिश भी की गई थी। बच्चों से कल्पना करने को कहा जाता है कि विभिन्न चीज़ों को आँड़ा और खड़ा काटने पर वे कैसी दिखाई देंगी और इसके आधार पर उन्हें यह चित्र निर्मित करने को कहा जाता है कि मूल चीज़ कैसी होगी।

इसी प्रकार से 'आकाश की ओर' अध्याय के मॉडल्स भी थे। मगर ये मॉडल्स कहीं अधिक अमूर्त थे। इनका पूरा विवरण देना यहां मुमकिन नहीं है मगर यदि किसी की रुचि हो, तो वे बाल वैज्ञानिक का प्रथम संस्करण देख सकते हैं। इस अध्याय में बच्चे प्रयोग करके आकाश में चांद और सूरज के रास्तों का चित्रण करते हैं। इसके बाद वे तारों के पथ का चित्रण भी करते हैं। फिर इन मार्गों को देखकर तर्क के आधार पर यह समझने की कोशिश करते हैं कि ये सब चीज़ें पृथ्वी के आसपास घूमें या पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमें, अवलोकन एक से आएंगे। इसके बाद उनसे यह सोचने को कहा जाता है कि इनमें से किस बात को मानना बेहतर होगा।

इसके अलावा ग्रहण को समझने, चांद की कलाओं को समझने के लिए भी मॉडल्स बनवाए जाते थे।

खास तौर से आकाश और सूक्ष्मदर्शी से सम्बन्धित मॉडल्स बच्चों के लिए काफी मुश्किल साबित हुए थे। इस दिक्कत का सम्बन्ध बहुत विशाल और बहुत सूक्ष्म चीज़ों की कल्पना करने की दिक्कत से भी हो सकता है। 'आकाश की ओर' अध्याय की विस्तृत चर्चा अलग से की गई है।

गौरतलब है कि दूसरे संस्करण में मॉडल की मदद से सीखने-समझने की बात लगभग नदारद हो गई।

थी। शरीर के आंतरिक अंग वाला मॉडल रहा, चंद्रमा की कलाओं वाला मॉडल रहा मगर सीखने की यह पद्धति लगभग नगण्य रह गई। शायद जान बूझकर नहीं हुआ मगर जब मुश्किल हिस्सों की बात चली तो मॉडल निर्माण से सीखने (खासकर दिमागी मॉडल्स से सीखने) की विधा पर सबसे पहले केंची चली। शायद ज़रूरत इस बात की थी कि मॉडल निर्माण के ज़रिए सीखने की प्रक्रिया को एक चुनौती के रूप में लिया जाता और कुछ नए व सरल मॉडल्स को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाता।

अब हम बाल वैज्ञानिक पाठ्यक्रम के दो पक्षों की बात करेंगे जिनका ज़िक्र पाठ्यक्रम के किसी वक्तव्य में नहीं हुआ है मगर अध्यायों में ये अनन्य ढंग से गुंथे हुए हैं। ये हैं टोलियों में काम करना और कक्षा में खुली विचार प्रक्रिया, आपस में मिलकर निर्णय करना।

टोलियां यानी सीखना मिलकर होता है

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों को देखने से एक पहलू काफी ज़ोरदार ढंग से उभरकर आता है। यह पहलू है कि हो.वि.शि.का. में सीखने को एक निजी नहीं बल्कि सामूहिक कार्य माना गया है। आम तौर पर पाठ्य पुस्तकों इस ढंग से लिखी जाती हैं कि बच्ची उन्हें अकेले बैठकर पढ़ ले और सब कुछ सीख ले। इससे भी बढ़कर अध्ययन के लिए एक ऐसे माहौल को काफी महत्व दिया जाता है जहां शांति हो और आप अकेले बैठकर, एकाग्रचित्त होकर पुरतक पर ध्यान केंद्रित करें। बाल वैज्ञानिक इससे बिलकुल उल्टी प्रक्रिया को बढ़ावा देती है।

इसका सबसे स्पष्ट एहसास होता है 'टोली' के रूप में। बाल वैज्ञानिक में सवालीराम की चिट्ठी में सीखने की प्रक्रिया को लेकर बच्चों के साथ एक संवाद बनाने की कोशिश है। बाकी बातों के अलावा इसमें बच्चों को यह भी बताया जाता है:

"तुम प्रयोग चार-चार की टोलियों में करोगे। अपनी टोली के साथी चुन लो।"

शिक्षक से उम्मीद है कि वे साल के शुरू में ही अपनी कक्षा में 4-4 बच्चों की टोलियां बनवा देंगे। दरअसल किसी कक्षा में कितनी किट सामग्री लगेगी, इसकी गणना यह मानकर ही की जाती है कि बच्चे सारा काम टोलियों में करेंगे। यानी बाल वैज्ञानिक में टोली सीखने की इकाई है।

टोलियों में काम करने की बदौलत प्रति कक्षा किट सामग्री की कीमत बहुत कम हो जाती है। मगर टोलियों में काम करने के कई महत्वपूर्ण शैक्षिक परिणाम भी होते हैं। इसका एक असर यह होता है कि कक्षा की बनावट और वहां होने वाले कामकाज का स्वरूप ही बदल जाता है। जहां एक आम कक्षा में सारे छात्र कतारों में शिक्षक की ओर मुँह करके बैठते हैं, वहीं हो.वि.शि.का. की कक्षा में चार-चार विद्यार्थी घेरे बनाकर बैठे होते हैं। हरेक टोली के बीच में किट सामग्री या अन्य अध्ययन सामग्री रखी होती है और वे अपने काम में, आपसी बातचीत में मशगूल होते हैं। वार्तव में हो.वि.शि.का. कक्षा में बच्चों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए शिक्षक को काफी प्रयास करना पड़ता है। टोलियां प्रयोग करते हुए काफी शोरगुल भी करती हैं और सामग्री लाने या अन्य टोलियों के प्रयोग देखने के लिए भाग दौड़ भी चलती रहती है। इस कारण से होशंगाबाद विज्ञान पर अनुशासनहीनता को बढ़ावा देने का आरोप भी लगता रहता था। खास तौर से हाई व हायर सेकंडरी स्कूलों रो आने वाले अनुवर्तनकर्ता इसे लेकर खासे परेशान होते थे। कई बार उसी रस्कूल के प्रधान पाठक व अन्य शिक्षक भी शिकायत करते थे कि 'बाल विज्ञान' की क्लास में बहुत हल्ला होता है।

एक रोचक तथ्य यह है कि कार्यक्रम बंद होने के बाद जब पूर्व छात्रों से पूछा गया कि उन्हें हो.वि.शि.का. की कौन-सी बातें याद हैं, तो कई ने टोली में काम करने का ज़िक्र किया था। शिक्षकों को भी टोली में काम करने की व्यवस्था बहुत रास आती थी। अधिकांश शिक्षकों व छात्रों ने माना कि टोली में काम करना एक अनोखा प्रयोग था। खास तौर से छात्रों को याद था कि टोली में काम करते हुए वे एक-दूसरे से सीखते थे और पूरी कक्षा के साथ मिलकर निष्कर्ष निकालते थे। पूर्व छात्रों ने याद किया कि इससे उनकी मित्रताएं ज्यादा सार्थक बन पाई थीं। दूसरी ओर शिक्षकों ने माना कि टोली में काम करते हुए स्वयं उन्हें भी साथी शिक्षकों के साथ ज्यादा सार्थक शैक्षणिक सम्बंध बनाने में मदद मिली। कार्यक्रम से जुड़ी एक शिक्षिका ने टोलियों

में अध्यापन कार्य को लेकर राष्ट्रीय विज्ञान शिक्षक सम्मेलन (2002) में एक पर्चा प्रस्तुत किया था। उसमें उन्होंने बताया था कि टोली में काम करने से “अनेक छात्राओं के बीच वाद-विवाद, आपसी संवाद, तर्क-वितर्क होने से विषय की पकड़ बनाने का अवसर मिलता है। सही निर्णय लेने के लिए कई दिमाग लगते हैं।” इसके अलावा उन्होंने यह भी पाया था कि इससे “शिक्षिका के लगातार बोलने की आदत पर विराम लगता है और छात्राएं एक-दूसरे के अनुभव से सीख पाती हैं।”

किसी भी अच्छी कक्षा में कई बार शिक्षक को ढूँढना भी मुश्किल होता था। शिक्षक अपनी पारंपरिक जगह (यानी ब्लैकबोर्ड के पास की कुर्सी) पर अक्सर नहीं होते थे। वे टोली-टोली में जाकर बच्चों की मदद करते रहते थे। हो.वि.शि.का. कक्षा में सबसे अच्छी बात यह होती थी कि यहां बच्चे आवाज़ देकर शिक्षक को अपने पास बुला सकते थे और बुलाते भी थे - कभी प्रयोग का परिणाम दिखाने के लिए, तो कभी प्रयोग में आ रही किसी दिक्कत को सुलझाने के लिए या किसी सवाल में दिक्कत आने पर। एक-एक बल्ब जलने पर या लिटमस का रंग बदलने पर किलकारियां आम बात थीं।

एक तरह से देखा जाए तो टोलियों में काम करने की वजह से बच्चे काफी स्वायत्त हो जाते हैं और कक्षा के ‘गुप्त सत्ता समीकरण’ में नया संतुलन स्थापित होता है। यह परिवर्तन आंशिक ही सही मगर मामूली नहीं है।

टोली में काम करना सीखने में सामूहिकता का एक घटक है। यह प्रवृत्ति बाल वैज्ञानिक में हर जगह झलकती है। बार-बार बच्चों से आपस में चर्चा करने को, दूसरे के अवलोकनों से अपने अवलोकन की तुलना करने को, जानकारी का आदान-प्रदान को कहा जाता है।

वैसे तो बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में प्रयोगों के बाद जो सवाल दिए गए हैं, उनमें अपेक्षा यह तो कदापि नहीं है कि प्रत्येक बच्ची चुपचाप इनके जवाब लिखती जाएगी। यह सही है कि प्रयोगों के अवलोकन तो बच्चे अपनी-अपनी टोलियों में लिख लेंगे। मगर जब व्याख्या की बात आती है तो आदर्श रूप में शिक्षक को सभी बच्चों से अपनी-अपनी व्याख्या कारण सहित प्रस्तुत करने का आग्रह करना चाहिए। अन्य बच्चों को इन व्याख्याओं पर अपने मत व्यक्त करने चाहिए। शिक्षक ज़रूरी समझे, तो इन व्याख्याओं पर सवाल उठाकर चर्चा को आगे बढ़ा सकती हैं। संक्षेप में, निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया एक सामूहिक प्रक्रिया है और अंत में प्राप्त निष्कर्ष एक साझा निष्कर्ष है।

हालांकि यह एक सामान्य प्रक्रिया है मगर बाल वैज्ञानिक में कई जगह विशेष रूप से कहा गया है कि किसी सवाल का जवाब सामूहिक चर्चा के बाद निकाला जाए।

कई अध्यायों में तो पूरी कक्षा के अवलोकनों को एक साथ रखकर विश्लेषण करना विषयवस्तु को आगे बढ़ाने के लिए नितांत अनिवार्य है। जैसे मापन में घट-बढ़ की बात को लें

या संयोग और संभाविता की अवधारणा को लें। इन अध्यायों में तो सारी टोलियों के प्रयोगों के निष्कर्षों को एक सामूहिक तालिका में भरकर ही आगे की प्रक्रिया चलती है।

जैसे दूरी नापने में घट-बढ़ की बात को समझने के लिए सारे विद्यार्थी



एक ब्लैक बोर्ड को नापते हैं और फिर उनमें से गलत नापों को पहचानना, सही नापों का स्तंभालेख बनाना, औसत निकालने वगैरह का काम सामूहिक रूप से होता है।

संयोग और संभाविता (कक्षा 8) में तो शुरुआती सवाल-जवाब के बाद पहला काम ही एक खेल ‘चित-पट की दौड़’ का होता है। इस खेल में सारे बच्चे एक लाइन पर खड़े होकर एक-एक सिक्का उछालते हैं। जिसका चित आए वह एक लाइन आगे और जिसका पट आए वह एक लाइन पीछे जाता है। हरेक बच्चा अपना एक व्यक्तिगत चार्ट बनाता है जिसमें वह हरेक चाल के बाद अपनी स्थिति दर्शाता है। इसी के साथ शिक्षक सारे बच्चों की एक सामूहिक तालिका बनाते हैं जिसमें यह दर्शाया जाता है कि हरेक चाल के बाद कितने विद्यार्थी किस लाइन पर हैं।

इन दो चार्ट्स का विश्लेषण पूरी कक्षा सामूहिक रूप से करती है। व्यक्तिगत चार्ट और सामूहिक तालिका की तुलना करके पैटर्न देखे जाते हैं। खास तौर से ये दो प्रश्न महत्वपूर्ण हैं:

“हो सकता है कि किसी कक्षा में एकाध विद्यार्थी का लगातार केवल चित ही चित आए या लगातार पट ही पट आए या चित-पट आने का कोई एक निश्चित क्रम हो।

ऐसी स्थिति में तुम चित-पट आने के क्रम के बारे में किस आधार पर निष्कर्ष निकालोगे? एकाध विद्यार्थी के अलग ढंग के परिणामों के आधार पर या अधिकांश विद्यार्थियों के परिणामों के आधार पर? कारण सहित समझाओ।

सामूहिक तालिका की मदद से हर चाल के बाद विभिन्न विद्यार्थियों की संख्या के स्तंभालेख बनाओ।”

फिर इनका विश्लेषण होता है। सबसे मनोहारी दृश्य वह होता है जब सारी टोलियाँ गुटकों की मदद से चित-पट के आंकड़े इकट्ठे करके स्तंभालेख बनाती हैं और सारी टोलियों के स्तंभालेख दीवार पर चिपका दिए जाते हैं - सिर्फ प्रदर्शनी के लिए नहीं, बल्कि विश्लेषण के लिए। सारी टोलियों के स्तंभालेखों में से प्रत्येक टोली को एक सामूहिक स्तंभालेख बनाना है, जिसमें यहं पता चलेगा कि पूरी कक्षा में कितने चित, कितनी-कितनी बार आए हैं। व्यक्तिगत स्तंभालेख और सामूहिक स्तंभालेख की तुलना करके large number का सिद्धांत निकलेगा।

जब यह अध्याय चल रहा हो तो कक्षा की सक्रियता देखते ही बनती है।

ये तो वे उदाहरण थे जहां विषयवस्तु की स्पष्ट मांग है कि पूरी कक्षा के आंकड़ों को एक साथ रखकर विचार किया जाए और अपने व्यक्तिगत आंकड़े को उस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए। मगर बाल वैज्ञानिक में सीखने की प्रक्रिया में सामूहिकता लाने का भरसक प्रयास किया गया है। इस सामूहिकता के कई रूप नज़र आएंगे।

जैसे बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में प्रयोग करने का बाद प्रश्नों के उत्तर देने में विद्यार्थियों से बार-बार कहा



गया है कि वे आपस में चर्चा करके उत्तर दें। जैसे कक्षा 6 (प्रथम संस्करण, 1978) के समूह बनाना सीखो में एक सवाल है:

“बाबूलाल ने एक समूह में घन सेन्टीमीटर वाले गुटके, गोल और चौकोर पेंडे वाले डिब्बे, झापर, गणक के मोती, सूक्ष्मदर्शी, तश्तरी और रसायन की बोतले रखीं।

आपस में चर्चा करके बताओ कि उसने किस गुणधर्म के आधार यह समूह बनाया?”

या दूरी नापना (कक्षा 6, प्रथम संस्करण 1978) में पैमाने का इतिहास बताने के बाद:

“उन्होंने लकड़ी या धातु के ही पैमाने क्यों बनाए? कपड़े और रबर के क्यों नहीं? आपस में चर्चा करके बताओ।”

‘जल - मृदु और कठोर’ (कक्षा 7, 1978) में स्थायी व अस्थायी कठोरता सम्बंधी प्रयोग पूरे कर लेने के बाद:

“यदि रेल के इन्जिन के बायलर में लगातार केवल अस्थायी कठोर जल का उपयोग किया जाए तो इन्जिन के काम पर क्या असर होगा? आपस में चर्चा करके बताओ।”

गौर करने की बात यह है कि ये वे प्रश्न हैं जिनमें एक तरह का खुलापन है और एक से ज्यादा सही उत्तर हो सकते हैं। या कम से कम बच्चे एक से ज्यादा जवाब सोच सकते हैं और वाद-विवाद के बाद किसी एक निष्कर्ष पर पहुंच भी सकते हैं। शिक्षक से अपेक्षा है कि वे विभिन्न विद्यार्थियों को अपने मत प्रकट करने को प्रेरित करें और तर्क-वितर्क के ज़रिए किसी निष्कर्ष तक पहुंचने में मदद करें।

कक्षा 7 (प्रथम संस्करण, 1978) में ग्राफ बनाना सीखो में बच्चे एक स्प्रिंग पर अलग-अलग वज़न लटकाकर उसकी लंबाई में होने वाले परिवर्तन के आंकड़े लेते हैं। फिर लटकते हुए वज़न और स्प्रिंग की लंबाई का ग्राफ बनाते हैं। पहले तो ग्राफ पर बिंदु अंकित कर लिए जाते हैं। समस्या यह है कि कई कारणों से ये बिंदु ठीक एक सरल रेखा पर नहीं आते। इसमें एक प्रमुख कारण नपाई में घट-बढ़ का है। ग्राफ बनाने में यह एक महत्वपूर्ण बात है कि आपको अनुमान लगाना होता है कि औसतन ग्राफ सरल रेखा हो सकता है। तो बच्चों से कहा जाता है:

“इसको (घट-बढ़ की बात को) ध्यान में रखते हुए बिंदुओं से थोड़ा हटकर क्या उनके बीच के हिस्से में एकदम सीधी रेखा का ग्राफ खींचना उचित होगा? आपस में चर्चा करके उत्तर दो।

अपनी चर्चा के निष्कर्षों के अनुसार अपने ग्राफ को सुधारकर काँपी में लगा लो।”

कुल मिलाकर बाल वैज्ञानिक ज्ञानार्जन को एक निजी, तनहा प्रयास की बजाय पूरी कक्षा के साझा उद्यम में बदलने की कोशिश करती है। टोली में और पूरी कक्षा में लगातार एक सहयोगी माहौल बनाने का यह प्रयास आम शिक्षा में व्याप्त व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा के माहौल को थोड़ा शिथिल करने का जतन है। वैसे हो वि.शि.का. में परीक्षा व्यक्तिगत ही होती थी।

तुम्हारा क्या विचार है?

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों की एक और खास बात पर ध्यान देना आवश्यक है। कई अध्यायों में बच्चों से निर्णय लेने को कहा गया है। कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें एक से अधिक उत्तर हो सकते हैं। इनमें बच्चों से पूछा जाता है: “तुम्हारा क्या विचार है?” वैसे तो बाल वैज्ञानिक में आपको ऐसे प्रश्न काफी संख्या में मिलेंगे जिनमें बच्चों से अपनी राय ज़ाहिर करने को कहा जाता है। मगर यहां उन प्रश्नों की बात है जिनमें बच्चों को किसी स्थिति में फैसला करना है, जो हमेशा मामूली नहीं होती।

जैसे कक्षा 6 के पहले अध्याय ‘कुछ खेल खिलवाड़’ (प्रथम संस्करण, 1978) में ही इसकी शुरुआत हो जाती है। जब बच्चे अलग-अलग द्रवों की बूंदों से लेंस बना लेते हैं तो उनसे पूछा जाता है: “किस बूंद

का लेंस सबसे अच्छा बना?” यह फैसला करने का कोई आधार नहीं दिया गया है। बच्चों को ही फैसला करना है कि वे एक अच्छा लेंस किसे मानेंगे। हो सकता है कि यह देखें कि किसमें सबसे बड़ा प्रतिबिंब बनता है या यह देखें कि किस द्रव की बूंद बनाना आसान है, या कुछ और मापदंड रखें। चाहते तो यह सवाल पूछा जा सकता था कि “सबसे बड़ा प्रतिबिंब किस बूंद से बना?”

यह प्रसंग मामूली लग सकता है मगर आम पाठ्य पुस्तकों तो इतनी मामूली बातों के निर्णय भी बच्चों पर छोड़ने में हिचकती हैं। वैसे कुछ अन्य उदाहरण हैं, जो कदापि मामूली नहीं हैं।

जैसे दूरी नापना (कक्षा 6, प्रथम संस्करण, 1978) में डिवाइडर की मदद से एक वक्र रेखा की लंबाई नापी जाती है। पहले उसकी भुजाओं को 8 मिलीमीटर खोला जाता है। इसके बाद पूछा जाता है:

“यदि तुम डिवाइडर की भुजाओं के सिरों को 5 मि.मी. दूरी तक फैलाओ और उसी रेखा की लंबाई दोबारा नापो तो क्या लंबाई वही निकलेगी या कुछ और? करके देखो।

तुम्हारे विचार में कौन-सा उत्तर सबसे अधिक सही है? कारण सहित बताओ।”

फिर घट-बढ़ और सन्त्रिकटन का यह उदाहरण देखिए। कुछ बच्चों द्वारा नापी गई रबर की नली की लंबाई के आंकड़े दिए गए हैं। सारे नाप 27 से.मी. के आसपास हैं। एक विद्यार्थी ने 37.7 से.मी. नापा है। अब समस्या यह है:

“37.7 से.मी. वाला नाप या तो एकदम गलत है या लापरवाही से 27.7 से.मी. के बदले लिखा गया है। ऐसी भूलें अवश्य हो जाती हैं। यदि यह सचमुच ही गलत है तो उसे सूची से हटा देना चाहिए। नहीं तो भूल सुधार के बाद उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

इस सम्बंध में तुम्हारा क्या निर्णय है?”

और यकीन मानिए कई बार शिक्षक प्रशिक्षणों में इसे लेकर अच्छी खासी बहस हुई है। कुछ लोग मानते हैं कि विज्ञान में जो सही है, वह सही है, अंदाज़ लगाकर भूल सुधार करने का कोई सवाल नहीं उठता। दूसरी ओर कुछ लोग नापने वाले के मानवीय गुणों को स्वीकार करना चाहते हैं।

इसी अध्याय में एक और प्रसंग है। किसी पैमाने का अल्पतम नाप 0.1 से.मी. है। और इससे

“भाविस की सींक की लंबाई का अंदाज़ लगाया गया।

धनीराम का अंदाज़ था 4.2 से.मी।

टीकाराम का अंदाज़ था 4.3 से.मी।

कारेलाल का अंदाज़ था 4.0 से.मी।

कलीराम का अंदाज़ था 4.25 से.मी।”

अब सवाल है:

“तुम किसका अंदाज़ सही मानते हो।

क्या कलीराम का इतना बारीकी से नाप लेना सही है?

किसी पैमाने के दो निशानों के बीच में लंबाई का अंदाज़ लगाना कहाँ तक सही है? आपस में चर्चा करके निर्णय करो।”

यदि आपको यह उदाहरण मामूली लग रहा है तो इस बात पर ध्यान दें कि हो.वि.शि.का. के स्रोत दल में भी इस बात को लेकर मतभेद थे कि “दो निशानों के बीच में लंबाई का अंदाज़ लगाना कहाँ तक सही है?”

कक्षा 7 (1978) में ‘फसलों के दुश्मन’:

“एक किसान ने ब्लॉक ऑफिस जाकर कृषि विस्तार अधिकार को बताया कि उसके बगीचे में बिही (अमरुद) के पेड़ों की पत्तियां अचानक मुरझाने लगी हैं। अधिकारी ने बिना कोई प्रश्न पूछे दवा का एक डिब्बा एकदम किसान को पकड़ा दिया और कहा कि इसे छिड़क देना।

क्या इस परामर्श में विस्तार अधिकारी ने कोई गलती की? यदि हां, तो क्या?”

खोज पद्धति व पर्यावरण पर आधारित किसी भी विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की दृष्टि से अगला उदाहरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। कक्षा 8 (प्रथम संस्करण, 1980) में ‘जंतुओं का वर्गीकरण’ में वर्गीकरण से पहले जंतुओं के बारे में जानकारी एकत्रित करना होता है। बच्चों से कहा गया है:

“ऐसे सब जंतुओं की सूची बनाओ जिन्हें तुमनी अपनी आंखों से देखा है। इस सूची में उन जंतुओं के नाम भी जोड़ लो जिनको तुमने चाहे न देखा हो, लेकिन जिनके बारे में तुम्हें जानकारी है।

“यह तुम कैसे तय करोगे कि किसी जंतु के बारे में तुम्हारे द्वारा या अन्य किसी विद्यार्थी द्वारा दी जा रही जानकारी सही है या नहीं?”

‘जीवजगत में विविधता’ (कक्षा 6, प्रथम संस्करण, 1978) का यह प्रसंग भी उल्लेखनीय है: इसमें बच्चे यह देखते हैं कि पेड़-पौधों में, पत्तियों में, हमारी अपनी उंगलियों में विविधता पाई जाती है। फिर उनसे कहा जाता है कि वे एक ही जाति के फलों में विविधता देखें। मगर साथ में सवाल है कि

“यह पता करने के लिए तुम्हारे विचार में किन-किन गुणधर्मों को चुनना चाहिए और क्यों?

“क्या केवल एक ही गुणधर्म (उदाहरण के लिए लंबाई) की तुलना करने से सही उत्तर मिल जाएगा?

“तुम्हारे विचार में कम से कम कितने गुणधर्म आवश्यक होंगे? क्यों?”

इसी प्रकार से ‘सजीव और निर्जीव’ (कक्षा 8, प्रथम संस्करण, 1980) में बच्चों से इस तरह के सवालों पर गौर करने को कहा गया है:

“तुमने जमीन के नीचे समाधि लगाने वाले साधुओं के बारे में सुना होगा। जितने दिन ये समाधि में रहते हैं, उतने दिन ये न कुछ खाते हैं, न पीते हैं, न चलते-फिरते हैं।

“इस अवस्था में क्या तुम साधुओं को सजीव मानोगे? तर्क सहित उत्तर दो।”

वैसे तो हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम का एक प्रमुख मकसद ही यह है कि बच्चों को सोचने को प्रेरित किया जाए। मगर अधिकांश समय यह एक सुनिर्दिष्ट सोच प्रक्रिया होती है - प्रयोगों के अवलोकन व सुरचित सवालों के माध्यम से उन्हें वैज्ञानिक नियमों व सिद्धांतों की ओर ले जाया जाता है। मगर उपरोक्त किसी के सवाल पूरा दारोमदार शिक्षकों व बच्चों पर छोड़ देते हैं। ये एकदम खुले सवाल हैं, जिनके कोई पूर्व निर्धारित ‘सही’ जवाब नहीं हैं। इनके जवाब शुद्धतः कक्षा में हुई बहस पर निर्भर करते हैं।

चित्रांकन और साज-सज्जा

बाल वैज्ञानिक के अन्य पहलुओं की तरह उसके चित्रों व साज-सज्जा में भी लगातार विकास होता रहा है। दरअसल आम तौर पर चित्रांकन व साज-सज्जा को (कम से कम पाठ्य पुस्तक के संदर्भ में) गौण काम माना जाता है। मन में रहता है कि मुख्य चीज़ तो लिखना है, चित्र वगैरह तो मात्र लिखे हुए को स्पष्ट करेंगे या बहुत हुआ तो थोड़ा खुशनुमा बना देंगे। यह समझने की ज़रूरत है कि चित्रांकन इससे आगे बढ़कर काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, जैसा कि बाल वैज्ञानिक के अनुभव से झलकता है।

बाल वैज्ञानिक में चित्रों की स्पष्टता, प्रामाणिकता व सत्यता पर शुरू से ही बहुत ज़ोर रहा है। मगर समय के साथ इसमें नए-नए आयाम जुड़ते गए हैं। यहां उनकी चर्चा संक्षेप में करेंगे।

1972 में लाल वैज्ञानिक में उन्हीं चित्रों का उपयोग किया गया था जो फिजिक्स थू एक्सपेरिमेंट्स में थे। इन चित्रों को बनाने का काम एक पेशेवर चित्रकार ने किया था। वैसे लाल वैज्ञानिक कुल मिलाकर एक अत्यंत शांत भाव (tranquillity) का एहसास देती है। इसका श्रेय प्रमुख रूप से इसमें प्रयुक्त कागज़

की गुणवत्ता और थॉमसन प्रेस द्वारा छपाई की गुणवत्ता को दिया जा सकता है। छपाई में दो रंगों का उपयोग किया गया था मगर रजिस्ट्रेशन की कोई समस्या नहीं थी। स्क्रीन्स का बहुत सुंदर उपयोग किया गया था। रेखाचित्रों और फोटोग्राफ्स का मिला-जुला उपयोग करके सूचना व निर्देशों को संतुलित ढंग से प्रस्तुत किया गया था। कहीं भी चित्र हावी होते नहीं लगते, एक तरह से पाठ्य वस्तु के साथ घुले-मिले लगते हैं।

यदि फोटोग्राफ्स को छोड़ दें तो शेष रेखाचित्रों में जहां भी बच्चों को प्रयोग करते दिखाया गया है वहां पूरा शरीर नहीं बल्कि सिर्फ कोई हाथ दिखता है जो प्रयोग कर रहा है; ठीक वैसे जैसे 'वैज्ञानिक' चित्र होते हैं।

लगभग यही स्थिति ज़िला स्तरीय प्रसार के समय भी रही। 1978-80 के दरम्यान तैयार बाल वैज्ञानिकों में लेआउट व चित्रांकन का काम लेखकों में से ही कुछ लोगों ने किया था, किसी पेशेवर की मदद नहीं ली गई थी। इन पुस्तकों में एक बात साफ़ झलकती है कि बाल वैज्ञानिक के रचयिता किताबों को उसाठस भरने के खिलाफ़ थे, इसलिए प्रथम संस्करण में काफी खाली जगहें नज़र आती हैं। एक तो हाशिए वगैरह काफी अधिक छोड़े गए थे और दूसरा पैराग्राफ़ के बीच-बीच में भी काफी जगह छोड़ी गई थी। ऐसा करने का कारण स्पष्ट नहीं है।

वैसे बाहर से देखने पर बाल वैज्ञानिक पाठ्य पुस्तक जैसी नहीं लगती थी। कक्षा 6, 7 व 8 (खंड 1) की किताब में तो आवरण पर ही सवालीराम की चिट्ठी छपी थी। पिछले आवरण पर एक बच्चे द्वारा बनाया गया चित्र छपा था, जिसमें बच्चे शिक्षक के साथ परिभ्रमण पर निकले हैं। दरअसल, आवरण चित्र बनाने के लिए एक प्रतियोगिता आयोजित की गई थी, उसमें से यह चित्र चुना गया था। कक्षा 8 (खंड 2) का आवरण चित्र प्रसिद्ध चित्रकार स्वर्गीय विष्णु चिंचालकर द्वारा बनाया गया था। इसमें संयोग और संभाविता नामक अध्याय की एक गतिविधि 'चित्र-पट की दौड़' को चित्रित किया गया है। बताते हैं कि चिंचालकर जी को यह चित्र कई बार बनाना पड़ा था क्योंकि आग्रह यह था कि चित्र में गतिविधि का, हलचल का ऐहसास होना चाहिए।

एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि बाल वैज्ञानिक की छपाई दो रंगों में होती थी। एक तो सारे प्रश्नों को अलग रंग में छापा जाता था और कई चित्रों में भी दो रंगों का उपयोग किया जाता था। प्रयोग करने के निर्देश और अन्य पाठ्य वस्तु काले रंग में होती थी। इसके कारण किताब की कीमत बढ़ जाती थी मगर हो.वि.शि.का. समूह शासन को यह विश्वास दिलाने में सफल रहा था कि बाल वैज्ञानिक में दो रंगों की छपाई अनिवार्य और वांछनीय है। इस कारण से, तथा कम संख्या में छपने के कारण बाल वैज्ञानिक की लागत में जो वृद्धि होती है, वह शासन वहन करे तथा बच्चों को ये किताबें उसी कीमत पर मिलनी चाहिए जिस पर अन्य ज़िले के बच्चों को विज्ञान की पाठ्य पुस्तक मिलती है। वैसे दो रंगों की छपाई तकनीकी कारणों से और मुद्रक की लापरवाही के चलते अपने आप में एक समस्या बन गई थी, और अंततः इसे छोड़ दिया गया था।

प्रथम संस्करण में अधिकांश चित्र प्रयोगों के निर्देश स्पष्ट करने के लिए बनाए गए थे। चूंकि अधिकांश चित्र शौकिया चित्रकारों द्वारा बनाए गए थे, इसलिए इनमें एक किस्म की अनगढ़ता झलकती है। मगर चित्रों की सटीकता व उनमें प्रस्तुत जानकारी के सही होने पर बहुत ध्यान दिया गया था।

जैसे, अपनी हड्डियां पहचानो नामक अध्याय के लिए कंकाल का चित्र दिया जाना था। अध्याय के लेखकों, कुछ शिक्षकों व डॉक्टरों ने मिलकर इस पर काफी दिमाग लगाया था। उन्होंने कंकाल का एक अच्छा व सही चित्र खोजने की बहुत कोशिश की मगर नहीं मिला। नतीजा यह हुआ कि एक शिक्षक (जिन्हें चित्र बनाने का थोड़ा अनुभव था) को इंदौर के मेडिकल कॉलेज में भेजा गया जहां उन्होंने मनुष्य के वास्तविक कंकाल को देखकर उसका चित्र बनाया। इस चित्र को जांचने-परखने के

बाद बाल वैज्ञानिक में स्थान मिला। यह किससा उन्हीं शिक्षक, उमेश चौहान, की जुबानी:

“मानव कंकाल का आदमकद चित्र बनाने के लिए मुझे डॉक्टर अनिल सद्गोपाल ने इन्डौर भिजवाया था। इन दिनों में चित्रकारी तो करता था मगर आत्म विश्वास की कमी थी। जब मैंने इन्डौर मेडिकल कॉलेज का म्यूजियम देखा और वहां लटके मानव कंकाल देखे तो डर गया। एक रात तो मुझे नींद में भी कंकाल नज़र आ रहे थे किंतु डॉ. प्रकाश छजलानी एवं उस विभाग की प्रमुख डॉ. घोडपकर ने मुझे प्रोत्साहन दिया और मैंने लायब्रेरी से हड्डियों के चित्र देखे, कंकाल में वे कैसे जुड़ी हैं, उसे समझा तब कहीं सात दिन के प्रयास के बाद मानव कंकाल के चित्र बने जिन्हें बाल वैज्ञानिक कक्षा 7 में स्थान मिला।”

किसी प्रयोग के लिए चित्र बनाते हुए उसे वास्तव में उसी सामग्री से करके देखा जाता था जो स्कूलों को उपलब्ध कराई जाना थी। हालांकि बाद के संस्करणों में चित्र पेशेवर चित्रकारों ने बनाए हैं, मगर यह परंपरा जारी रही कि चित्र बनाते समय चित्रकार के पास वास्तविक किट सामग्री उपलब्ध होना चाहिए और संभव हो, तो उसे वह प्रयोग करके देख लेना चाहिए। चित्रकारों के एक दल ने तो यहां तक आग्रह किया था कि वे वास्तविक स्कूलों में परिस्थिति देखकर ही आगे बढ़ेंगे।

1985 में जब बाल वैज्ञानिक संशोधन का निर्णय लिया गया तो पहली बार यह सोचा गया कि नए संस्करण के चित्रांकन व साज सज्जा के लिए पेशेवर मदद ली जानी चाहिए। इस काम का ज़िम्मा आई.आई.टी. बंबई के इंडस्ट्रियल डिजाइन सेंटर (आई.डी.सी.) के कीर्ति त्रिवेदी को सौंपा गया था। कीर्ति ने 1985 में कक्षा 6 के प्रथम संस्करण की एक समीक्षा संप्रेषणीयता के नज़रिए से प्रस्तुत की थी। इस समीक्षा में कई बारीकियों पर ध्यान दिया गया था और कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए थे हालांकि वास्तव में इन सारे सुझावों पर अमल नहीं हुआ।

अपनी समीक्षा में आई.डी.सी. समूह ने चित्रांकन व साज-सज्जा को लेकर कई टिप्पणियां करते हुए कुछ सुझाव दिए थे। जैसे,

1. बाल वैज्ञानिक विज्ञान की किताब है और यह बात इसके प्रस्तुतीकरण में झलकना चाहिए। यानी इसकी साज-सज्जा में एक सलीका और एकरूपता होना चाहिए।

2. चित्रों में दी गई जानकारी या निर्देश सही होने चाहिए। आई.डी.सी. दल ने पाया था कि कक्षा 6 की बाल वैज्ञानिक में कुल 94 चित्रों में से 74 निर्देश चित्र व 20 सूचना चित्र हैं। उन्होंने पाया कि आधे से ज्यादा चित्रों में गलतियां थीं या वे भ्रामक थे।

एक समस्या किट कॉपी की थी। कई गतिविधियों के लिए बच्चों को ग्राफ कागज, चौखाना कागज, काले कागज, कंकाल के चित्र वगैरह की ज़रूरत पड़ती है। ऐसी सामग्री एक अलग किट कॉपी के रूप में तैयार की गई थी। किताब के साथ किट कॉपी मुफ्त देने का प्रावधान किया गया था। इसके कारण एक समस्या आती थी। कई बच्चे ‘सेकंड हैण्ड’ किताबें खरीदते हैं। कई बच्चों को ‘बुक बैंक’ से किताबें मुहैया कराई जाती हैं। इन्हें किट कॉपी कहां से मिले? इसलिए किट कॉपियां अधिक संख्या में छपवाई जाती थीं और अलग से बिक्री के लिए उपलब्ध रहती थीं। आई.डी.सी. समूह का इस संदर्भ में सुझाव यह था कि बाल वैज्ञानिक में कार्य पुस्तक, उत्तर पुस्तिका व किट कॉपी का समावेश एक ही जिल्द में किया जाना चाहिए।

3. दल का मत था कि अवधारणाओं के समान ही बाल वैज्ञानिक में प्रस्तुतीकरण व संकेतों/प्रतीकों का विकास भी क्रमशः किया जाना चाहिए। जैसे शुरू में किसी क्रिया को दर्शाने के लिए फोटोग्राफ या त्रि-आयामी चित्र का उपयोग किया जाए और धीरे-धीरे रेखाचित्रों व प्रतीकात्मक चित्रों का उपयोग किया जाए। वैसे छपाई की स्थिति को देखते हुए दल का सुझाव था कि फोटोग्राफ्स का उपयोग कम से कम किया जाए।

4. एक सुझाव यह भी था कि अध्यायों में

विभिन्न किस्म की पाठ्य वस्तुओं (जैसे कथन, विचार, अभिव्यक्ति, क्रिया के निर्देश, सावधानियां वगैरह) में भेद करने के उपाय किए जाएं।

5. कुछ सुझाव जगह की बरबादी को कम करने के सम्बंध में दिए गए थे। जैसे यह कहा गया था कि बाल वैज्ञानिक में प्रयोगों व उपखंडों के शीर्षकों के लिए एक बड़ा हाशिया छोड़ा जाता है। बेहतर होगा कि इस हाशिए का उपयोग चित्रों के लिए भी किया जाए ताकि जगह बच सके। इसी प्रकार से यह सुझाव भी दिया गया था कि लाइनों व पैराग्राफ के बीच बहुत ज्यादा जगह न छोड़ी जाए।

6. उनके कुछ सुझावों का सम्बंध तकनीकी समस्याओं से था। सबसे महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि (यदि छपाई के दौरान गुणवत्ता पर नियंत्रण न रखा जा सके तो) छपाई एक ही रंग में की जाए। क्योंकि यदि दो रंगों में छपाई ठीक से नहीं होती तो चित्र और अस्पष्ट हो जाते हैं।

इसके अलावा लेआउट व चित्रों के सम्बंध में, आवरण पृष्ठ के सम्बंध में, किताब की बाइंडिंग के सम्बंध में, यानी किताब के हर पक्ष को लेकर विचार प्रस्तुत किए गए थे।

बाल वैज्ञानिक के द्वितीय संस्करण की साज सज्जा का काम आई.डी.सी. समूह ने ही किया था और उनके कई सुझावों का समावेश उसमें किया गया था।

आई.डी.सी. द्वारा तैयार किए गए बाल वैज्ञानिक के द्वितीय संस्करण में कुछ बातें साफ तौर पर देखी जा सकती हैं। (वैसे द्वितीय संस्करण में सिर्फ कक्षा 6 व 7 के चित्रांकन व साज-सज्जा का काम आई.डी.सी. समूह ने किया था।) यदि आप इन पुस्तकों को देखेंगे तो साफ दिखेगा कि प्रस्तुतीकरण बहुत व्यवस्थित है, ग्रिड का बहुत ध्यान रखा गया है, चित्रों में त्रि-आयामी से शुरू करके धीरे-धीरे द्वि-आयामी प्रतीकात्मक चित्रों, फ्लो-चित्रों वगैरह की ओर बढ़ते हैं।

वैसे अपनी ही सलाह के विरुद्ध किर्ती व उनके दल ने बाल वैज्ञानिक में डिज़ाइन के कई तत्वों का उपयोग किया था। जैसे उन्होंने सारे अध्यायों के लिए एक बार कोड का इस्तेमाल किया था जिसे बाहर से देखकर ही आप अध्याय क्रमांक के अलावा यह भी बता सकते हैं कि उस अध्याय में परिभ्रमण होता है या नहीं। मगर ‘छपाई पर नियंत्रण के अभाव’ में यह बेकार ही रहा। इस अनुभव के बाद कक्षा 7 में ऐसी कोई कोशिश नहीं की गई। उन्होंने दोरंगी छपाई को भी जारी रखा और इसके नतीजे दुखदायी रहे। उन्होंने आवरण की डिज़ाइन इस तरह की थी कि उस पर 6 व 7 को तरह-तरह से दर्शाया गया था।

आई.डी.सी. दल ने एक समस्या पर ध्यान तो दिया था मगर उसके बारे में कुछ किया नहीं। अधिकांश निर्देश चित्रों में आपको सिर्फ उपकरण नज़र आते हैं या बहुत हुआ तो कटे हुए हाथ दिखते हैं जो प्रयोग को अंजाम दे रहे हैं। किताब को तैयार करने वाले समूह का ख्याल था कि ऐसे ‘कटे हाथ वाले चित्र’ बेगाने से लगते हैं और बच्चों को यह संदेश नहीं देते कि यह प्रयोग उन्हें करना है। मगर दिक्कत यह है कि यदि आप किसी क्रिया पर ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं, तो प्रयोग के पूरे तामज्ञाम को और प्रयोग करने वाले बच्चों को दिखाना कठिन है, क्योंकि उनसे ध्यान भटकता है। इस समस्या का समाधान तलाश करना ज़रूरी लगता है, खास तौर से छोटे बच्चों के लिए लिखी जा रही किताब में।

वैसे आई.डी.सी. द्वारा तैयार की गई किताब के चित्रों में एक बात और झलकती है। इन चित्रों में किसी क्रिया पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास काफी सायास लगता है। इसके कारण कई जगह ऐसा हो गया है कि चित्र को देखकर ऐसा लगता है कि प्रयोग करने वाला व्यक्ति वह प्रयोग प्रदर्शन के उद्देश्य से कर रहा है। यह कहना मुश्किल है कि इसका असर क्या होता है मगर ये चित्र खुद प्रयोग करने का नहीं बल्कि प्रदर्शन को देखने का भाव पैदा करते हैं। कहने का मतलब है कि ऐसे चित्र कैसे होंगे जो बच्चों को यह बताएंगे कि प्रयोग करने वाले कोई और नहीं, स्वयं वे ही हैं।

इस संस्करण (कक्षा 6 व 7) के चित्र बहुत चिकने-चुपड़े लगते हैं। प्रयोग करने वाले हाथ काफी नज़ाकत के साथ बहुत सावधानी से प्रयोग करके दिखा रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो लगभग सभी

चित्रों के बारे में यह बात कही जा सकती है। संक्षेप में कहें, तो जान नहीं है चित्रों में, एक किस्म की कृत्रिमता है। मगर सूचना की दृष्टि से सटीकता है।

इस संस्करण की बाल वैज्ञानिक की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कोई फालतू चित्र नहीं है। यानी सजावटी चित्रों का नितांत अभाव है।

इस संस्करण की कक्षा 8 की पुस्तक का चित्रांकन हो.वि.शि.का. समूह से जुड़ी कैरन हैडॉक ने किया था। कैरन न सिर्फ एक चित्रकार हैं वरन् विज्ञान, पाठ्य पुस्तक, शिक्षा, विकास और बच्चों को लेकर उनके काफी अलग विचार भी हैं। और ये सब कक्षा 8 की बाल वैज्ञानिक (1989) में झलकते हैं।

इस किताब में अचानक ढेर सारे समूचे इन्सान नज़र आते हैं - प्रयोग करते हुए (या न करते हुए, मात्र मज़ा लेते) बच्चे दर्जनों में हैं। हाशिए जीवंत हो उठे हैं। जहां आई.डी.सी. समूह ने मूलतः दो तरह के चित्रों - निर्देश व सूचना - का उपयोग किया था वहीं कैरन ने तीसरी व चौथी श्रेणी के चित्रों का समावेश किया। एक थे सिर्फ मज़े के लिए चित्र और दूसरे किसी स्थिति को दर्शाते या उस पर टिप्पणी करते चित्र। ये चित्र न तो किसी प्रयोग को करने की विधि को चित्रित करते हैं, न ही कोई जानकारी देते हैं, मगर कुछ उकसाते हैं, कुछ सवाल उठाते हैं।

आई.डी.सी. समूह का विचार था कि बाल वैज्ञानिक मूलतः विज्ञान की किताब है। कैरन ने इसमें यह और जोड़ा कि बाल वैज्ञानिक विज्ञान की किताब होने के अलावा एक ऐसी किताब होनी चाहिए जो बच्चों को कुछ करने को और करते-करते मज़ा लेने को प्रेरित करे।

कैरन के चित्र दर्शाते हैं कि कैसे चित्रांकन से एक अलग शिक्षा पद्धति को चित्रित किया जा सकता है। जैसे इन चित्रों में कक्षा में शिक्षक की भूमिका को बहुत अलग ढंग से प्रस्तुत किया गया है। शारीरिक रचना से सम्बन्धित चित्रों में उन्होंने जेंडर की दृष्टि से उदासीन तंत्रों को भी स्त्री शरीर में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार से मूल पाठ में चल रहे क्रियाकलापों और उनके निष्कर्षों को आंख मूंदकर स्वीकार करते जाने की प्रवृत्ति से बचने के लिए कई चित्रों में पैनी टिप्पणियां हैं।

वैसे कैरन के चित्रों से सजी किताब जब बच्चों के हाथ में पहुंची थी, तो प्रतिक्रिया बहुत मिली-जुली रही थी। पसंद-नापसंद काफी स्पष्ट थी। कैरन द्वारा बनाए गए चित्रों में बच्चे चिकने-चुपड़े नहीं होते। बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि उनके चित्रों में बच्चे सप्रयास अनगढ़, ‘देहाती’, ‘आदिवासी’, ‘अश्वेत’ वगैरह गुणों से विभूषित होते हैं। मुख्य नकारात्मक टिप्पणियां इस पक्ष को लेकर थीं। बहरहाल कैरन ने पाठ्य पुस्तक चित्रांकन को नए आयाम दिए। हो सकता है इनमें परिष्कार की ज़रूरत है।

इसके बाद आया तीसरा संस्करण (2000-02)। इस समय तक हो.वि.शि.का. समूह के विचारों में काफी परिवर्तन आ चुका था। और दूसरे संस्करण की कक्षा 8 की किताब में कैरन के योगदान की बदौलत चित्रों के बारे में कई नए विचारों के लिए जगह बन चुकी थी। इस बार चित्रांकन व साज-सज्जा का काम राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान के तरुणदीप गिरिधर ने संभाला। चित्र बनाने का काम बड़ौदा के चित्रकार रंजीत बालमुचु ने किया।

इस टीम ने स्कूलों का दौरा करके यह पता लगाने की कोशिश की कि बच्चे चित्रों को किस तरह समझते हैं, किस तरह के संकेत/प्रतीक उपयोगी रहेंगे वगैरह। इसी प्रकार से किसी भी फूल-पत्ती का चित्र बनाने से पहले वे किसी पुस्तक में उसका चित्र देखकर संतुष्ट नहीं होते थे। उन्हें वास्तविक चीज़ देखना ज़रूरी लगता था। प्रामाणिकता पर बहुत ज़ोर था।

इस टीम ने सबसे पहला काम यह किया कि दोरंगी छपाई को तिलांजलि दे दी। कटे हाथ वाले चित्रों की समस्या का एक समाधान इस टीम ने निकाला - वे पहले एक पूरा चित्र बनाते थे जिसमें प्रयोग का संदर्भ बन जाता था और फिर दूसरे चित्र में क्रिया पर फोकस किया जाता। वैसे भी अधिकांश चित्रों में

द्वितीय प्रारूप

पूरे इन्सान प्रयोग करते नज़र आते हैं। टोलियों में काम करते बच्चे भी काफी जगह नज़र आते हैं। आई.डी.सी. दल की तरह तरुणदीप ने भी चित्रों में शैलियों का क्रमिक विकास करने का प्रयास किया है। कई जगह तो उन्होंने एक ही चित्र को दो शैलियों में भी प्रस्तुत किया है।

इसी टीम ने पहली बार चंगू-मंगू नामक दो पात्र तैयार किए जो किसी बात पर ज़ोर देने, सावधानी को रेखांकित करने वगैरह काम करते थे।

इस शृंखला में भी कक्षा 8 की किताब फिर से कैरन के ज़िम्मे ही आई थी।

दरअसल, बाल वैज्ञानिक के तीन संस्करणों में चित्रांकन को देखकर दो विचार दिमाग में आते हैं। पहला तो यह है कि चित्रांकन सचमुच पुस्तक की भूमिका को समृद्ध कर सकते हैं - सिर्फ पुस्तक में प्रस्तुत निर्देशों या जानकारी को स्पष्ट करके नहीं बल्कि उस पुस्तक से की जा रही अपेक्षाओं को उभारकर। जैसे पाठ्यक्रम, विषयवस्तु, भाषा वगैरह को लेकर करते-करते सीखने की बात कही गई थी, वही बात चित्रांकन व साज-सज्जा पर भी लागू होती है। जैसे-जैसे चित्रकार जुड़े, वैसे-वैसे नए विचार आए और धरातल पर उतरे।

अध्यायों के सारांश

बाल वैज्ञानिक अध्याय का सार प्रस्तुत करना काफी मुश्किल काम है। कारण यह है कि वैसे तो लगभग हर अध्याय को किसी अवधारणा या विषय के इर्द गिर्द बुना गया है मगर अध्याय सिर्फ उन उपशीर्षकों में सिमटता नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्व इन अध्यायों में साकार होते हैं। आगे जो सार प्रस्तुत किए गए हैं उनमें यथासंभव पूर्णता लाने का प्रयास किया गया है। मूल विवरण 1978-80 के संस्करण के अध्यायों का है और लाल वैज्ञानिक, काड्स, 1987-89 व 2000-02 के संस्करणों की चर्चा तुलना के रूप में ही की गई है। पूरे अध्याय देखने की रुचि हो, तो बाल वैज्ञानिक के सारे संस्करण एकलाल्य में उपलब्ध हैं।

कक्षा 6

1. कुछ खेल खिलवाड़

यह कक्षा 6 का पहला अध्याय है और इसमें बच्चे अवलोकन करने के लिए लैंस और सूक्ष्मदर्शी का उपयोग करते हैं। प्यूज बल्ब में पानी भरकर लैंस बनाया जाता है, उसे टिकाने के लिए तार का स्टैण्ड बनाया जाता है और माचिस का सूक्ष्मदर्शी बनाया जाता है। अंत में किट के सूक्ष्मदर्शी से परिचय तथा उसकी मदद से कुछ चीज़ों के अवलोकन किए जाते हैं।

बाद के संस्करणों में माचिस के सूक्ष्मदर्शी का स्वरूप काफी बदला है। वास्तव में माचिस के सूक्ष्मदर्शी ने कई लोगों की सृजनात्मकता को प्रेरित किया है और आज सूक्ष्मदर्शी के अनगिनत मॉडल्स उपलब्ध हैं।

अपने हाथों से उपकरण बनाना और अवलोकन लेना तथा 2000 के संस्करण में लैंस से छोटा प्रतिबिंब बनाकर देखने की रोचक गतिविधि है।

वैसे अध्याय का स्वरूप खेल-खिलवाड़ का ही रखा गया है।

2. समूह बनाना सीखो

वस्तुओं के गुणधर्म पहचानना, गुणधर्मों के आधार पर समूह बनाना, दिए गए समूह के गुणधर्म पहचानना, एक वस्तु का दो या दो से अधिक समूहों में आना (परस्पर व्याप्त समूह) वगैरह अवधारणाओं से सम्बंधित गतिविधियां हैं।

1972 की बाल वैज्ञानिक में इस अध्याय का नाम 'वस्तुएं और समूह' था। इसमें बाकी बातें तो वही हैं, मगर वस्तुओं में अंतर पर भी ध्यान दिलाया जाता है। इसमें दो वस्तुओं की तुलना के लिए पैमाने के उपयोग सम्बंधी गतिविधि भी है। odd man out की गतिविधियां भी हैं। गृहकार्य के रूप में अभ्यास के लिए कई सवाल हैं।

1987 के संस्करण में अध्याय की शुरुआत वस्तुओं में अंतर पहचानने की गतिविधि से होती है, उसके बाद समानताएं और समूह बनाने की गतिविधि आती है। odd man out की गतिविधि है, जिसमें एक से अधिक सही उत्तर आ सकते हैं। अंत में एक सार्थक समूह की बात को उभारने के लिए गतिविधि है: बाजार को एक नए तरह के गुणधर्मों के आधार पर व्यवस्थित करके कल्पना करना है कि इसके क्या परिणाम होंगे।

2000 के संस्करण में अवधारणाएं तो यही हैं मगर अभ्यासों की संख्या कहीं अधिक है और चित्रों के माध्यम से भी समूहीकरण किया जाता है।

3. पत्तियों का समूहीकरण

अध्याय परिभ्रमण आधारित है। परिभ्रमण के दौरान एकत्रित पत्तियों का अध्ययन करके समूहीकरण करना व हर्बेरियम बनाने की गतिविधियां की जाती हैं। पत्तियां एकत्रित करने के लिए लिफाफे बनाने जैसी गतिविधियां भी हैं। पत्तियों के गुणधर्मों की जानकारी को पहले एक तालिका के रूप में प्रस्तुत करना है और फिर उसके आधार पर समूहीकरण की तालिका बनाना है।

1987 में लिफाफा बनाने की गतिविधि हटा दी गई थी। शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय का नाम ‘पत्तियों से जान-पहचान’ हो गया था। इसमें परिभ्रमण के दौरान पत्तियां इकट्ठी करने के अलावा पर्ण विन्यास (phyllotaxy) का अध्ययन भी करते हैं। पत्तियों का समूहीकरण करने के लिए एक ही तालिका बनाई जाती है। अन्य गुणधर्मों के अलावा शिरा विन्यास को विशेष रूप से समूहीकरण का आधार बनाया जाता है। पत्तियों के गुणधर्म से परिचय हेतु दो खेल दिए गए हैं और कुछ रोचक जानकारी दी गई है।

4. चुम्बक

चुम्बकीय-अचुम्बकीय पदार्थ (प्रयोग 1), चुम्बक के ध्रुव (प्रयोग 2), चुम्बक की क्रिया पर माध्यम का असर (प्रयोग 3, 4), चुम्बक का प्रभाव क्षेत्र (प्रयोग 5), चुम्बक से दिशा (प्रयोग 6), चुम्बकों में आकर्षण-विकर्षण (प्रयोग 7), विकर्षण चुम्बक की पहचान, चुम्बक बनाना (प्रयोग 8, 9, 10)।

1987 के संस्करण में कोई बदलाव नहीं किया गया था; सिर्फ चुम्बक की खोज की दंतकथा जोड़ी गई थी।

2000 के संस्करण में उपरोक्त अवधारणाओं से सम्बंधित दो खेल जोड़े गए थे।

लाल वैज्ञानिक का अध्याय चुम्बक और पारस्परिक क्रिया लगभग ऐसा ही था।

5. हमारी फसलें और समूहीकरण

खरीफ और रबी के मौसम में अलग-अलग परिभ्रमण, फसलों की पत्तियों, फलों, बीजों का संग्रह, दो या तीन गांवों का सर्वेक्षण करके फसलों की जानकारी इकट्ठी करना, किसानों, कृषि विस्तार अधिकारी, ग्राम सेवक से चर्चा, फसलों का विभिन्न आधारों पर समूहीकरण, कृषि में फसलों के विभिन्न गुणधर्मों का महत्व, फसलों की प्रदर्शनी बनाना। अध्याय में काफी ज़ोर जानकारी एकत्रित करने पर है और इसके लिए किसानों से बातचीत तथा कृषि अधिकारियों से बातचीत, सर्वेक्षण आदि का सहारा लिया जाता है।

1987 के संस्करण में इसे दो भागों में बांट दिया गया था - ‘हमारी फसलें - 1’ और ‘हमारी फसलें - 2’; ये भाग क्रमशः खरीफ व रबी से सम्बंधित थे। परिभ्रमण में वही सब जानकारी एकत्रित करना है। फसल चक्र को समझकर रेखाचित्र (flow chart) के रूप में प्रस्तुत करने का अभ्यास है।

2000 के संस्करण में फसलों सम्बंधी अध्याय कक्षा 6 से हटाकर कक्षा 7 व 8 में शामिल किया गया था : ‘फसलों के सवाल जवाब - 1 और - 2’। ‘फसलों के सवाल-जवाब - 1’ में मुख्यतः इस सवाल की छानबीन की जाती है कि क्यों अधिकतर फसलों के मौसम निश्चित होते हैं। इसका सम्बंध फूलने के लिए जरूरी निश्चित अंधकार अवधि से जोड़ा गया है। साथ में इस बात पर भी विचार किया गया है कि उक्त अंधकार अवधि के पूर्व पौधे की एक निश्चित वृद्धि भी हो जानी चाहिए। इस प्रकार से फसल पकने की अवधि के महत्व की बात की गई है।

‘फसलों के सवाल जवाब - 2’ में कृषि के विभिन्न कारकों (सिंचाई, पोषण, फसल की किस्म, कीट व खरपतवार) का विश्लेषण किया गया जाता है। दी गई जानकारी के आधार पर बच्चों को इन कारकों

के बारे में राय बनानी है। दोनों अध्यायों में जानकारी देकर सवाल पूछने की विधि अपनाई गई है। प्रयोग नहीं हैं और परिभ्रमण भी नहीं है।

6. बल और भार

बल के विविध एहसास - दैनिक जीवन के उदाहरणों की चर्चा, चुम्बकों के बीच आकर्षण-विकर्षण (प्रयोग 1), सायकिल पंप चलाने पर हवा का बल (प्रयोग 2), कांच की पट्टियों के बीच पानी की झिल्ली के कारण आसंजन बल (प्रयोग 3), बिना छुए बल का असर (चुम्बक-लोहा), हवा और पानी के बहाव का बल, मीटर पैमाने पर वज़न रखकर नमने के आधार पर बल का मात्रात्मक एहसास (प्रयोग 4) आदि प्रयोग किए जाते हैं। मूलतः यह अवधारणा उभरती है कि धक्के या खिंचाव का एहसास ही बल है और भार भी एक बल है।

लाल वैज्ञानिक में बल के एहसास के लिए काफी अलग ढंग के प्रयोग थे। जैसे एक स्प्रिंग को दबाना और खींचना, स्प्रिंग पर ईंट रखकर देखना, स्प्रिंग के नीचे लोहा लटकाकर चुंबक का असर (दूर से लगने वाला बल), दो बीकरों में अलग-अलग श्यानता के द्रव भरकर उनको हिलाने में लगने वाले बल में अंतर, रबर की मोटी नली को ऐंठना, मोड़ना (आकृति में परिवर्तन), सायकिल पंप दबाने पर लगने वाला बल वगैरह। बल नापने की इकाइयों की चर्चा थी और भार पर काफी काम किया जाता था।

1987 के संस्करण में बल के विविध एहसास तो उसी तरह (1978 जैसे) थे। साथ में पंजा लड़ाने की गतिविधि के माध्यम से बल की दिशा का संकेत दिया गया है। इसके अलावा गुरुत्व बल की भी चर्चा है। बल का मात्रात्मक एहसास रबर बैण्ड पर वज़न लटकाकर तनने से दिया जाता है।

2000 के संस्करण में बल और भार को कक्षा 6 से हटाकर कक्षा 8 में 'कहाँ-कहाँ नहीं है बल' के नाम से रखा गया। यह अध्याय विभिन्न स्थितियों में बलों के विश्लेषण पर आधारित है। इसमें धर्षण बल को एक प्रमुख स्थान दिया गया है और गैलीलियो के ख्याली प्रयोग का विस्तृत विवरण है। त्वरण को बल की उपस्थिति से जोड़ा गया है मगर आगाह किया गया है कि स्थिर वस्तु या एक समान चाल से चल रही वस्तु के मामले में सावधानी की ज़रूरत है। गुरुत्व बल की चर्चा के बाद भार की बात की गई है। बलों की दिशा की बात भी विस्तार में है। प्रयोग न के बराबर हैं।

7. भोजन और पाचन क्रिया

अध्याय पांच खण्डों में बंटा है। भूमिका के रूप में भूख हड़ताल व उपवास से शरीर पर होने वाले असर की चर्चा है।

खण्ड 1 में जंतुओं के अवलोकनों की मदद से भोजन व भोजन लेने के ढंग में विविधता को उभारा गया है। विभिन्न जंतुओं के भोजन की तालिका बनाई जाती है और जंतुओं को शाकाहारी, मांसाहारी, सर्वाहारी और परजीवी समूहों में बांटा जाता है। प्रयोग 1 में विभिन्न जंतुओं को पकड़कर उनके भोजन लेने के ढंग और सहायक अंगों का अवलोकन करना है। बंदी अवस्था और प्राकृतिक अवस्था में उनके व्यवहार की तुलना की जाती है।

खण्ड 2 में विभिन्न भोज्य पदार्थों में मण्ड परीक्षण (प्रयोग 2) किया जाता है। भोजन के अन्य घटक (प्रोटीन, वसा, लवण वगैरह) बताए गए हैं।

खण्ड 3 में गरीबी और पोषण के आपसी सम्बंधों की चर्चा है। कृपोषण के लक्षण बताए गए हैं और कुपोषित बच्चे के भोजन के बारे में पता करने को कहा गया है। इन अवलोकनों के आधार पर बच्चों को गरीबी, भोजन और स्वास्थ्य के आपसी सम्बंध पर अपने मत व्यक्त करने को कहा गया है।

खण्ड 4 में आटे में से मण्ड अलग करके (प्रयोग 3) यह समझने की कोशिश है कि भोजन में मण्ड

के अलावा भी कुछ होता है।

प्रयोग 4 में मण्ड पर लार के असर की जांच की जाती है और इसका सम्बंध भोजन को चबाकर खाने से जोड़ा जाता है। इस प्रयोग में तुलना का प्रावधान है।

विच्छेदित चूहे में पाचन तंत्र का अवलोकन करके उसका नामांकित चित्र बनाया जाता है। इस खण्ड के अंत में बच्चों को गुरुजी से चर्चा करके पांच-दस वाक्य लिखना है कि भोजन के रूप में अंदर गए पदार्थों और शरीर में दौड़ते खून का आपस में क्या सम्बंध हो सकता है।

खण्ड 5 का सम्बंध पेड़-पौधों के भोजन से है। इसमें पौधों की जड़ों की भूमिका प्रयोग 5 के माध्यम से उभरती है, जिसमें एक पौधे को सादे पानी में और एक को लाल पानी में रखकर देखा जाता है कि लाल पानी ऊपर तक पहुंचता है। यह भी तुलनाशुदा प्रयोग है। बाद में लाल स्थाही में रखे पौधे की आड़ी काट काटकर बताना है कि पानी किस रास्ते ऊपर पहुंचता है। इस प्रयोग के बाद खेती-बाड़ी से जुड़े कुछ सवाल हैं।

अमरबेल का अध्ययन एक परजीवी पौधे के रूप में किया गया है। प्रयोग 7 में फफूद का अवलोकन किया जाता है।

लाल वैज्ञानिक में अध्याय की शुरुआत भोजन के अवयवों से होती है और विभिन्न भोज्य पदार्थों में मण्ड का परीक्षण किया जाता है। मण्ड के अलावा अन्य पोषक तत्वों की उपस्थिति दर्शाने के लिए एक प्रयोग है और मण्ड पर लार के असर वाला प्रयोग है।

1987 के संस्करण में अध्याय (पोषण-1) कमोबेश 1978 जैसा ही रहा; निम्नलिखित बदलाव दिखते हैं: पेड़-पौधों के भोजन वाला हिस्सा हटा दिया गया था (यह पोषण-2 यानी पौधों का पोषण का हिस्सा बना), प्रोटीन और वसा के परीक्षण जोड़े गए और संतुलित आहार की जानकारी जोड़ी गई।

2000 के संस्करण में अध्याय का नाम हुआ ‘हमारा भोजन’ और जंतुओं के भोजन वाला हिस्सा हटाया गया। इसी के साथ शाकाहारी वगैरह समूहीकरण भी गया। शेष अध्याय 1987 के समान रहा; सिर्फ़ ‘खिड़की वाले फेट की कहानी’ जुड़ी जिससे पाचन क्रिया को समझने के इतिहास की एक झलक मिलती है।

8. बीज और उनका समूहीकरण

शुरुआत खेती-बाड़ी में बीज के महत्व की चर्चा से होती है। प्रयोग 1 में उम्मीद है कि बच्चे फसलों व जंगली पौधों के बीज इकट्ठे करके उनके समूह बनाएंगे। इसके बाद कुछ बीजों की बाहरी बनावट और आंतरिक रचना का अध्ययन है (प्रयोग 2 सेम, प्रयोग 3 अरण्डी और प्रयोग 4 मक्का)। इसके अलावा कुछ बीजों का अध्ययन गृह कार्य के रूप में भी रखा गया है। अंकुर, भ्रूण वगैरह परिभाषित किए गए हैं। विभिन्न बीजों की आंतरिक रचना की तुलना करवाई गई है।

लाल वैज्ञानिक में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

1987 के संस्करण में यह अध्याय ‘बीज और उनका अंकुरण’ के नाम से था। अरण्डी के बीज का अध्ययन हटा दिया गया था और बीजों के अंकुरण की आवश्यकता सम्बंधी प्रयोग जोड़ा गया था। अधोमौमिक व ऊपरिमौमिक (hypogeal व epigeal) अंकुरण सम्बंधी प्रयोग भी जोड़ा गया था।

2000 संस्करण में बीज में उपस्थित भोजन की खोजबीन को विस्तार देते हुए मण्ड के अलावा प्रोटीन और वसा की बात भी जोड़ी गई। बीजों के अंकुरण में छिलके के महत्व पर एक आलेख भी जोड़ा गया।

9. विद्युत - 1

टॉर्च बल्ब की रचना का अध्ययन, परिपथ बनाना और परिपथ की अवधारणा की समझ (प्रयोग 1), बल्ब में रोशनी पैदा होने का कारण, सेल की शक्ति और रोशनी का सम्बंध, चालू व बंद परिपथ, विभिन्न परिपथों का विश्लेषण (मोटर या बस और टॉर्च वगैरह), विद्युत के चालक व कुचालक की पहचान (प्रयोग 2), परिपथ में स्विच का उपयोग, स्विच बनाना। अध्याय का मूल मकसद बच्चों को परिपथ की अवधारणा से परिचित कराना था।

लाल वैज्ञानिक में यह अध्याय ऐसा ही था।

1987 में इस अध्याय में बल्ब को श्रेणी व समांतर क्रम में जोड़कर परिपथ बनाने का प्रयोग जोड़ा गया था।

2000 के संस्करण में अध्याय का नाम हुआ 'बल्ब जलाओ जगमग-जगमग'। इसमें टॉर्च का विश्लेषण ज्यादा विस्तार से किया गया था और बल्ब में रोशनी पैदा होने के कारणों पर ज्यादा विस्तार में प्रकाश डाला गया था। बल्ब के आविष्कार की कथा भी दी गई है। समांतर व श्रेणी क्रम हटाकर सातवीं में डाला गया था।

10. गणक के खेल

बच्चों में स्थानीय मान और दशमलव के पुष्टिकरण के लिए यह अध्याय शामिल किया गया है। शिक्षक घनश्याम की कहानी सुनाते हैं जिससे दाशमिक प्रणाली का परिचय मिलता है। इसके बाद 6 तारों वाले गणक पर मोतियों की मदद से स्थानीय मान व दशमलव सम्बंधी अभ्यास हैं।

1987 व 2000 के संस्करण में घनश्याम की कहानी अध्याय में ही दी गई थी।

11. दूरी नापना

रोजमर्झ जीवन में दूरी नापने के तरीके, चीज़ों को पास-पास रखकर तुलना, किसी पैमाने की मदद से दो चीज़ों की तुलना, व्यक्तिगत (arbitrary) पैमाने, पैमाने की कहानी, मानक पैमाने की ज़रूरत, मानक पैमाने से परिचय, अपना पैमाना बनाना, अल्पतम माप, इकाइयां, पैमाने के उपयोग का सही तरीका, नापने का अभ्यास, अनुमान लगाना, अनुमान लगाने में दिक्कत, वक्र रेखा नापने के तरीके (धागे से और डिवाइडर से), बबूल के कांटे से डिवाइडर बनाना। अध्याय में पैमाने से नापने और अनुमान लगाकर उसकी जांच करने को काफी महत्व दिया गया है।

लाल वैज्ञानिक के अध्याय में अनुमान लगाने की समस्याओं से शुरू करके मानक पैमाने के उपयोग का अभ्यास करवाया जाता था।

1987 का अध्याय मूलतः 1978 जैसा ही था - वक्र रेखा की लंबाई सिर्फ़ धागे से नपवाई जाती है, इसलिए बबूल के कांटे का डिवाइडर भी अनावश्यक हो गया।

2000 में भी अध्याय 1987 जैसा ही रहा।

12. पृथक्करण

दैनिक जीवन के कुछ मिश्रण व शुद्ध पदार्थों पर विचार करने के बाद बच्चों को कुछ सरल मिश्रण दिए जाते हैं जिनमें से उन्हें पदार्थों को अलग-अलग करना है - ज़रूरी नहीं कि अलग किए गए पदार्थ शुद्ध हों (वे स्वयं भी मिश्रण हो सकते हैं)। इसके लिए वे अपनी मनपसंद विधियों का उपयोग करेंगे मगर इन विधियों का आधार बताएंगे। प्रयोग 1 यही है।

प्रयोग 2 में घुलनशीलता में अंतर के आधार पर पृथक्करण किया जाता है और प्रयोग 3 में घुलनशीलता पर तापमान का असर देखकर बच्चों को यह समझना है कि इसका उपयोग पृथक्करण के लिए कैसे किया

जा सकता है। विभिन्न पदार्थों की घुलनशीलता के आधार पर इन्हें अलग-अलग करने पर विचार करते हैं। इसके बाद प्रयोग 4, 5 और 6 में आसवन की विधि को समझने और व्यावहारिक तौर पर करने का प्रयास होता है।

प्रयोग 7 में विभिन्न ठोस पदार्थों पर ऊष्मा का प्रभाव देखा जाता है (पिघलना) और प्रयोग 8 में उर्ध्वपातन का अवलोकन किया जाता है। दैनिक जीवन में इसके उदाहरणों की बात होती है।

अंत में प्रयोग 9 व 10 में चॉक और छन्ना कागज पर क्रोमेटोग्राफी विधि का अभ्यास है।

यह अध्याय काफी हद तक प्रयोग करने के हुनर के विकास पर आधारित है। घोल बनाना, उसे हिलाना, परखनली को पकड़ना, गर्म करना, कॉर्क में कांच की नली पिरोना वगैरह क्रियाएं की जाती हैं। हर जगह सावधानियों की ओर ध्यान दिलाया गया है।

ऐसा अध्याय लाल वैज्ञानिक में तो नहीं था मगर कार्ड्स के रूप में था। क्रोमेटोग्राफी की विधि में मामूली अंतर के अलावा शेष अध्याय 1978 जैसा ही था।

1987 के संस्करण में इस अध्याय के दो भाग कर दिए गए थे - 'पृथक्करण-1' और 'पृथक्करण-2' को क्रमशः कक्षा 6 व 7 में रखा गया था। पृथक्करण-1 में घुलनशीलता व क्रोमेटोग्राफी सम्बन्धी प्रयोग हैं जबकि पृथक्करण-2 में आसवन व उर्ध्वपातन रखे गए और रवे बनाने का प्रयोग जोड़ा गया।

2000 के संस्करण में पृथक्करण का एक ही अध्याय कक्षा 6 में रहा और इसमें मात्र घुलनशीलता व क्रोमेटोग्राफी की विधियां रखी गईं। एक आधुनिक विधि के रूप में क्रोमेटोग्राफी के कुछ उपयोगों की जानकारी दी गई है। रवे बनाना एक अलग अध्याय के रूप में तैयार किया गया और घुलनशीलता को और गहराई से मात्रात्मक ढंग से समझने के लिए एक अलग अध्याय विकसित किया गया। उस अध्याय में विभिन्न पदार्थों की घुलनशीलता को नापने के प्रयोग हैं तथा द्रव में द्रव की घुलनशीलता सम्बन्धी प्रयोग भी हैं।

13. जीवजगत में विविधता

सजीवों में पाई जाने वाली तरह-तरह की विविधता से सम्बन्धित अध्याय है - एक ही जीव के अंदर विविधता, एक ही प्रजाति के दो जीवों के बीच विविधता सम्बन्धी अवलोकन की गतिविधियां शामिल की गई हैं। इन्सानों के बीच अंतर, एक ही प्रजाति (जैसे कुत्ते या बछड़े) के दो जंतुओं के बीच अंतर, एक ही प्रजाति के पेड़ों के बीच अंतर, एक ही पेड़ की दो पत्तियों के बीच अंतर, व्यक्तियों की उंगलियों, अंगूठे की छाप में अंतरों का अध्ययन करते-करते बच्चे ज़रूर इस बात के कायल हो जाते होंगे कि जीवजगत में विविधता ही विविधता है।

1987 के संस्करण में थोड़े कम उदाहरणों के साथ बात यही है।

2000 के संस्करण में विविधता का एहसास दिलाने के अलावा इस विविधता को जैव विकास के परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए डी.डी.टी. और मच्छर की कहानी जोड़ी गई है। फसलों में विविधता की ओर भी ध्यान दिलाया गया है और पालतूकरण की प्रक्रिया की ओर इशारा किया गया है।

लाल वैज्ञानिक का अध्याय 1978 की बाल वैज्ञानिक जैसा ही था।

14. घट-बढ़ और सन्त्रिकटन

मापन में घट-बढ़ एक बुनियादी अवधारणा है। अध्याय की शुरुआत घट-बढ़ के आम अवलोकनों (गिल्ली-डण्डे के खेल) से होती है। इसके बाद घट-बढ़ और गलत नाप में अंतर किया जाता है। प्रयोग 1 में एक ही छात्र द्वारा कक्षा की लंबाई दस बार नापी जाती है जबकि प्रयोग 2 में सारे बच्चे एक दरवाजे की ऊंचाई नापते हैं। इन नापों में गलत नापों को छाटने के बाद घट-बढ़ के कारणों पर विचार शुरू होता

है। इसके लिए बच्चों द्वारा नापे गए दरवाज़े के आंकड़ों को न लेकर पुस्तक में दिए गए आंकड़े लिए जाते हैं। इसी बीच इस बात पर भी विचार चलता है कि नाप कितनी बारीकी से लिखा जाना चाहिए और पैमाने के अल्पतम नाप से छोटा नाप लिखना क्या उचित है? इस समस्या से निपटने के लिए सन्निकटन की बात होती है।

अब चर्चा होती है कि घट-बढ़ होने पर यह निर्णय कैसे किया जाए कि सही दूरी क्या है। इसके लिए बहुसम्मत मान और औसत के तरीके बताए गए हैं। बहुसम्मत मान निकालने के लिए छात्र स्तंभालेख बनाना सीखते हैं। इसके बाद अपने द्वारा नापे गए दरवाज़े की ऊंचाई के आंकड़ों का स्तंभालेख बनाते हैं, बहुसम्मत मान निकालते हैं, औसत निकालते हैं।

मापन में बारीकी और मापन के उद्देश्य के बीच सम्बंध स्थापित किया गया है और नापने व घट-बढ़ के कई अभ्यास किए जाते हैं।

1987 के अध्याय में दो मुख्य परिवर्तन किए गए थे। पहला परिवर्तन तो यह था कि घट-बढ़ का प्रबंधन करने के लिए मात्र औसत निकालने की विधि शामिल की गई थी - बहुसम्मत मान नहीं रखा गया था। दूसरा परिवर्तन अध्याय के स्वरूप में था। घट-बढ़ के कारणों का संकेत अध्याय में दिया गया था और सही नाप की समस्या को ज्यादा विस्तार में देखा गया था। सन्निकटन का अभ्यास भी ज्यादा है। 2000 के संस्करण में यह लगभग ऐसा ही रहा।

लाल वैज्ञानिक में अध्याय नोटे तौर पर 1978 के समान ही था। नापने में होने वाली गलतियां इसी अध्याय का हिस्सा थीं जबकि बाद के संस्करणों में इन्हें 'दूरी नापना' में स्थानांतरित कर दिया गया।

15. मिट्टी, पत्थर और चट्टानें

परिभ्रमण पर आधारित यह अध्याय मिट्टी और पत्थरों के उपयोग की चर्चा से शुरू होता है। परिभ्रमण के दौरान मिट्टी, पत्थर व चट्टानों से सम्बंधित अवलोकन किए जाते हैं जिनसे उनकी रचना व उत्पत्ति को समझने में मदद मिले। खास तौर से मिट्टी की विभिन्न परतों पर ध्यान दिलाया जाता है। परिभ्रमण में मिट्टी व पत्थर के नमूने बटोरे जाते हैं।

स्कूल वापिस आकर अलग-अलग मिट्टियों का अध्ययन किया जाता है - कणों के आकार और जीवित वस्तुओं या सङ्ग-गले पदार्थों की उपस्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। एक प्रयोग (प्रयोग 3) में मिट्टी को पानी में धोलकर बैठने देते हैं और उसमें विभिन्न आकार के कणों का अवलोकन करते हैं। इसी प्रयोग को थोड़ा आगे बढ़ाया गया है - ऊपर का पानी निथारकर मिट्टी को सूखने देते हैं और उम्मीद है कि इससे पत्थर बनने की क्रिया को समझने में मदद मिलेगी।

प्रयोग 4 में पत्थरों और चट्टानों का अध्ययन किया जाता है। अध्ययन के लिए गुणधर्म छात्रों को खुद चुनना है। गिटियों को तोड़कर परतें देखने का प्रयास होता है। चट्टानों के तीन प्रकार (आग्नेय, तलछटी और कायांतरित) चित्रों के माध्यम से बताए गए हैं। फिर परिभ्रमण में संग्रहित पत्थरों का समूहीकरण इसी अनुसार किया जाता है।

चट्टानें कैसे बनती हैं, इसे समझाने के लिए एक तो शिक्षक से उम्मीद है कि वे पृथ्वी के इतिहास की कहानी सुनाएंगे। इसके बाद विभिन्न मॉडल्स के आधार पर चट्टानों का निर्माण समझने का प्रयास है। ईंट के भट्टे के रूपक के आधार पर आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति को समझने की कोशिश है। तलछटी चट्टान के लिए प्रयोग 3 के बाद सूखी हुई मिट्टी का अवलोकन करने को कहा गया है। कायांतरित चट्टानों के मामले में गर्मी व दबाव की बात बताई गई है।

इसके बाद मिट्टी की उत्पत्ति समझने के लिए अपरदन की विभिन्न प्रक्रियाओं पर ध्यान दिलाने के लिए पत्थरों को आपस में रगड़कर देखना, कांच पर वाइपर से पड़ने वाले निशानों के अवलोकन, पत्थर

को रेगमाल पर रगड़ना, संगमरमर पर अम्ल की किया, बारिश का पानी गिरने से पत्थर का कटना, पत्थरों के चूरे में और इस चूरे व मिट्टी तथा चूरे व गोबर के मिश्रण में बीज उगाने की कोशिश, पत्थरों की साइज व शक्लों पर ध्यान देना, कुएं के पत्थर पर रस्सी के निशान बगैर ह अवलोकनों का सहारा लिया गया है। इन सबके आधार पर गुरुजी से चर्चा करके छात्रों को चट्टान से मिट्टी बनने की किया पर एक कहानी लिखनी है।

अंत में कुछ सवाल खोजबीन के लिए दिए गए हैं।

1987 व 2000 के संस्करण में यह अध्याय नहीं रखा गया था।

16. समूह में समूह - उपसमूह

समूह की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए इस अध्याय में उपसमूह बनाने का काफी अभ्यास है। कक्षा के विद्यार्थियों के समूह बनाना, उनके और उपसमूह बनाना, यह समझना कि समूहीकरण में एक क्रमिकता है - उपसमूह के सभी सदस्यों में मूल समूह और उपसमूह दोनों के गुणधर्म होते हैं। अंत में 'चीज़ बूझो' खेल रखा गया है जिसमें एक टोली दी गई वस्तुओं में से कोई चीज़ सोचती है और दूसरी टोली को उससे नियमानुसार सवाल पूछते-पूछते इस चीज़ का पता लगाना है।

कुछ अभ्यासों में फेरबदल करके 1987 व 2000 में भी अध्याय ऐसा ही रहा। लाल वैज्ञानिक में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

17. संवेदनशीलता

कई उदाहरणों से बच्चे यह देखते हैं कि सजीवों में उद्दीपन मिलने पर प्रतिक्रिया होती है। इस गुण को संवेदनशीलता के रूप में परिभाषित किया गया है। संवेदनशीलता के महत्व को भूख-प्यास के उदाहरण से उभारा जाता है। फिर प्रयोग 1 में स्पर्श की अनुभूति को समझने के लिए हाथ के अलग-अलग हिस्सों की संवेदनशीलता का नक्शा बनाया जाता है। ताप की अनुभूति को खटमल का उदाहरण देकर समझाया गया है और इस अनुभूति में गफलत सम्बंधी प्रयोग किया गया है। इसके बाद जीभ के विभिन्न हिस्सों पर स्वादों की जांच करके एक नक्शा बनाया जाता है। गंध की अनुभूति से सम्बंधित एक प्रयोग है।

पेड़-पौधों की संवेदनशीलता को समझने के लिए दो प्रयोग हैं - पौधों में प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता और जड़ों में गुरुत्व के प्रति संवेदनशीलता। दोनों प्रयोगों में हाथों के हुनर के विकास की काफी गुंजाइश है।

अंत में संवेदनशीलता सम्बंधी कुछ सवाल हैं जिनमें आम जीवन के कुछ उदाहरणों की चर्चा है।

लाल वैज्ञानिक में भी अध्याय ऐसा ही था, गृहकार्य के रूप में खूब अभ्यास दिए गए थे।

1987 के संस्करण में अध्याय का ढांचा तो उपरोक्तानुसार ही रहा मगर प्रयोगों में मामूली फेरबदल किए गए। जैसे स्पर्श की अनुभूति का प्रयोग हाथ की बजाय पैरों के तलुए पर किया जाता है। जीभ पर स्वाद की अनुभूति वाले प्रयोग में कुछ सावधानियां जोड़ी गई और दृष्टि से सम्बंधित एक प्रयोग जोड़ा गया। शेष वैसा ही है।

2000 के संस्करण में कई परिवर्तन किए गए। सबसे पहला तो यह कि इस अध्याय को दो भागों में बांट दिया गया। पहला भाग 'संवेदनशीलता यानी आसपास की खोज-खबर' कक्षा 6 में रहा और 'सजीवों में संवेदनशीलता' कक्षा 7 में रखा गया।

कक्षा 6 का अध्याय मनुष्यों की संवेदनशीलता से सम्बंधित है। सबसे पहले बच्चों का ध्यान उन बातों की ओर दिलवाया जाता है जिनके प्रति हम संवेदनशील हैं। इसके बाद संवेदी अंगों की बात करके उनसे

द्वितीय प्रारूप

सम्बंधित प्रयोग हैं।

चमड़ी से स्पर्श और ताप की अनुभूति सम्बंधी प्रयोग दिए गए हैं और यह जानकारी दी गई है कि नेत्रहीन लोग पढ़ने के लिए स्पर्श की अनुभूति का सहारा लेते हैं।

स्वाद की अनुभूति में जीभ के स्वाद-नक्शे वाला प्रयोग नहीं रखा गया है मगर गंध और स्वाद की मिली-जुली अनुभूति का एक प्रयोग है।

दृष्टि से सम्बंधित 3 और सुनने से सम्बंधित 1 प्रयोग है।

‘सजीवों में संवेदनशीलता’ (कक्षा 7) में जंतुओं व पौधों की संवेदनशीलता के कुछ प्रयोग व चर्चा शामिल है। इस अध्याय में प्रमुख रूप से इस बात की ओर ध्यान दिलाया जाता है कि जंतुओं की संवेदनशीलता का फैसला हमें उनकी प्रतिक्रिया देखकर करना होता है और इसमें कई बार गड़बड़ भी हो जाती है। स्पर्श, ताप, गंध, प्रकाश व गैरह के प्रति जंतुओं की संवेदनशीलता से सम्बंधित प्रयोग किए जाते हैं। बीन की धुन पर सांप के नाचने का विस्तृत विश्लेषण किया जाता है। पौधों में संवेदनशीलता में पहले आम जीवन के कुछ अनुभवों की चर्चा की जाती है। इसमें स्पर्श, रात-दिन, प्रकाश अवधि व गैरह के प्रति पौधों की संवेदनशीलता की ओर ध्यान दिलाया जाता है। प्रकाश के प्रति पौधों की संवेदनशीलता का प्रयोग किया जाता है। गुरुत्व के प्रति संवेदनशीलता की बात को आम जानकारी के आधार पर उभारा गया है।

कक्षा 7

1. एक मज़ेदार खेल

माचिस की तीलियों और वाल्व ट्यूब के टुकड़ों को जोड़कर विविध आकृतियां बनाई जाती हैं और कुछ आकृतियों के गुणों को पहचानने की कोशिश होती है। आकृतियां त्रि-आयामी भी होती हैं। हाथों के हुनर के विकास की काफी गुंजाइश है। उम्मीद है कि बच्चे कई अन्य आकृतियां भी बनाएंगे।

2. जल - मृदु और कठोर

पानी में कठोरता की जांच से सम्बंधित अध्याय है। साबुन के साथ झाग पैदा करने के गुण की भद्रद से कठोरता को परखा जाता है। आसुत पानी से तुलना करके विभिन्न स्रोतों के पानी की कठोरता की जांच की जाती है। इसके बाद कुछ चुनिंदा लवणों को आसुत पानी में एक-एक करके घोलकर कठोरता की जांच की जाती है और लवणों का समूहीकरण किया जाता है। इन सारे प्रयोगों में तुलना के लिए मानक या blank की धारणा को उभारा गया है।

कठोर व मृदु जल को परिभाषित करने के बाद एक दिलचस्प चर्चा शुद्धतां को लेकर होती है - क्या मृदु पानी शुद्ध है?

इसके बाद एक प्रयोग के माध्यम से अस्थायी व स्थायी कठोरता में भेद किया जाता है। कठोरता दूर करने की रासायनिक विधि का प्रयोग है।

अंत में सवालों के माध्यम से दैनिक जीवन तथा औद्योगिक कार्यों में उपयोग की दृष्टि से कठोरता का महत्व स्पष्ट किया गया है।

अध्याय में रासायनिक प्रयोग करते हुए रखी जाने वाली सावधानियों का अच्छा अभ्यास होता है।

वर्षा जल को आसुत पानी के रूप में एकत्रित करने का निर्देश है।

काड़स के रूप में जो अध्याय था वह 1978 के मुकाबले सरल था। पहले प्रयोग में अलग-अलग स्रोतों

के पानी की जांच करते हैं, दूसरे प्रयोग में विभिन्न लवणों के साथ प्रयोग करते हैं (उसी में रथायी व अरथायी कठोरता भी देख लेते हैं), तीसरे प्रयोग में कठोरता दूर करने का उपाय था।

1987 के संस्करण में कुछ परिवर्तन दिखते हैं। एक तो घरेलू कार्यों में डिटर्जन्ट के बढ़ते महत्व को देखते हुए साबुन के अलावा डिटर्जन्ट के साथ भी प्रयोग किया जाता है। प्रयोग में बरती जाने वाली सावधानियों को रेखांकित किया गया है। दूसरा प्रमुख परिवर्तन यह है कि साबुन का घोल डालने के बाद झाग के अलावा अवक्षेप पर भी ध्यान देने को कहा गया है और एक प्रयोग के माध्यम से झाग व अवक्षेप का सम्बंध खोजने की कोशिश की जाती है। अरथायी कठोरता वाला हिस्सा हटा दिया गया है।

सन 2000 में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

3. जड़ और पत्ती

परिभ्रमण आधारित इस अध्याय में समूहीकरण की मदद से नियम खोजने का बढ़िया अभ्यास है। सबसे पहले बच्चे पौधों की पत्तियां और जड़ें इकट्ठी करते हैं। परिभ्रमण में कोशिश की जाती है कि जड़ और पत्ती के अलावा उन्हीं पौधों के बीज भी मिल सकें या उनके बीजपत्रों की संख्या मालूम की जा सके।

जड़ों के अध्ययन में मूसला व झकड़ा जड़ की पहचान करके उसके आधार पर पौधों के समूह बनाए जाते हैं। इसके बाद पत्तियों के शिरा विन्यास के आधार पर पौधों को दो समूहों में बांटा जाता है। फिर सरल व संयुक्त पत्तियों के आधार पर समूह बनाए जाते हैं। चौथा समूहीकरण होता है बीजपत्रों की संख्या के आधार पर।

जड़ों के प्रकार, पत्तियों के शिरा विन्यास, पत्तियों के प्रकार (सरल या संयुक्त) और बीजपत्रों की संख्या के आधार पर बने समूहों की सामूहिक तालिका बनाई जाती है। इस तालिका के विवेचन से बच्चे इन गुणधर्मों के परस्पर सम्बंध खोजते हैं, नियम निकालते हैं। इन नियमों की मदद से वे कुछ पौधों के बारे में भविष्यवाणी भी करते हैं।

अंत में एकत्रित पत्तियों व जड़ों की एक प्रदर्शनी तैयार की जाती है।

1987 के संस्करण में अध्याय वैसा का वैसा कक्षा 6 में रखा गया था।

2000 के संस्करण में भी ‘जड़, पत्ती और बीज’ के नाम से कक्षा 6 में ही रखा गया था। एक ही प्रमुख अंतर था कि सरल व संयुक्त पत्ती वाला समूहीकरण हटा दिया गया था।

4. कीड़ों की दुनिया

अध्याय में कीड़ों से आशय संधिपाद (आर्थोपोडा वर्ग) जंतुओं से है। पहले कीड़ों की सूची बनाई जाती है, उनके दिखने के मौसम के अनुसार समूह बनाए जाते हैं।

परिभ्रमण पर जाकर तमाम किस्म के कीड़े पकड़े जाते हैं, पकड़ते समय उनके रहने के स्थान व भोजन पर ध्यान देने को कहा गया है। स्कूल लौटकर पहला काम कीड़ों के रहने की जगह की सूची बनाने का होता है। इनका समूहीकरण किया जाता है।

इसके बाद कीड़ों की बाहरी रचना का अध्ययन किया जाता है। खास तौर से टांगों के जोड़ पर ध्यान दिलाया जाता है। इसके बाद टांगों की संख्या, पंखों की उपस्थिति, शरीर के भागों की संख्या के आधार पर समूहीकरण करके उनके बीच परस्पर सम्बंधों की खोज की जाती है, नियम बनाए जाते हैं। इन नियमों को अलग-अलग जंतुओं पर लागू करके परखा जाता है।

कीड़ों में mimicry की ओर भी ध्यान दिलाया गया है।

अंत में कीड़ों की प्रदर्शनी लगाने का तरीका बताया गया है।

1987 के संस्करण में यह अध्याय कहलाया 'जंतुओं की दुनिया'। नाम के साथ ही यह बदलाव आया कि फोकस सिर्फ कीड़ों पर न रहकर सामान्य रूप से पाए जाने वाले जंतुओं पर हो गया। परिभ्रमण के दौरान जंतु इकट्ठे करने के अलावा उनके रहने के स्थान, भोजन, अण्डे देने की जगह वगैरह पर ध्यान देने का निर्देश है।

स्कूल लौटकर सबसे पहले सारे जंतुओं के रहने के स्थान और भोजन की तालिका बनाई जाती है। इसके बाद जंतुओं को खंडित शरीर व अखंडित शरीर वाले समूहों में बांटा जाता है। टांगों में जोड़ का अध्ययन किया जाता है। फिर अलग-अलग गुणधर्मों के आधार पर कई जंतुओं की आपस में तुलना की जाती है। टांगों की संख्या और पंखों की उपस्थिति के आधार पर समूहीकरण करके कुछ नियम विकसित किए जाते हैं।

पूछ, चमड़ी पर आवरण, आंखों व कानों की उपस्थिति के आधार जंतुओं के समूह बनाए जाते हैं। इस बात की ओर ध्यान दिलाया जाता है कि कुछ जंतुओं में बाह्य रचना के आधार पर नर व मादा का भेद किया जा सकता है, कुछ में नहीं। इन अंतरों का अवलोकन करने को कहा गया है। अंत में जंतुओं की प्रदर्शनी लगाने का तरीका बताया गया है।

2000 के संस्करण में इस अध्याय के ढांचे में परिवर्तन किया गया था। इसमें मूलतः तीन जंतुओं (केंचुआ, टिड्डा और मछली) का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। सबके अवलोकन हेतु प्रश्न दिए गए हैं। बीच-बीच में जानकारी का भी समावेश है। इसके बाद परिभ्रमण पर जाकर जंतुओं का अवलोकन किया जाता है। इसमें रहने का स्थान, अकेला रहता है या झुंड में, भोजन, टांगों की संख्या, पंखों की उपस्थिति, चलने का ढंग, आवाज़ करता है या नहीं जैसी बातों पर ध्यान देने को कहा गया है। भोजन के आधार पर शाकाहारी, मांसाहारी, सर्वाहारी, परजीवी, मृतोपजीवी के समूह बनाए जाते हैं। अंत में एक खंड है 'हमारा शरीर: जंतुओं का अड्डा'। इसमें मनुष्य के शरीर में पलने वाले जीवों के बारे में जानकारी दी गई है।

5. फसलों के दुश्मन

खरीफ और रबी के मौसम में अलग-अलग परिभ्रमण व सर्वेक्षण करके फसलों पर लगने वाली बीमारियों, नुकसानदायक कीड़ों और खरपतवार के बारे में जानकारी एकत्रित की जाती है और उनसे सुरक्षा व रोकथाम के उपायों के बारे में चर्चा की जाती है। परिभ्रमण के दौरान सुझाव दिया गया है कि फसलों के प्रत्यक्ष अवलोकन के अलावा किसानों, ग्राम सेवक या कृषि विस्तार अधिकारी से भी चर्चा की जाए।

1987 के संस्करण में यह अध्याय 'फसलों की सुरक्षा' के नाम से कक्षा 8 में रखा गया था। अध्याय कमोबोश वैसा ही था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय की विषयवस्तु को काफी बदले हुए रूप में कक्षा 8 के अध्याय 'फसलों के सवाल-जवाब - 2' में शामिल कर दिया गया था।

6. अपनी हड्डियां पहचानो

दूटी हड्डी की चर्चा से शुरू करके अध्याय बच्चों को हड्डियों और जोड़ों से परिचित कराता है। इसके लिए विधि यह अपनाई गई है कि बच्चे स्वयं अपनी हड्डियों को महसूस करें और पुस्तक व किट कॉपी में दिए गए चित्रों की मदद से उन्हें पहचानते चलें। इसमें एक्स-रे चित्रों की मदद भी ली गई है। हड्डियों के जोड़ों को विभिन्न मॉडल्स के आधार पर समझाया गया है। हड्डियां पहचानने के साथ किट कॉपी में कंकाल के चित्र में रंग भी भरते जाते हैं।

वर्गीकरण में रीढ़ की हड्डी का महत्व समझाते हुए यह भी बताया गया है कि किसी जंतु में रीढ़ की

हड्डी की उपस्थिति का पता कैसे लगाया जा सकता है।

1987 के संस्करण में ‘शरीर के आंतरिक अंग - 1’ में हड्डियों के अलावा मांसपेशियों और कंडराओं की छानबीन भी की जाती है। कंकाल व मांसपेशियों से सम्बंधित रोगों की जानकारी भी दी गई है। हड्डी टूटने पर प्राथमिक उपचार की जानकारी भी दी गई है।

2000 के संस्करण में अध्याय अपरिवर्तित (1987 जैसा) रहा। लाल वैज्ञानिक में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

7. नक्शा बनाना सीखो

स्थिति बताने के आम तरीकों से शुरू करके कार्तीय निर्देशांकों से परिचित कराया जाता है और इनका अभ्यास होता है। कक्षा में कतारों में बैठे छात्रों का उदाहरण लेकर यह कार्य होता है। यह स्पष्ट होता है कि एक नियमित ग्रिड में स्थिति बताने के लिए कार्तीय निर्देशांकों का उपयोग बखूबी हो सकता है। चौखाने कागज का उपयोग तथा अक्षों की बात होती है। इसके बाद यह समस्या प्रस्तुत होती है कि बिखरी हुई वस्तुओं की स्थिति बताने के लिए क्या करेंगे। तब ध्रुवीय निर्देशांकों की बात होती है और मूल बिंदु व संदर्भ रेखा उभरती हैं। दिशा इंगित करने की ज़रूरत भी सामने आती है। तब ध्रुवीय निर्देशांक का अभ्यास होता है। कार्तीय व ध्रुवीय निर्देशांकों के तुलनात्मक लाभों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

इसके बाद नक्शा बनाने की गतिविधि शुरू होती है। पैमाना चुनना व लिखना, नक्शे के लिए बिंदुओं का चुनाव, बिंदुओं का अंकन वगैरह करके किसी जगह का नक्शा बनाया जाता है। बने हुए नक्शे की जांच का तरीका सुझाया गया है और दूरियां बनाने के लिए बांस की खपच्चियों से एक बड़ा डिवाइडर (देवयंत्र - किशोर भारती में के एक कार्यकर्ता देवतादीन मिश्र के नाम पर) बनाने की विधि दी गई है। नक्शे में पैमाने के आधार पर दूरियां पता करने के अभ्यास हैं।

1987 के संस्करण में ध्रुवीय निर्देशांक हटा दिए गए थे। कार्तीय निर्देशांक के बाद आकृतियों को छोटा-बड़ा करने का अभ्यास है - पहले चौखानों की मदद से एक बिल्ली की आकृति को छोटा किया जाता है। फिर बगैर चौखानों के आकृति को छोटा-बड़ा करने का अभ्यास है। इसमें मूल बिंदु से आकृति के अलग-अलग बिंदुओं को जोड़ने वाली रेखाओं को उसी सीध में छोटा-बड़ा करके आकृति को छोटा-बड़ा किया जाता है। फिर आते हैं खेत के नक्शे पर। नक्शा बनाने के बाद उसका क्षेत्रफल भी निकाला जाता है। गौरतलब है कि 1987/2000 के संस्करण में क्षेत्रफल का अध्याय नक्शा से पहले था। शेष अध्याय 1978 जैसा ही है।

2000 के संस्करण में अध्याय 1987 जैसा ही था।

1972 में यह अध्याय ‘स्थान और सापेक्ष स्थिति’ के नाम से था। कार्तीय व ध्रुवीय निर्देशांक सिखाए जाते हैं और इनका अभ्यास किया जाता है। ध्रुवीय निर्देशांकों के अभ्यास के लिए एक खजाने की खोज का खेल भी है। नक्शा नहीं बनाते।

8. क्षेत्रफल

मापन शृंखला का अध्याय है। बात की शुरुआत एक चित्र से होती है जिसमें कई खेत दिखाए गए हैं जिनके छोटे-बड़े होने का अंदाज देखकर नहीं लगाया जा सकता। इन खेतों में बराबर आकार की चौकोर क्यारियां बनाकर तुलना की जाती है। इसके बाद खेत नापने के स्थानीय तरीकों पर चर्चा है - इसमें इस बात को उभारा जाता है कि खेतों के नाप अक्सर बोए गए बीज की मात्रा के आधार पर बताए जाते हैं।

क्षेत्रफल नापने की इकाइयों से परिचय के बाद चौखाने कागज की मदद से अनियमित आकृतियों का क्षेत्रफल नापा जाता है - चौखानों का साइज और नाप में सटीकता का सम्बंध जोड़ा जाता है। फिर कई

गतिविधियों की मदद से आयत के क्षेत्रफल का सूत्र निकाला जाता है। परिमिति व क्षेत्रफल के सम्बन्ध की खोजबीन होती है और क्षेत्रफल नापने का खूब अभ्यास किया जाता है। 'नक्शा बनाना सीखो' अध्याय में बनाए गए नक्शे का क्षेत्रफल इस अध्याय में निकलवाया गया है।

1987 के संस्करण में अध्याय कमोबेश ऐसा ही था, अभ्यास अधिक थे।

2000 के संस्करण में भी शुरुआत खेतों की तुलना की समस्या से होती है मगर इस तुलना का तरीका फौरन नहीं बताया जाता। इस समस्या को सुलझाने के लिए पहले गतिविधियों के माध्यम से क्षेत्रफल की एक समझ बनाई जाती है और उसे नापने के तरीके बताए जाते हैं। इसके बाद खेतों की तुलना की जाती है। चौखानों की मदद से अनियमित आकृतियों के क्षेत्रफल निकाले जाते हैं और उसके बाद आयत के क्षेत्रफल का सूत्र निकाला जाता है। परिमिति और क्षेत्रफल सम्बन्धी कई गतिविधियां हैं। क्षेत्रफल संरक्षण की भी एक गतिविधि है।

1972 के संस्करण में कागज की फर्शियों का उपयोग सतहों को ढंकने के लिए करके क्षेत्रफल की अवधारणा स्पष्ट की जाती थी। इन फर्शियों पर और सतहों पर अलग-अलग नमूने बने होते थे ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि क्षेत्रफल का सम्बन्ध मात्र सतह के फैलाव से है। बाद में फर्शियों का स्थान चौखानेदार कागज ले लेता था।

9. विद्युत - 2

अध्याय बल्ब व सेल के समांतर व क्षेणी क्रम, द्रवों की चालकता और विद्युत के रासायनिक प्रभावों से सम्बन्धित है। विद्युत के प्रयोग सम्बन्धी ज़रूरी सावधानियां बताने के बाद एक सरल परिपथ बनाया जाता है। इस अध्याय में परिपथों को संकेतों व रेखाचित्रों की मदद से दिखाने की शुरुआत होती है। प्रयोग 1 में दो बल्ब और एक सेल का परिपथ बनाया जाता है - बल्बों को श्रेणी व समांतर क्रम में जोड़ा जाता है। इसमें बल्ब की रोशनी की तुलना सामान्य परिपथ से की जाती है। इसके बाद एक बल्ब लेकर सेलों को श्रेणी व समांतर क्रम में जोड़ा जाता है। फिर दो बल्ब और दो सेल के तरह-तरह के परिपथ बनाए जाते हैं। एक बल्ब, एक सेल से परिपथ बनाकर सेल के छोर पलटकर देखना, दो सेल वाले परिपथ में सेलों को उल्टा जोड़ देना, फिर इसे परिपथ में सेलों को पलटे बगैर एक तार जोड़कर बल्ब जलाने से परिपथ की समझ पुरखा होती है।

प्रयोग 7 में द्रवों में चालक-कुचालक का परीक्षण किया जाता है और यह भी देखा जाता है कि क्या चालक द्रव में विद्युत प्रवाहित होने पर कोई (रासायनिक) क्रिया भी होती है।

प्रयोग 8, 9 और 10 में विद्युत के रासायनिक प्रभाव का अवलोकन किया जाता है। प्रयोग 11 में लघुपथन तथा प्रयोग 12 और 13 में फ्यूज की क्रियाविधि स्पष्ट होती है।

काड़स पर विद्युक के अध्याय में दरअसल विद्युत-2 और विद्युत-3 का समावेश था। उसमें समांतर व क्षेणी क्रम के परिपथ, द्रवों की चालकता, विद्युत के रासायनिक प्रभाव और विद्युत के चुंबकीय प्रभाव थे।

1987 में विषयवस्तु तो यहीं थी मगर कुछ प्रयोगों को सरल बनाया गया था, कुछ प्रयोगों की वैकल्पिक विधियां दी गई थीं और प्रस्तुतीकरण में परिवर्तन किए गए थे। एक तो परिपथों में स्विच जोड़ दिया गया था, दूसरा परिपथ में उपयोग किए जाने वाले प्रतीक स्पष्ट रूप से बताए गए थे और द्रव की चालकता पता करने के तीन तरीके दिए गए थे। श्रेणी व समांतर क्रम में बल्बों की रोशनी की तुलना के लिए बल्ब को चिन्हित करने की व्यवस्था की गई थी।

प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से 2000 के संस्करण का अध्याय और भी अलग बना। इसके अलावा इसमें सेल के आविष्कार की कहानी दी गई थी और अपना सेल बनाने का प्रयोग जोड़ा गया था।

10. आयतन

मापन के इस एक और शुरुआत आयतन के बारे में बच्चों की समझ को उभारकर होती है। इसके बाद आयतन नापने के लिए एक बीकर पर ग्राफ पट्टी चिपकाकर एक नपनाघट बनाया जाता है जिसमें माचिस के खोके से पानी भरकर निशान लगाए जाते हैं। फिर अमानक पैमाने की समस्या प्रस्तुत करके मानक पैमाने से परिचय कराया जाता है। अध्याय का अवधारणात्मक ढांचा यह है कि बच्चे अलग-अलग पात्रों (परखनली, बोतल वगैरह) से, अलग-अलग अल्पतम नाप के पैमाने बनाते हैं और उनसे नाप-नापकर आयतन का एक मानसिक चित्र निर्मित करते हैं। इसी तरह से वे ठोस का आयतन नापने का तंरीका भी विकसित करते हैं, जो द्रव के विस्थापन पर आधारित है। अंत में घनाकार चीज़ों के आयतन का सूत्र भी निकाला जाता है। कई आंकिक सवालों की मदद से समझ को पुख्ता किया जाता है। नपनाघट बनाते हुए आयतन की समझ तो बनती ही है, हाथों के कौशल का विकास भी होता है।

1987 में अध्याय का अवधारणात्मक ढांचा तो यही था, सिर्फ बनाए जाने वाले नपनाघटों की संख्या कम कर दी गई थी।

2000 के संस्करण में नपनाघट बनाने, आयतन का सूत्र निकालने के अलावा आयतन के संरक्षण पर भी कुछ अभ्यास जोड़े गए थे।

लाल वैज्ञानिक में अध्याय था ‘आयतन और धारिता’। इसमें द्रव के विस्थापन के आधार पर आयतन को परिभाषित करने के बाद इसी विधि का उपयोग आयतन नापने के लिए किया जाता था। फिर घनाकार गुटके के आयतन का सूत्र समझाया गया था। अंत में धारिता के कुछ प्रयोग हैं।

11. जंतुओं की बाह्य रचना

यह अध्याय बच्चों के परिवेश में पाए जाने वाले जंतुओं के अवलोकन करने, उनकी बाह्य रचना के विभिन्न लक्षणों को पहचानने और उनमें कुछ पैटर्न व अंतर्सम्बन्ध खोजने पर आधारित है। अध्याय में ‘कीड़ों’ से इतर जंतुओं के अध्ययन पर जोर है। इस अध्याय में प्रत्यक्ष अवलोकन के अलावा बच्चों के पास उपलब्ध पूर्व जानकारी को भी आधार बनाया गया है। गौरतलब है कि इस अध्याय में परिभ्रमण नहीं है।

सबसे पहले जंतुओं के आकार (साइज) और आकार में विविधता पर ध्यान दिलाया जाता है। इसके बाद जंतुओं के आंख, कान, पूँछ, चमड़ी पर आवरण, लिंग भेद के बाहरी लक्षणों, खंडित-अखंडित शरीर, टांगों की संख्या, टांगों में विशेष रूपांतरणों वगैरह का अध्ययन किया जाता है। अंत में विभिन्न लक्षणों के बीत परस्पर सम्बन्ध खोजकर कुछ नियम विकसित करने का प्रयास होता है। जैसे, चमड़ी पर आवरण और टांगों की संख्या का उदाहरण लिया गया है। बच्चों से अपेक्षा है कि वे ऐसे कई नियम सोचेंगे और परखेंगे।

1987 के संस्करण में दरअसल ‘कीड़ों की दुनिया’ और ‘जंतुओं की बाह्य रचना’ इन दो अध्यायों को मिलाकर एक नया अध्याय ‘जंतुओं की दुनिया’ तैयार किया गया था। लगभग उन्हीं गुणधर्मों के आधार पर जंतुओं का अध्ययन किया जाता है। कीड़ों के बारे में तो टांगों की संख्या और पंख की उपस्थिति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है मगर अन्य अंतर्सम्बन्ध व नियम खोजने का हिस्सा छोड़ दिया गया है।

2000 के संस्करण में अध्याय ‘जंतुओं की दुनिया’ का स्वरूप काफी बदला गया था। इसमें सबसे पहले तीन जंतुओं (केंचुआ, टिड्डा और मछली) का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। इसके बाद परिभ्रमण पर जाकर ढेर सारे जंतुओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें उनके रहने के स्थान, भोजन वगैरह पर ध्यान दिया जाता है। भोजन के आधार पर शाकाहारी, मांसाहारी वगैरह समूह बनाए जाते हैं। गुणधर्मों के परस्पर सम्बन्धों को तिलांजलि दे दी गई है। इसमें एक पाठ्य समाग्री ‘हमारा शरीर: जीवों का अड्डा’

जोड़ी गई है।

12. ग्राफ बनाना सीखो

अध्याय का मुख्य उद्देश्य ग्राफ बनाना सिखाना है। ग्राफ से जानकारी प्राप्त करने का सीमित अभ्यास भी किया गया है।

सबसे पहले एक प्रयोग है जिसमें एक स्प्रिंग पर अलग-अलग वज़न लटकाकर स्प्रिंग की लंबाई और लटकते वज़न के आंकड़े नोट करना है। पहले स्प्रिंग की लंबाई के बराबर कागज की पटियां काट-काटकर एक स्तंभालेख बनाया जाता है। इस विधि की सीमा स्पष्ट करके अध्याय ग्राफ की ओर बढ़ता है। अब वर्ग की भुजा और कर्ण नापकर आंकड़ों की तालिका बनाई जाती है और उनका ग्राफ बनाया जाता है। इन आंकड़ों को उदाहरण के रूप में लेकर ग्राफ पर अक्ष बनाना, मूल बिंदु, ग्राफ के बिंदु लगाना, और ग्राफ रेखा बनाना वगैरह क्रम से सिखाए गए हैं। फिर ग्राफ से जानकारी प्राप्त करने का तरीका बताया गया है। इस तरह प्राप्त जानकारी की तुलना वास्तविक प्रयोग के आंकड़ों से करने को भी कहा गया है। इसके बाद स्प्रिंग की लंबाई और उस पर लटकते भार का ग्राफ बनवाया गया है। यहां पैमाना चुनने की बात भी आ जाती है। पैमाने चुनने व अक्ष चुनने के सिद्धांत बताए गए हैं। ग्राफ रेखा खींचने में सत्रिकटन की बात भी की गई है। यह संकेत दिया गया है कि सारे ग्राफ सरल रेखा ग्राफ नहीं होते। कुछ अभ्यास भी दिए गए हैं।

काउर्स में यह अध्याय था 'लेखाचित्र'। इस अध्याय में सबसे पहले विज्ञान में किन्हीं दो राशियों के बीच सम्बंध जानने के लिए ग्राफ बनाना सीखने की बात होती है। पहले तो बच्चों को इस बात से परिचित कराया जाता है कि कुछ राशियों में सम्बंध होता है, जबकि कुछ में नहीं होता। इसके बाद खूब सारे (कम से कम 20) ग्राफ बनाने का अभ्यास होता है। इसमें सरल रेखा व वक्र रेखा दोनों तरह के ग्राफ हैं।

1987 के संस्करण में ग्राफ बनाने की शुरुआत वृत्त की परिधि और व्यास से होती है और इसके लिए आंकड़े निकालने का काम बच्चों को नहीं करना है। ये आंकड़े पुस्तक में दिए गए हैं। इन आंकड़ों का उदाहरण लेकर ग्राफ बनाने की विधि बिंदुवार बताई गई है। यहीं पर extrapolation की बात की गई है। इसके बाद वर्ग की भुजा और कर्ण, स्प्रिंग की लंबाई और लटकते भार का ग्राफ बनवाया गया है। एक ग्राफ (वर्ग की भुजा और उसका क्षेत्रफल) वक्र रेखा वाला भी दिया गया है जिसे पढ़कर जानकारी प्राप्त करने का अभ्यास है।

2000 के संस्करण में एक परिवर्तन यह किया गया था कि अध्याय की शुरुआत इस बात से होती है कि जानकारी को प्रस्तुत करने के कई तरीके होते हैं और ग्राफ उनमें से एक है। उदाहरण बदले गए हैं मगर अध्याय वैसा ही है। ऐसे ग्राफ के उदाहरण लिए गए हैं जो प्रायः बच्चों को देखने को मिल सकते हैं। जैसे क्रिकेट में रन बनने की गति का ग्राफ। दैनिक जीवन के कुछ उदाहरण भी लिए गए हैं, जैसे स्कूलों में दर्ज संख्या और लिंग अनुपात का बदलना। ग्राफ पढ़ने के अभ्यास ज्यादा हैं।

13. वृद्धि

सजीवों के एक लक्षण के रूप में वृद्धि का अध्ययन किया जाता है। तीन प्रयोग हैं। प्रयोग 1 में दो बीज बोकर अंकुरण से लेकर करीब 20 दिन तक पौधों की लंबाई नापकर उनकी वृद्धि की तुलना की गई है। तुलना के लिए ग्राफ बनाए जाते हैं। ग्राफ के आधार पर वृद्धि सम्बंधी कुछ सवाल पूछे गए हैं और वृद्धि के ग्राफ की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश है। दो पौधों की वृद्धि के अंतर के कारणों पर विचार करने को भी कहा गया है।

प्रयोग 2 में तीन बीजों के साथ प्रयोग करके अंकुरण के लिए आवश्यक परिस्थितियों पर विचार किया गया है।

प्रयोग 3 बच्चों को खुद तैयार करना है जिससे यह पता किया जा सके कि बीजों के अंकुरण के लिए धूप की ज़रूरत होती है या नहीं।

विकास (development) का अध्याय अलग था।

1987 के संस्करण में इस अध्याय को कक्षा 8 में रखा गया था। बीजों के अंकुरण वाले दोनों प्रयोग हटा दिए गए थे और बच्चों को अपनी कक्षा के छात्रों की उम्र व लंबाई की तुलना करने को कहा गया था। इसमें अंतर के कारण उन्हें खोजना है। अध्याय में शुरू में ही वृद्धि और परिवर्धन (growth and development) का अंतर स्पष्ट किया गया है।

2000 के संस्करण में वृद्धि और परिवर्धन एक ही अध्याय में शामिल किए गए थे। पूरी बात को सजीवों में उम्र के साथ होने वाले परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में रखा गया था। जंतुओं में परिवर्धन का कोई प्रयोग नहीं था मगर ‘जंतुओं का जीवन चक्र’ में किए गए प्रयोगों के अवलोकनों को इस चर्चा का आधार बनाया गया था। पौधे के परिवर्धन को समझने के लिए बीज के अंकुरण के दौरान होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। पौधों में वृद्धि वाला प्रयोग (बगैर ग्राफ) वैसा ही रहा। इसके बाद सीमित व असीमित वृद्धि, सममित व असममित वृद्धि, पौधों में वृद्धि के खास स्थानों वगैरह से सम्बन्धित प्रयोग रखे गए थे। इन्सान में वृद्धि का उदाहरण लेकर असममित वृद्धि की बात को रेखांकित किया गया है।

14. हवा

सोलह छोटे-छोटे सरल प्रयोगों पर आधारित यह अध्याय छात्रों को हवा की उपस्थिति का आभास कराने से शुरू होता है। इसके बाद पानी के विस्थापन से हवा इकट्ठी करके उसे नापने के दो प्रयोग हैं। हवा के दबाव को समझने के लिए कुछ प्रयोग किए जाते हैं। एक प्रयोग यह दर्शाता है कि हवा को दबाकर उसका आयतन कम किया जा सकता है। इन प्रयोगों के निष्कर्षों के आधार पर फाउंटेन पेन में स्थाही भरने की व्याख्या बच्चे करते हैं। वाल्व की क्रिया को समझने के लिए प्रयोग किए गए हैं। रक्त संचार और हैण्ड पंप में वाल्व की बात की गई है। पवन चकरी बनाते हैं। अंत में हवा का आयतन प्रसार गुणांक ज्ञात किया जाता है। कुल भिलाकर यह अध्याय एक गतिविधि पुंज का आभास देता है मगर इसमें हवा के कई गुणधर्मों को पूरी तरह समझने की बजाय उनका एक एहसास देने का प्रयास है।

कार्ड्स में हवा का अध्याय लगभग 1978 जैसा ही था। अवधारणा के स्तर पर दो चीजें अलग थीं - एक प्रयोग में यह दिखाया जाता है कि हवा में वज्जन होता है और एक अन्य प्रयोग में मॉडल द्वारा यह दिखाया जाता है कि फिरकी या पानी के पंप हवा या पानी को किस ओर धकेलते हैं। दो और प्रयोग थे जिनमें हवा के अवयवों की जांच की जाती है। हवा में ऑक्सीजन का प्रतिशत निकालने का प्रयास भी होता है।

1987 में अध्याय का ढांचा लगभग ऐसा ही रहा। कुछ चीजें हटाई गई तो कुछ जोड़ी गई। जैसे हवा के दबाव को प्रदर्शित करने के लिए हवा से वज्जन उठाने का एक प्रयोग जोड़ा गया और टूटी उफननली से हैण्ड पंप का एक मॉडल बनाने की विधि जोड़ी गई। दूसरी ओर आयतन प्रसार गुणांक ज्ञात करने का प्रयोग हटाकर मात्र ऊष्मीय प्रसार दर्शाने के लिए प्रयोग रखा गया। हवा को नापते समय दबाव बराबर करने की सावधानी किताब में ही लिख दी गई जबकि पिछले संस्करण में इसे शिक्षक भरोसे छोड़ा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय का नाम हुआ ‘हवा के खेल’ और कुछ नए प्रयोग जोड़े गए।

14. आकाश की ओर (भाग 1, कक्षा 7 व भाग 2, कक्षा 8)

आकाश में पिण्डों की गति का अवलोकन करके ब्रह्मांड का एक मॉडल बनाने से सम्बन्धित अध्याय है जिसका पहला भाग कक्षा 7 में और दूसरा भाग कक्षा 8 में रखा गया था। ‘आकाश की ओर - 1’ में

सूर्य की दैनिक और वार्षिक गति को समझने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। इस आधार पर दक्षिणायन व उत्तरायण को परिभाषित करके एक सूर्य घड़ी भी बनाई जाती है। सूर्य की गति का सम्बंध आम अनुभवों से जोड़ने का भी प्रयास है। इस अध्याय में भौतिक मॉडल्स के अलावा मानसिक मॉडल्स का भी भरपूर उपयोग किया गया है।

‘आकाश की ओर - 2’ में ब्रह्मांड का एक मॉडल बनाने का प्रयास किया जाता है। इसमें पहले सूर्य और चंद्रमा के दैनिक व वार्षिक पथों, तारामंडलों के पथों, ध्रुव तारे की स्थिर प्रकृति के आधार पर पृथ्वी के घूमने की संभावना को उभारा जाता है। इसके बाद नींबू को पृथ्वी और मोमबत्ती को सूर्य मानकर सूर्य केंद्रित मॉडल को भी सामने रखा जाता है। अपने दैनिक अवलोकन और उपरोक्त प्रयोगों के आधार पर दो संभावनाएं निकलती हैं जिनकी तुलना करके यह समझने का प्रयास होता है कि किसे सही माना जाए। यहां विज्ञान का यह तर्क सामने आता है कि ज्यादा सरल व्याख्या ज्यादा स्वीकार्य है।

इसके बाद चंद्रमा की कलाओं और ग्रहण को समझने के लिए प्रयोग हैं।

काड़स में ‘आकाश की ओर’ अध्याय एक ही था और इसी में सारी बातें थीं। सूर्य व चंद्रमा के पथ को देखने के लिए गोल पेंडे वाले फ्लास्क में एक आइना लगाकर भी प्रयोग दिया गया था। एक प्रमुख अंतर यह था कि काड़स वाले अध्याय में ‘विज्ञान में सरलता’ वाला तर्क रखने की कोशिश नहीं की गई थी। इस अध्याय में तर्क की शैली यह थी कि हम तर्क के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालते हैं और फिर प्रयोग से प्राप्त परिणामों से उनकी तुलना करके देखते हैं। यदि ये दोनों मेल खाएं तो हमारा तर्क आधारित मॉडल सही है। ग्रहण की बात भी नहीं थी।

1987 के संस्करण में एक ही अध्याय कक्षा 8 में है। इसमें सूर्य की गति के प्रयोग हैं, चंद्रमा की गति के लिए चंद्रोदय और चंद्रास्त के समयों का सहारा लिया गया है चंद्रमा की कलाओं को समझने के लिए प्रयोग हैं, सूर्य घड़ी बनाई जाती है, ग्रहण सम्बंधी गतिविधियाँ हैं और तारामंडलों की गति को समझने के लिए प्रयोग हैं मगर इस सारी जानकारी को जोड़कर किसी मॉडल में पिरोने का प्रयास नहीं किया गया है।

2000 के संस्करण का अध्याय 1987 जैसा ही था।

16. गैरें - 1 व गैरें - 2 (कक्षा 8)

हवा के गुणधर्मों का पुनरावलोकन करने के बाद इन अध्यायों में कार्बन डाई ऑक्साइड, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन और अमोनिया बनाकर उनके भौतिक व रासायनिक गुणधर्मों का अध्ययन किया जाता है। दहन के संदर्भ में कार्बन डाई ऑक्साइड और ऑक्सीजन के परस्पर सम्बंध की पड़ताल भी की जाती है।

काड़स में यह अध्याय ऐसा ही था।

1987 के संस्करण में गैरें नाम का एक ही अध्याय कक्षा 7 में था और हाइड्रोजन छोड़कर शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में सिर्फ ऑक्सीजन और कार्बन डाईऑक्साइड सम्बंधी प्रयोग ही रखे गए थे और दहन में उनके परस्पर सम्बंध के प्रयोग भी थे।

17. पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश

पौधों के पोषण की पड़ताल करने वाला यह अध्याय नवजात पौधे की वृद्धि में बीजपत्रों की भूमिका से सम्बंधित एक प्रयोग से शुरू होता है। इस प्रयोग से पेड़-पौधों के पोषण की चर्चा शुरू होती है। वैसे इसका एक हिस्सा (जड़ों द्वारा पानी व खनिज लवणों का अवशोषण) कक्षा 6 के अध्याय ‘भोजन और पाचन क्रिया’ में हो चुका है। अगले प्रयोग पौधों के पोषण में पत्तियों की भूमिका की खोजबीन के लिए हैं। इन

द्वितीय प्रारूप

प्रयोगों में पत्तियों में मण्ड की जांच की जाती है और फिर पत्ती को काले कागज से ढंककर मण्ड के निर्माण में सूर्य के प्रकाश की भूमिका को परखा जाता है। यह प्रक्रिया समझ लेने के बाद कई सवाल हैं जिनमें छात्रों को इस प्रक्रिया के महत्व पर विचार करने को प्रेरित किया गया है। अंत में भोजन शृंखला की चर्चा व अभ्यास हैं।

1987 के संस्करण में पौधों के पोषण की पूरी बात कक्षा 6 के एक अध्याय ‘पोषण 2’ में शामिल की गई थी। यह अध्याय मूलतः ‘भोजन और पाचन क्रिया’ (कक्षा 6, 1978) के सम्बन्धित हिस्से (खण्ड 5) और ‘पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश’ (कक्षा 7, 1978) को मिलाकर बनाया गया था।

2000 के संस्करण में यह अवधारणा कक्षा 7 में ‘पौधों का पोषण’ नाम के अध्याय में काफी अलग ढंग से शामिल की गई थी। इसमें प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया को समझाने का इतिहास प्रस्तुत करके बच्चों के साथ हर पड़ाव का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया था। कुछ ऐतिहासिक प्रयोगों को कक्षा में दोहराया भी जाता है। इसके अलावा पूरी क्रिया को पौधों की आंतरिक रचना से जोड़ने का प्रयास भी है। कुछ प्रयोगों के विवरण देकर छात्रों से उनका विश्लेषण करवाने की विधि का उपयोग भी इस अध्याय में किया गया था। सूक्ष्म पोषक तत्वों की बात भी है।

18. श्वसन

मूलतः सांस में ली गई हवा और छोड़ी गई हवा की तुलना पर आधारित अध्याय है। सांस लेने की ज़रूरत प्रतिपादित करने के लिए सांस रोकने का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद श्वसन दर नापना, कसरत और श्वसन दर का सम्बन्ध देखने के प्रयोग किए जाते हैं। अंतःश्वासित व प्रश्वासित हवा के बीच तापमान, आर्द्रता और रासायनिक अंतरों को परखा जाता है। भीगे बीजों के श्वसन पर भी प्रयोग किए जाते हैं। श्वसन में कार्बन डाईऑक्साइड व ऑक्सीजन के अंतर्सम्बन्ध की बातचीत है और कुछ सवाल दिए गए हैं। विच्छेदित चूहे के श्वसन अंगों का अवलोकन किया जाता है और मनुष्य के श्वसन अंगों को चित्र के माध्यम से समझा जाता है।

1987 के संस्करण में बीजों के श्वसन वाला प्रयोग हटा दिया गया था। शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में कुछ नई चीजें जोड़ी गई थीं। एक तो सांस में छोड़ी गई हवा को नापने का प्रयोग था (lung capacity)। पौधों के श्वसन और अंकुरित बीजों के श्वसन सम्बन्धी प्रयोग जोड़े गए थे। एक तालिका की मदद से बताया गया था कि अंतःश्वासित और प्रश्वासित हवा दोनों में ही ऑक्सीजन व कार्बन डाईऑक्साइड दोनों होती हैं, मात्र अनुपात में फर्क होता है। कृत्रिम सांस देने की विधि बताई गई थी।

19. विकास

प्रश्नों के माध्यम से वृद्धि व विकास के बीच अंतर स्पष्ट किया जाता है। फिर बीज से पौधे के विकास का अध्ययन करने के लिए एक प्रयोग है जिसमें दो प्रजातियों के 20-20 बीज बोए जाते हैं और फिर हर दिन एक-एक बीज उखाड़कर उसमें हुए परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रयोग के आधार पर कुछ सवाल पूछे गए हैं और आगे के विकास के बारे में अनुमान लगाने को कहा गया है।

जंतुओं के विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए मुर्गी के अंडे में चूजे के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है।

1987 के संस्करण में यह अध्याय ‘परिवर्धन’ के नाम से कक्षा 8 में रखा गया था। चर्चा की शुरुआत ‘जंतुओं का जीवन चक्र’ में किए गए प्रयोगों से अवलोकनों से होती है। फिर बीज बोने वाला प्रयोग और मुर्गी के अंडे वाला प्रयोग किया जाता है। कुछ अन्य जंतुओं व पौधों के परिवर्धन के बारे में सवालों के साथ अध्याय समाप्त होता है।

2000 के संस्करण में वृद्धि और परिवर्धन का मिला-जुला अध्याय कक्षा 8 में रखा गया था। अंडे वाला प्रयोग हटा दिया गया था।

परिवर्धन के बारे में एक रोचक तथ्य का ज़िक्र ज़रूरी है। प्रथम दो संस्करणों में विकास या परिवर्धन को लेकर मान्यता यह थी कि पौधों या जंतुओं में जब भी कोई नया अंग विकसित हो, तो इसे परिवर्धन माना जा सकता है। 2000 के संस्करण के लिखे जाने के समय प्राणी वैज्ञानिकों ने स्पष्ट किया कि आम तौर पर जंतुओं में जो नए अंग दिखते हैं वे जन्म के समय भी सूक्ष्म रूप में उपस्थित होते हैं। इसलिए इन अंगों का नज़र आना मात्र वृद्धि का ही उदाहरण है। जंतुओं में जन्म के बाद परिवर्धन सिर्फ उन जंतुओं में होता है जिनमें कायांतरण होता है। शेष जंतुओं में सारा परिवर्धन जन्म से पहले (अंडे के अंदर या गर्भाशय में) हो चुका होता है। अतः 2000 के संस्करण का अध्याय इस नई समझ के अनुसार विकसित किया गया था।

20. तराजू का सिद्धांत

इस अध्याय में वज्ञन तोलने की क्रिया के अलावा संतुलन का नियम प्रतिपादित करने का प्रयास किया जाता है। वज्ञन तोलने के दैनिक अनुभव के बाद अध्याय इस बात पर टिक जाता है कि सही तराजू क्या होती है। किट में दी गई तराजू के साथ परिचय के बाद बच्चे अपने बांट व तराजू बनाते हैं। बांट बनाने और तराजू बनाने के लिए कई सुझाव दिए गए हैं। तराजूओं से प्रयोगों के दौरान संतुलन, पासंग वगैरह के बारे में सीखते हैं और यह भी समझते हैं कि अलग-अलग वज्ञन तोलने के लिए अलग-अलग तराजूओं का उपयोग क्यों करना होता है। सही तराजू की परख करने का तरीका भी बताया गया है। इस सबके बाद वे एक आधा-मीटर पैमाने के साथ प्रयोग करके संतुलन का नियम भी खोजते हैं और साथ-साथ अपने तराजू की जांच भी करते जाते हैं। वज्ञन नापने के कुछ अभ्यास भी दिए गए हैं। अंत में संतुलन के सूत्र का उपयोग करने के कुछ अभ्यास हैं।

लाल वैज्ञानिक में ऐसा एक अध्याय ‘भार और तुला’ के नाम से था। इसका फोकस तराजू के विश्लेषण पर उतना नहीं था जितना वज्ञन के मापन पर था। पहले एक स्प्रिंग पर वज्ञन लटका-लटकाकर स्प्रिंग की लंबाई का एक पट्टी चित्र बनाते हैं। इसके बाद स्प्रिंग के साथ कुछ और प्रयोग करते हैं - जैसे एक के नीचे एक स्प्रिंग जोड़कर, दो स्प्रिंग को समांतर रखकर उन पर एक पेंसिल लगाकर वज्ञन लटकाना वगैरह। अंत में स्प्रिंग तुला बनाते हैं। इसके बाद लीवर के सिद्धांत के प्रयोग किए जाते हैं और सामान्य तुला से परिचय होता है।

1987 और 2000 में यह अध्याय 1978 के अध्याय में छिटपुट परिवर्तनों के साथ कक्षा 8 में रखा गया था।

कक्षा 8, खण्ड 1

1. जंतुओं का जीवन चक्र

जंतुओं में स्वतः जनन की आम धारणा के इर्द-गिर्द गुंथे इस अध्याय में छात्र 4 जंतुओं के जीवन चक्रों का प्रायोगिक अध्ययन करते हैं और तुलना के प्रावधान शुदा प्रयोगों के महत्व को पहचानते हैं। इसके अलावा यह अध्याय समाज में प्रचलित मान्यताओं पर भी सवाल खड़े करता है।

सबसे पहले भूमिका के रूप में यह प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है कि क्या जंतु अपने आप गोबर या बरसात से पैदा हो सकते हैं। इसके बाद प्रयोग 1 में मक्खी के अंडे देने से शुरू करके मक्खी का जीवन चक्र पूरा करने का प्रयास होता है। यह प्रयोग इस तरह किया जाता है कि एक ओर तो छात्र मक्खी के जीवन

द्वितीय प्रारूप

चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का अवलोकन कर पाते हैं, वहीं यह भी देख पाते हैं कि मक्खी के अंडे न हों, तो गोबर में इल्लियां पैदा नहीं होतीं। प्रत्येक अवस्था का सूक्ष्म अवलोकन करके चित्र बनाने के निर्देश दिए गए हैं। प्रयोगों में तुलना के महत्व को कुछ प्रश्नों के माध्यम से रेखांकित किया गया है।

प्रयोग 2 में मेंढक के जीवन चक्र का अध्ययन है। प्रयोग 3 में मच्छर और प्रयोग 4 में कौसम या कपास के कीड़े के जीवन चक्र का अध्ययन है। प्रथम तीन जीवन चक्रों में कायांतरण होता है जबकि कौसम/कपास के कीड़े में नहीं। अध्याय में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है।

इन प्रयोगों में बच्चों को यह एहसास भी मिलता है कि इस अध्ययन के लिए यथासंभव वैसी ही परिस्थितियां बनानी पड़ती हैं, जैसी कि जीवों को प्रकृति में मिलती है। इस अध्याय के चारों प्रयोग लंबी अवधि के प्रयोग हैं। इनमें बच्चों को कई व्यवस्थागत बातों की ओर भी ध्यान देना होता है।

1987 के संस्करण में अध्याय लगभग ऐसा ही रहा। एक परिवर्तन यह किया गया था कि बगैर कायांतरण वाले जीवन चक्र के उदाहरण के रूप में पहले टिड्डे के जीवन चक्र को चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करके प्रश्न किए जाते हैं और कौसम/कपास के कीड़े के जीवन चक्र का अध्ययन एक ‘विशेष प्रयास’ के रूप में ऐच्छिक कर दिया गया था।

2000 के संस्करण में भी अध्याय ऐसा ही रहा।

लाल वैज्ञानिक में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

2. फूल और फल

इस अध्याय में तरह-तरह के फूलों की बाहरी व आंतरिक रचना का अध्ययन किया जाता है, उनमें पैटर्न पहचानने की कोशिश होती है, फूल और फल के परस्पर सम्बंध पर प्रारंभिक समझ बनाई जाती है और बीजों के बिखरने पर कुछ चर्चा होती है। जोर इस बात पर है कि बच्चे कई फूलों का अध्ययन करके उनमें पाई जाने वाली समानताओं और विविधता को सराहें। अध्याय पांच खंडों में बंटा है।

पहले खंड में एक सामान्य फूल के अंगों का अध्ययन किया जाता है। इसके अंतर्गत फूल का विच्छेदन करना और अंडाशय की आड़ी व खड़ी काट का अवलोकन शामिल है। अण्डाशय की आड़ी और खड़ी काट में बीजांडों का अवलोकन करके उनकी कुल संख्या का अनुमान लगाया जाता है। स्त्रीकेसर व पुंकेसर में विविधता पर ध्यान दिलाया जाता है और परागकणों को सूक्ष्मदर्शी में देखा जाता है।

इतना हो जाने के बाद दूसरे खंड में अपेक्षा है कि बच्चे तीन बार अलग-अलग मौसमों में परिभ्रमण करके विभिन्न फूल और फल इकट्ठे करेंगे और उनका अध्ययन करेंगे। ढेर सारे फूलों का अध्ययन करके देखा जाता है कि फूलों के अंग निश्चित क्रम में घेरों में जमे होते हैं। इसी खंड में पूर्ण-अपूर्ण फूल, एकलिंगी-द्विलिंगी फूल वगैरह पहचाने जाते हैं और यह भी देखा जाता है कि अलग-अलग फूलों में इन घेरों में कुछ विशेषताएं भी पाई जाती हैं। कुछ संयुक्त फूलों का अध्ययन किया जाता है और गूलर, गेहूं, धान जैसे विशेष फूलों का अध्ययन भी होता है। दलहन परिवार के फूलों की कुछ विशेषताओं का अध्ययन विशेष रूप से किया जाता है।

कुल मिलाकर बच्चों का ध्यान इस बात की ओर दिलाया जाता है कि प्रकृति में फूल कई रूपों में मिलते हैं और उनका अध्ययन कैसे किया जाता है।

खंड 4 में फूलों और फलों का एक साथ अध्ययन करके यह संकेत देने का प्रयास है कि शायद फूलों से ही फल बनते होंगे। इसमें अंडाशय और फलों की आंतरिक रचना की तुलना का सहारा लिया गया है। इस दौरान फूलों का एक एलबम भी बनाया जाता है।

खंड 5 में बीजों के बिखरने पर चर्चा की गई है।

1987 के संस्करण में अध्याय का ढांचा तो यही था मगर इसे काफी संक्षिप्त बनाया गया था और कक्षा 7 में रखा गया था। एक तो उदाहरणों की संख्या कम की गई थी और गूलर, गेहूं, धान व दलहन जैसे फूलों के अध्ययन को हटा दिया गया था। अलग-अलग अंगों में विविधताओं को कम किया गया था, फूलों का एलबम बनवाने का विचार छोड़ दिया गया था तथा फूल व फल की तुलना को थोड़ा संक्षिप्त किया गया था। संयुक्त फूलों को लेकर कुछ गलतियों को सुधारा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय के दो भाग कर दिए गए थे - 'बीजों का विखरना' एक अलग अध्याय बनाकर कक्षा 6 में रखा गया था। दूसरा भाग 'फूलों से जान-पहचान' कक्षा 7 में रहा। इसमें एक फूल के व्यवस्थित अध्ययन के बाद कई फूल इकट्ठे करके उनका अध्ययन किया जाता है और उनमें समानताएं व विविधताएं पहचानी जाती हैं। पूर्ण-अपूर्ण, एकलिंगी-द्विलिंगी वगैरह समूह बनाए जाते हैं और अंत में फूलों का एलबम बनवाया जाता है। संयुक्त फूल तथा फूल व फल की तुलना वाला हिस्सा छोड़ दिया गया था।

3. पौधों में प्रजनन

इस अध्याय में एक बार फिर लंबी अवधि के तुलना वाले प्रयोगों की मदद से इस सवाल का जवाब खोजा जाता है कि फूल के किस अंग से फल बनता है और फल बनने की क्रिया में नर फूल की क्या भूमिका है। अध्याय की एक और विशेषता है कि प्रयोग प्राकृतिक परिस्थिति में (*in situ*) किए जाते हैं।

पहले छात्रों को याद दिलाया जाता है कि 'फूल और फल' अध्याय में उन्हें यह संकेत मिल चुका है कि शायद अंडाशय से फल बनता होगा। उनसे एक ऐसा प्रयोग सोचने को कहा जाता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि फूल के बगैर फल नहीं बन सकते। खास तौर से इस प्रयोग में तुलना का प्रावधान रखने को कहा गया है।

इसके बाद प्रयोग 1 ऐसे पौधों पर किया जाता है जिसमें एकलिंगी फूल होते हैं (जैसे लौकी, गिलकी, करेला वगैरह)। नर व मादा फूलों पर अलग-अलग रंग के धागे बांधकर कुछ दिनों बाद देखना है कि किन फूलों से फल बने हैं। प्रयोग 2 में नर फूल की भूमिका की जांच की जाती है। इसमें कुछ मादा कलियों का कृत्रिम परागण करवाया जाता है और कुछ कलियों को वैसे ही रखा जाता है। इस तरह के प्रयोग करने में कई साधानियां रखनी होती हैं और इसमें उन सबकी ओर ध्यान दिलाया जाता है। प्रयोग पूरा होने के बाद अंडाशय का विशेष रूप से अध्ययन करके देखा जाता है कि फल बनने की क्रिया में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं। इसके बाद प्राकृतिक परागण और संकरण तथा लैंगिक व अलैंगिक प्रजनन की चर्चा की गई है।

1987 के संस्करण में यह अध्याय लगभग इसी रूप में कक्षा 7 में रखा गया था।

2000 के संस्करण में अध्याय की शुरुआत लैंगिक व अलैंगिक प्रजनन के बीच अंतर स्पष्ट करके की जाती है और यह सवाल रखा जाता है कि क्या फूल के बगैर फल बन सकते हैं। इसके लिए एक प्रयोग सोचने को कहा गया है। अगला हिस्सा इस सवाल से शुरू होता है कि क्या अंडाशय अपने आप फल बन जाएगा। इस सवाल का जवाब पाने के लिए प्रयोग न करके एक प्रयोग का विवरण दिया गया है जो वही प्रयोग है जो पूर्व के संस्करणों में बच्चे खुद करते थे। विवरण को पढ़कर बच्चों को निष्कर्ष निकालने हैं। इसके बाद प्रकृति में परागण की चर्चा है तथा परागण के बाद पराग कणों के अंकुरण का अवलोकन करने का प्रयोग है। अलैंगिक प्रजनन की बात प्रयोगों व उदाहरणों के माध्यम से की गई है।

4. सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत

सूक्ष्मदर्शी से तरह-तरह की सूक्ष्म चीजों के अवलोकन पर आधारित इस अध्याय में कोशिकाओं को लेकर कई गतिविधियां हैं और मॉडल के आधार पर यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि सूक्ष्मदर्शी

से देखने पर जो चीज़ें (खासकर कोशिकाएं) चपटी दिखाई देती हैं, वे चपटी हों यह ज़रूरी नहीं है। अध्याय के सारे प्रयोग एक छोटे सूक्ष्मदर्शी (डायनम सूक्ष्मदर्शी) से किए जाते हैं।

सबसे पहले सूक्ष्मदर्शी की रचना, उपयोग व देखभाल की जानकारी दी गई है। इसके अलावा स्लाइड बनाने की विधि भी बताई गई है।

इसके बाद किसी गड्ढे या तालाब के पानी की एक बूंद, प्याज़ की कोशिका, तने की आँड़ी काट, रंगीन पानी चढ़ने के बाद तने की आँड़ी काट वगैरह का अध्ययन किया जाता है। कोशिकाओं में विविधता और उनके काम की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

प्याज़ की कोशिकाओं का थोड़ा विरस्तृत अध्ययन करके केंद्रक देखने के बाद, खुद की गाल की कोशिकाओं का अवलोकन भी किया जाता है। सूक्ष्मदर्शी में देखकर साइज़ का अंदाज़ लगाने का तरीका बताकर इसके कुछ अभ्यास भी करवाए जाते हैं। इसके बाद स्थूल चीज़ों (बाल वैज्ञानिक पुस्तक, चॉक की गठरी और कंचे भरा बीकर) की आँड़ी काट व खड़ी काट की कल्पना करके उनकी तुलना तने की आँड़ी व खड़ी काट से करके यह समझने की कोशिश होती है कि कोशिकाएं चपटी नहीं होतीं। कंचों के मॉडल के आधार पर कोशिकाओं की आंतरिक रचना का भी कुछ आभास दिया जाता है। अंत में सूक्ष्मजीवों की साइज़ के कुछ अभ्यास हैं और टैडपोल की पूँछ में खून की कोशिकाएं व उनके प्रवाह का अवलोकन किया जाता है।

1987 के संस्करण में भी अध्याय अवलोकन आधारित ही था मगर अवलोकनों की संख्या कम कर दी गई थी और मॉडल निर्माण वाला पूरा हिस्सा हटा दिया गया था।

2000 के संस्करण में भी अध्याय का मूल ढांचा वही था। कुछ नई चीज़ों के अवलोकन जोड़े गए थे, जैसे काई, कोशिकाओं में मण्ड और पत्ती की बाहरी झिल्ली के अवलोकन। कुछ चीज़ों (जैसे तने की आंतरिक रचना) की जानकारी जोड़ी गई थी। अध्याय का नाम था ‘सूक्ष्म चीज़ों का संसार’।

5. ध्वनि

अध्याय में शामिल 14 प्रयोगों के माध्यम से बच्चे ध्वनि की उत्पत्ति, उसके विभिन्न गुणों और अनुनाद के बारे में सीखते हैं।

प्रथम चार प्रयोगों में विभिन्न चीज़ों में ध्वनि उत्पन्न करके ध्वनि और कम्पन का सम्बन्ध परखा जाता है। प्रयोग 5 में एक मीटर पैमाने की अलग-अलग लंबाई को कंपित करके देखा जाता है कि कंपन गति का ध्वनि उत्पादन पर क्या असर होता है। प्रयोग 6 में यही प्रक्रिया एक लोहे की पत्ती के साथ दोहराते हैं और यह देखते हैं कि कम्पन गति का तारत्व (pitch) पर क्या असर होता है। प्रयोग 7 में यह देखा जाता है कि तनाव बढ़ने पर ध्वनि में क्या अंतर आता है। प्रयोग 8 में तार की लंबाई और तारत्व के बीच सम्बन्ध देखा जाता है। इस प्रयोग में ऐसी व्यवस्था की गई है कि लंबाई बदलते हुए तार का तनाव न बदले। प्रयोग 9-11 में ध्वनि और माध्यम पर विचार किया गया है। बच्चों से एक प्रयोग डिजाइन करने को कहा गया है जिसमें ध्वनि पानी के माध्यम से प्रसारित हो। अंत में दो प्रयोग अनुनाद से सम्बन्धित हैं।

1987 व 2000 में यही अध्याय कक्षा 7 में रखा गया था।

6. वर्गीकरण के नियम

बाल वैज्ञानिक का एक विशिष्ट अध्याय है और इस समझ के आधार पर तैयार किया गया है कि वर्गीकरण विज्ञान की एक बुनियादी क्रिया है और बच्चों को इसका ज्ञान व अभ्यास होना चाहिए। अध्याय बच्चों के बस्ते की सामग्री के वर्गीकरण पर आधारित है। इस गतिविधि के माध्यम से वे समूहीकरण और वर्गीकरण के बीच अंतर को समझते हैं और वर्गीकरण के तीन नियम सीखते हैं। नियम ये हैं: वर्ग

exclusive समूह होते हैं, वर्गीकरण के हर चरण में आधार एक ही रहता है, और सारी चीज़ों का समूहीकरण करना ज़रूरी होता है।

यह प्रक्रिया पूरी करने के बाद रिक्त समूह की अवधारणा और वर्गीकरण में सोपानबद्धता (hierarchy) की अवधारणा को उभारा जाता है। अंत में कीड़ों के वर्गीकरण का अभ्यास दिया गया है।

1987 व 2000 के संस्करणों में इस अध्याय को स्थान नहीं मिला था।

7. ऊषा

गर्मी उत्पन्न करने के तरीकों (प्रयोग 1-5) से शुरू करके इस अध्याय में अनुभूति से ताप का अनुमान लगाने में गफलत और तापमापी के उपयोग (प्रयोग 6,7), पदार्थों में ऊषीय प्रसार (प्रयोग 8-11), द्रवों को उबालने (प्रयोग 12), अवस्था परिवर्तन (प्रयोग 13), और ऊषा स्थानांतरण (प्रयोग 14-19) का अध्ययन शामिल हैं। तापमान के साथ पानी के प्रसार को नापकर ग्राफ भी बनाया जाता है।

थोड़ा पुनर्गठित करके यह अध्याय 1987 की बाल वैज्ञानिक में ‘गर्मी और तापमान’ के नाम से रखा गया था। ऊषा और तापमान में अंतर दर्शाने के लिए एक प्रयोग जोड़ा गया था। धातुओं के ऊषीय प्रसार सम्बन्धी प्रयोग में कुछ परिवर्तन किया गया था और पानी के प्रसार को गुणात्मक स्तर पर ही रखा गया था। ऊषा पैदा करने के तरीके हटा दिए गए थे और चालक-कुचालक की चर्चा को विस्तार दिया गया था।

थोड़े और पुनर्गठन के बाद अध्याय 2000 के संस्करण में भी रहा।

8. प्रजनन

यह अध्याय मूलतः जंतुओं के प्रजनन से सम्बन्धित है और पहले किए जा चुके अध्यायों ‘जंतुओं का जीवन चक्र’ और ‘पौधों में प्रजनन’ के प्रयोगों से प्राप्त जानकारी और बच्चों के पास पहले से उपलब्ध जानकारी के सहारे आगे बढ़ता है।

प्रश्नों के माध्यम से पहले यह बात उभारी जाती है कि किसी भी सजीव के पैदा होने के लिए ज़रूरी है कि उसके जैसे जीव पहले से मौजूद हों। इस बात को प्रजनन के रूप में परिभाषित करने के बाद अध्याय में यह इस प्रश्न उठाया जाता है कि क्या प्रजनन में नर आवश्यक है। पूर्व जानकारी के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर खोजकर कृत्रिम गर्भधान की चर्चा होती है। अंत में जंतुओं का वर्गीकरण अंडे देने वाले और बच्चे देने वाले जंतुओं में किया जाता है और इस बांत पर ध्यान दिलाया जाता है कि कुछ जंतुओं में कायांतरण होता है, कुछ में नहीं और कुछ में माता-पिता बच्चों की परवरिश करते हैं, कुछ में नहीं।

1987 में इसी अध्याय का नामकरण हुआ ‘जंतुओं में प्रजनन’।

2000 के संस्करण में अध्याय का स्वरूप काफी बदला गया था। प्रजनन की प्रक्रिया में विविधता पर ध्यान केंद्रित करते हुए लैंगिक व अलैंगिक प्रजनन, एकलिंगी व द्विलिंगी जंतुओं, बाह्य व आंतरिक निषेचन, अण्डे देने वाले और बच्चे देने वाले जंतु, कायांतरण, बच्चों और अण्डों की देखभाल, प्रजनन के मौसम वगैरह की चर्चा की गई थी। कुल मिलाकर ढांचा यह था कि संतानोत्पत्ति की प्रक्रिया में विविधता से एक परिचय कराया जाए। सारी चर्चा उदाहरणों के माध्यम से होती है और कई उदाहरण ऐसे हैं जो बच्चों के पर्यावरण से नहीं हैं।

9. जंतुओं का वर्गीकरण

जंतुओं के पारंपरिक जीव वैज्ञानिक वर्गीकरण में न जाकर आम अवलोकनों और बाह्य रचना के आधार पर जंतुओं के वर्गीकरण का प्रयास है यह अध्याय।

सबसे पहले जंतु में रीढ़ की हड्डी की उपस्थिति का पता लगाने के लिए बाह्य रचना के कुछ लक्षण बताए गए हैं और उनके आधार पर बतौर अभ्यास कुछ जंतुओं का वर्गीकरण करने को कहा गया है।

अब उन सारे जानवरों की सूची बनाई जाती है जिन्हें बच्चे जानते हैं। रीढ़ की हड्डी के आधार पर इनका वर्गीकरण किया जाता है। बिना रीढ़ की हड्डी वालों में खंडित व अकंडित शरीर वालों को अलग-अलग किया जाता है, खंडित शरीर में टांग वाले और बिना टांग वाले, अखंडित शरीर में कवच वाले और कवचहीन वगैरह समूह बनाने का काम किया जाता है। इसी प्रकार से रीढ़ की हड्डी वाले जंतुओं का भी वर्गीकरण किया जाता है। इस तरह वर्गीकरण का एक पूरा ढांचा बनता है। फिर इस वर्गीकरण में से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है और वर्गीकरण का महत्व रेखांकित होता है। अंत में हंर टोली को इससे अलग ढंग से जंतुओं का वर्गीकरण करने को कहा गया है। इसे चित्रित करके कक्षा में चिपकाना है।

1987 व 2000 के संस्करण में इस अध्याय को छोड़ दिया गया था।

10. विद्युत-3 (विद्युत के चुंबकीय प्रभाव)

सात प्रयोग और एक विद्युत मोटर बनाने की गतिविधि है। पहले परिपथ में विद्युत धारा की दिशा को परिभाषित किया गया है। प्रयोग 1 में बच्चे यह देखते हैं कि एक छड़ चुंबक का दिक्सूचक पर क्या असर होता है। प्रयोग 2 में एक तार, जिसमें विद्युत धारा बह रही है, का प्रभाव दिक्सूचक पर देखते हैं। तार को दिक्सूचक के ऊपर और नीचे रखकर और विद्युत धारा की दिशा बदलकर दिक्सूचक की सुई के विचलन को देखते हैं और फिर किताब में दिए गए तरीके से दाहिने हाथ का नियम खोजते हैं। प्रयोग 3 में इसी प्रयोग को दोहरे तार के साथ दोहराया जाता है। प्रयोग 4 में तार के लपेटे बढ़ाते हुए विचलन का कोण नापते हैं और लपेटों की संख्या व विचलन कोण का ग्राफ बनाते हैं। प्रयोग 5 में तार के फेरे पूर्व-पश्चिम दिशा में लपेटकर प्रयोग 4 को दोहराया जाता है और दाहिने हाथ का नियम लागू करके देखा जाता है। प्रयोग 6 में एक विद्युत चुंबक बनाते हैं तथा इसकी मदद से एक रेल सिङ्गल भी बनाते हैं। प्रयोग 7 में एक तार को मोड़कर एक झूला बनाया जाता है जिसमें चुंबक स्थिर है और विद्युत धारा प्रवाहित करने पर तार में विचलन होता है। इसके अवलोकनों को समझने के लिए एक विद्युत नट बनाते हैं जिसकी मदद से धारा की दिशा और तार के विचलन की दिशा का पता चलता है। अंत में एक विद्युत मोटर बनाई जाती है और उसका सिद्धांत समझाने की कोशिश होती है।

काउंसल में विद्युत के अध्याय में दाहिने हाथ का नियम प्रतिपादित करने का प्रयास नहीं था और न ही मोटर का सिद्धांत समझाने की कोशिश थी। विद्युत झूला भी नहीं था मगर एक विद्युत सवार का मॉडल था।

1987 के संस्करण में कुछ प्रयोग कम कर दिए गए थे। फेरे बढ़ाते-बढ़ाते विचलन कोण नापने का प्रयोग हटा दिया गया था। विद्युत झूला बनाने की विधि बदल दी गई थी और विद्युत नट का मॉडल भी हटा दिया गया था। शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में विद्युत के अध्यायों को पुनर्गठित किया गया था। कक्षा 8 में ‘बिजली के प्रभाव तरह-तरह के’ आया। इसमें विद्युत के रासायनिक, ऊर्जीय और चुंबकीय असर शामिल किए गए थे। चुंबकीय असर वाले हिस्से में विद्युत झूला हटा दिया गया था। मोटर बनाने की ज्यादा सरल विधि दी गई थी।

11. गैर्सें-2

विवरण कक्षा 7 के संदर्भ में दिया जा चुका है।

कक्षा 8, खण्ड 2

1. संयोग और संभाविता

यह अध्याय कई घटनाओं के घटने की संभाविता, संभाविता की गणना की समस्याओं व उसमें संयोग की भूमिका की पड़ताल करता है। संभाविता के संदर्भ में large numbers की बात रेखांकित होती है। अध्याय का एक महत्वपूर्ण पक्ष आंकड़ों का प्रस्तुतीकरण है।

अध्याय की शुरुआत एक ट्रेन के आने-जाने में होने वाली देरी की चर्चा से शुरू होती है। इसके आधार पर संभाविता के सवाल उठाए जाते हैं। इसके साथ ही दैनिक जीवन में संभाविता और संयोग की बात को उभारा जाता है। फिर एक खेल शुरू होता है - 'चित-पट की दौड़'। इसमें बच्चे सिक्का उछालकर चित व पट आने पर आगे व पीछे कदम बढ़ाते हैं। इस खेल का निजी व सामूहिक रिकॉर्ड रखना सिखाया गया है। खेल पर चर्चा के दौरान प्रत्येक बच्चे के चित-पट के पैटर्न पर विचार होता है और इस बात पर विचार होता है कि क्यों निष्कर्ष निकालने के लिए ज्यादा संख्या में आंकड़ों की ज़रूरत होती है। खेल में विभिन्न पंक्तियों में बच्चों के वितरण पर, जीतने की संभाविता पर विचार किया जाता है।

इसके बाद प्रयोग 1 में यह स्पष्ट किया जाता है कि किसी घनाकार गुटके की तीन सतहों पर चित का निशान लगा लें तो वह सिक्के जैसा ही होता है। आगे के प्रयोगों में ऐसे 10 गुटके एक साथ लुढ़काए जाते हैं। प्रयोग 2 में ऐसी 100 चालों में चित संख्याओं का स्तंभालेख बनाया जाता है। इसका बहुसम्मत मान निकाला जाता है और पैटर्न का विश्लेषण किया जाता है। बहुसम्मत मानों का भी बहुसम्मत मान निकाला जाता है। सारी टोलियों के आंकड़ों को जोड़कर एक सामूहिक स्तंभालेख बनाया जाता है। सामूहिक स्तंभालेख से मुख्य बात यह उभरती है कि अधिकांश टोलियों का पैटर्न और सामूहिक पैटर्न लगभग समान है और बहुत बड़ी संख्या हो, तो परिणामों की बेहतर भविष्यवाणी की जा सकती है।

अब संभाविता की गणना की जाती है। फिर यह अवधारणा सामने आती है कि संभाविता की गणना कर लेने के बाद भी यह नहीं बताया जा सकता कि अगली चाल में क्या होगा। इसे संयोग कहा गया है। इसके आधार पर बीजों की अंकुरण क्षमता सम्बंधी एक अभ्यास है जिसमें बच्चों को मुख्य रूप से इस बात पर विचार करना है कि बहुत कम बीज लेकर किए गए प्रयोगों से निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा।

अगले प्रयोग में चितों के निशान (यानी घनांकार गुटकों पर लगे बिंदुओं की संख्या) की संख्या बदल-बदलकर संभाविता की गणनाएं की जाती हैं। बिंदुओं की संख्या और संभाविता का ग्राफ बनाया जाता है। इसके बाद कई सारे अभ्यास हैं।

अंत में दैनिक जीवन की घटनाओं में संभाविता की गणना की दिक्कतों की ओर ध्यान दिलाया जाता है और कुछ उदाहरणों का विश्लेषण किया जाता है।

कार्ड्स का अध्याय 'संयोग और संभावना' के नाम से था। इसमें रेल के आने-जाने की कोई चर्चा नहीं थी। अध्याय के उद्देश्य के रूप में दो प्रश्न शुरू में ही दिए गए हैं: "एक सिक्के को उछालने पर (क) क्या चित व पट बारी-बारी से आते हैं? यदि नहीं, तो (ख) क्या चित व पट की संख्याएं बराबर होती हैं?" अध्याय चित पट की दौड़ से शुरू होता है। प्रत्येक विद्यार्थी एक सिक्के को 200 बार उछालकर एक तालिका में चित व पट का रिकॉर्ड रखता/ती है। फिर हर दस-दस चालों की चित संख्या का स्तंभालेख बनाते हैं। एक सामूहिक स्तंभालेख भी बनाया जाता है। इसके आधार पर प्रश्न (ख) का उत्तर मिल जाता है। प्रश्न (क) का उत्तर खोजने के लिए रिकॉर्ड इस तरह रखते हैं कि पहले चित आने पर ही दूसरी चाल का रिकॉर्ड रखा जाता है। इसके बाद गुटकों से प्रयोग करके औसत चित संख्या और संभाविता निकालते हैं। बड़ी संख्या के महत्व को बीच-बीच में प्रश्नों के माध्यम से भी उभारा जाता है और अंत में इसे स्पष्ट

करने के लिए संभाविता व चालों की संख्या का एक ग्राफ बनाया जाता है।

1987 के संस्करण में अध्याय का ढांचा तो यही था मगर कई अभ्यास हटा दिए गए थे। खास तौर से गुटकों पर बिंदुओं की संख्या बदल-बदलकर संभाविता की गणना वाले अभ्यास हटाए गए थे।

2000 के संस्करण में इस अध्याय में कई बदलाव किए गए थे। एक बड़ा बदलाव तो यह था सिक्कों की जगह निशान लगे गुटकों का उपयोग पूरी तरह हटा दिया गया था। चित-पट की दौड़ के बाद प्रत्येक छात्र 1 सिक्के को 100 बार उछालकर आंकड़े एकत्रित करता/ती है। इसमें पहले संभावित चितों की संख्या का अनुमान लगाने को कहा गया है। इसके बाद चित व पट की संभाविता निकालना है। इन्हीं आंकड़ों को तरह-तरह से प्रस्तुत करके देखा जाता है कि उछालों की संख्या बढ़ाते जाने पर एक पैटर्न उभरने लगता है। यह दर्शाने के लिए कि किसी घटना के दो परिणाम होने पर संभाविता सदा 50 प्रतिशत नहीं होती घुड़दौड़ का एक खेल रखा गया है। आम जीवन के कुछ अनुभवों के विश्लेषण के साथ अध्याय समाप्त होता है।

2. अम्ल, क्षार और लवण

शिक्षक द्वारा काफी पूर्व तैयारी और काफी सारी किट सामग्री पर आधारित अध्याय है। नौ प्रयोगों के माध्यम से बच्चे अम्ल और क्षार को पहचानना और उनकी परस्पर क्रिया के बारे में सीखते हैं। प्रयोग 1-4 तक विभिन्न पदार्थों की जांच लाल व नीले लिटमस कागज से तथा फिनॉपथलीन सूचक घोलों से करके पदार्थों को अम्लीय, क्षारीय व उदासीन समूहों में बांटा जाता है। प्रयोग 5 में हल्दी से सूचक बनाते हैं। प्रयोग 6 में अम्ल और क्षार की क्रिया (उदासीनीकरण) सम्पन्न की जाती है और लवण से परिचय होता है। प्रयोग 7-9 में उदासीनीकरण को मात्रात्मक ढंग से किया जाता है और अम्ल व क्षार की सांद्रता से परिचय होता है। अंत में फूलों से सूचक बनाने को गृह कार्य के रूप में दिया गया है। पूरे अध्याय में रासायनिक प्रयोग में सावधानियों की ओर ध्यान दिलाया गया है।

काड़स में यह अध्याय अम्ल और क्षार की पहचान व उदासीनीकरण के दो प्रयोगों पर आधारित था।

1987 के संस्करण में एक नया प्रयोग जोड़ा गया था जिसमें एक ठोस अम्ल और एक ठोस क्षार की बराबर मात्रा लेकर उन्हें बराबर पानी में घोलकर प्राप्त घोलों के बीच उदासीनीकरण की क्रिया करके देखा जाता है कि यह ज़रूरी नहीं है कि क्षार और अम्ल के बराबर वजन एक-दूसरे को उदासीन करें। प्रयास यह दिखाने का था कि रासायनिक क्रियाओं में तुलना सिर्फ वजन के आधार पर नहीं हो सकती।

2000 के संस्करण में इस अध्याय को दो भागों में बांटा गया था। सूचकों से परीक्षण वाला भाग ‘अम्ल और क्षार की पहचान’ कक्षा 6 में रखा गया था और दूसरा भाग ‘अम्ल और क्षार का आपसी सम्बंध’ कक्षा 8 में। 1987 में जोड़ा गया मात्रात्मक तुलना वाला प्रयोग फिर से हटा दिया गया था।

3. गति के ग्राफ

अध्याय में गति के ग्राफ के माध्यम से गति, चाल, औसत चाल, त्वरण आदि को समझने का प्रयास होता है। अध्याय औसत चाल की परिभाषा के साथ शुरू होता है। फिर किसी छात्र की यात्रा की चर्चा होती है। पूरे अध्याय की एक विशेषता यह है कि गति की बात आम जीवन की गतियों के उदाहरण लेकर की गई है। अध्याय के दौरान बच्चे विभिन्न यात्राओं के आंकड़ों से ग्राफ बनाते हैं। ग्राफ बनाते हुए गति की विभिन्न बातें उभरती जाती हैं। ग्राफ की ढलान और चाल का सम्बंध, विराम का ग्राफ, बदलती गति के ग्राफ वगैरह के अभ्यास किए जाते हैं।

1987 व 2000 में भी अध्याय लगभग ऐसा ही था। ग्राफ और नक्शे के बीच अंतर स्पष्ट किया गया था और ग्राफ बनाने की विधि को थोड़ा ज्यादा सिलसिलेवार बनाया गया था। 2000 के संस्करण में अभ्यासों की संख्या बढ़ाई गई थी।

4. चीज़ें क्यों तैरती हैं

अध्याय के नाम से ही स्पष्ट है कि यह किन चीजों की खोजबीन करता है। शुरुआत एक खेल से होती है जिसमें एक उफननली में पानी और मिट्टी के तेल में कई चीजें डालकर देखा जाता है कि विभिन्न चीजें विभिन्न तरलों पर टिकती हैं। यह खेल आगे के प्रयोगों के लिए जिज्ञासा पैदा करने का काम करता है। बीच में ‘भारी’ और ‘घने’ का अंतर स्पष्ट करके अध्याय में इसी सवाल को आगे बढ़ाया गया है कि क्यों कुछ चीजें तैरती हैं, कुछ ढूबती हैं। प्रयोग 1 व 2 में ठोस और प्रयोग 3 में द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व पता करते हैं। आपेक्षिक घनत्व की इकाई बच्चों से खुद पता करने को कहा गया है। यहां आर्किमिडीज़ की कहानी दी गई है और प्रयोग 1 व 2 का सम्बंध आर्किमिडीज़ से जोड़ा गया है। यहां प्रश्नों के माध्यम से यह बात उभारी जाती है कि आपेक्षिक घनत्व और तैरने-ढूबने का सम्बंध है। प्रयोग 4 व 5 में आर्किमिडीज़ के सिद्धांत की खोज की जाती है। प्रयोग 6 में यह स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु का तैरना-ढूबना उस वस्तु और द्रव दोनों पर निर्भर है। प्रयोग 7 में लैक्टोमीटर बनाते हैं। कुछ पहलीनुमा अभ्यासों के साथ अध्याय समाप्त होता है।

1987 के संस्करण में अध्याय ऐसा ही रखा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय के दो भाग कर दिए गए थे: ‘आपेक्षिक घनत्व’ और ‘कौन तैर, कौन ढूबे’।

‘आपेक्षिक घनत्व’ में खेल से शुरू करके ठोस व द्रवों के आपेक्षिक घनत्व निकाले जाते हैं। मिलावट पता करने का आर्किमिडीज़ का तरीका ज्यादा विस्तार से उभारा जाता है और आपेक्षिक घनत्व की इकाई पता करके दर्शाई जाती है। लैक्टोमीटर तो बनाते ही हैं।

‘कौन तैरे, कौन ढूबे’ में आपेक्षिक घनत्व का पुनरावलोकन करने के बाद यह समस्या पेश की जाती है कि कई बार 1 से अधिक आपेक्षिक घनत्व वाली चीज़ें भी पानी पर तैरती हैं। इस तरह के तीन प्रयोग किए जाते हैं। इनकी पृष्ठभूमि में आर्किमिडीज़ का नियम खोजने की कोशिश होती है। कुछ आम अनुभवों (पूँडियां तलने, बर्फ के तैरने) का विश्लेषण किया जाता है।

5. सजीव और निर्जीव

यह अध्याय पूरी तरह बच्चों के पास उपलब्ध जानकारी पर आधारित है। यह जानकारी उनके आम अनुभवों की भी है और पिछले वर्षों में किए गए प्रयोगों से प्राप्त भी है। अध्याय में यह मानकर चला जाता है कि बच्चे सामान्य तौर पर यह जानते हैं कि कौन सजीव हैं और कौन निर्जीव। इसलिए सबसे पहले आसपास पाई जाने वाली चीजों को सजीव व निर्जीव में बांटा जाता है। फिर सजीवों के लक्षणों की सूची बनाकर उसके परिप्रेक्ष्य में इन समूहों का विश्लेषण किया जाता है और यह सवाल उठाया जाता है कि क्या प्रत्येक सजीव में ये सारे गुणधर्म होना ज़रूरी है। इस सवाल को पेड़-पौधों की जड़ता, बीजों की निष्क्रियता, वयस्क मनुष्यों में वृद्धि के अभाव, मेंढकों में शीत निद्रा, साधुओं की समाधि वगैरह उदाहरणों के संदर्भ में परखा जाता है।

अध्याय में सजीव और निर्जीव को दो असम्बंधित, शाश्वत समूहों के रूप में प्रस्तुत करने की बजाय परस्पर सम्बंधित, नित परिवर्तनशील समूहों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सजीव मरकर निर्जीव हो जाते हैं और निर्जीव पदार्थों का उपयोग सजीव कर लेते हैं।

लाल वैज्ञानिक में इस अध्याय में सजीव और निर्जीव के बीच भेद करके चीजों का वर्गीकरण करते हैं। चित्रों के माध्यम से सजीवों के कुछ गुणधर्म दिखाए गए हैं। दिलचस्प बात है कि प्रजनन का गुण दर्शाने के लिए परिवार नियोजन का पोस्टर दिखाया गया है।

1987 के संस्करण में तो अध्याय ऐसा ही रहा मगर 2000 के संस्करण में सूखे बीजों में श्वसन का

एक प्रयोग जोड़ा गया था और निर्जीव वस्तुओं से सजीव बनने की प्रक्रिया में यह आयाम जोड़ा गया था कि निर्जीव पदार्थों से आपे आप सजीव की उत्पत्ति नहीं होती।

6. आकाश की ओर-2

इसकी बात कक्षा 7 के संदर्भ में हो ही चुकी है।

7. समय और दोलक

समय बताने के लिए आम जीवन की घटनाओं का उपयोग करने की चर्चा करने के बाद अध्याय में जल धड़ी और मोमबत्ती की धड़ी बनाई जाती है। इसके बाद दोलक के साथ प्रयोग किए जाते हैं। दोलन काल पर वज्जन और लंबाई का असर परखा जाता है। अंत में दो रोचक प्रयोग हैं: एक में युग्मित (coupled) दोलक बनाते हैं और दूसरे में दो धारों से लटकता दोलक बनाते हैं।

लाल वैज्ञानिक में ऐसा ही एक अध्याय ‘समय और पुनरावर्ती निकाय’ के नाम से था। इसमें पहले बच्चों को पुनरावर्ती क्रियाओं से परिचित कराया जाता है, समय का अनुमान लगाने को कहा जाता है। उसके बाद समय नापने में उपयोगी कुछ प्राकृतिक घटनाओं के उदाहरण देकर एक ब्यूरेट से बराबर समयांतरालों में बहने वाले पानी मात्रा का प्रयोग किया जाता है। एक धूमती चकती बनाते हैं और अंत में दोलक के प्रयोग करते हैं।

1987 व 2000 में एक ही परिवर्तन यह किया गया था कि इंजेक्शन की शीशियों से रेत धड़ी बनाने का तरीका दिया गया था।

8. मिट्टी

परिभ्रमण के दौरान कई जगह की मिट्टी लाई जाती है और उनके साथ प्रयोग करके निम्नलिखित बातों की जांच की जाती है: मिट्टी की गंध, कण-गठन (texture), सजीव वस्तुओं और जीवों के अवशेषों की उपस्थिति; विभिन्न आकार के कणों की उपस्थिति; पानी की उपस्थिति; अवशोषित पानी की मात्रा; मिट्टी में पानी का चढ़ना; मिट्टी में घुलनशील पदार्थ। मिट्टी की बनावट को होशंगाबाद ज़िले में निर्मित तवा सिंचाई परियोजना की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया गया है।

काउर्स में शेष अध्याय तो ऐसा ही था मगर एक प्रयोग अलग था - मिट्टी की धोवन (निथरे हुए पानी) में बीज उगाने का प्रयास किया जाता है और इसकी तुलना आसुत पानी व कुएं या नदी के पानी में बीज के अंकुरण से की जाती है। तवा बांध वाला हिस्सा नहीं था।

1987 में कोशिश की गई थी कि मिट्टी के गुणधर्मों को उसके विभिन्न उपयोगों से जोड़ा जाए। सबसे पहले मिट्टी के उपयोगों की बात होती है। परिभ्रमण का स्वरूप बदला गया था और बच्चों से कहा गया था कि घर से स्कूल आते समय प्रत्येक टोली एक-एक जगह की मिट्टी ले आए। बाद में परिभ्रमण में उन्हें मिट्टी की कटान देखने को कहा गया था। कुछ नए प्रयोग जोड़े गए थे: मिट्टी की रिसन दर, मिट्टी का प्रकार पता लगाना, मिट्टी में पानी की मात्रा पता लगाना। इसके बाद मिट्टी के गुणधर्मों और उसके उपयोगों के परस्पर सम्बंधों की चर्चा के लिए प्रश्न दिए गए हैं।

थोड़े फेरबदल के साथ 2000 में भी अध्याय ऐसा ही रहा।

9. प्रकाश

छाया के खेल से शुरू करके अध्याय में प्रकाश के सरल रेखा में गमन, पिन होल कैमरा, प्रकाश के पथ, परावर्तन और अपवर्तन सम्बंधी प्रयोग हैं और कुछ प्रकाशीय उपकरण बनाए जाते हैं।

प्रयोग 1 व 2 में छाया के साथ खेल-खिलवाड़ है। इसके बाद प्रयोग 3 में तीन गत्तों से प्रकाश के सरल

रेखा में गमन की बात है। प्रयोग 4 और 5 में किसी प्रकाश स्रोत से निकलने वाली किरणों के फैलाव को देखा जाता है। किरण चित्र भी दर्शाया गया है और बाद में बच्चों से ऐसा चित्र बनाने को कहा भी गया है। एक डिब्बा बनाया जाता है जिसमें एक आयताकार खिड़की है। इसके सामने एक बल्ब रखकर खिड़की का प्रतिबिंब ग्राफ कागज से बने परदे पर बनाया जाता है। बल्ब और खिड़की की दूरी बदलकर और खिड़की व पर्दे की दूरी बदलकर प्रतिबिंब के आकार में परिवर्तन को नापा जाता है और दूरी व प्रतिबिंब की लंबाई के बीच ग्राफ बनाए जाते हैं। फिर यही प्रयोग सूर्य के प्रकाश के साथ दोहराकर सूर्य से आ रही किरणों की समांतर प्रकृति को देखा जाता है। इस सिलसिले में पिन होल कैमरा भी बनाया जाता है।

इसके बाद प्रावर्तन के नियम के प्रयोग हैं। आपतन कोण व परावर्तन कोण के सम्बंध को देख लेने के बाद पेरिस्कोप व कैलिडोस्कोप बनाए जाते हैं। अगले प्रयोग का सम्बंध अपवर्तन से है जिसमें एक पारदर्शी डिब्बे में भरे पानी में प्रकाश किरण को मोड़कर देखते हैं और अभिलंब से आपतित व अपवर्तित किरण के कोण नापे जाते हैं। अपवर्तन सम्बंधी एक खेल के बाद लेंस कैमरा बनाते हैं, दूरबीन बनाते हैं। पानी के प्रिज्म से वर्णक्रम बनाया जाता है और अंत में एक प्रोजेक्टर बनाने का तरीका दिया गया है।

काफी काट-छांट के बाद यह अध्याय 1987 के संस्करण में कक्षा 7 में रखा गया था। छाया के खेलों का सम्बंध ग्रहण से जोड़ने के बाद प्रकाश के पथ सम्बंधी सारे प्रयोगों को छोड़कर अध्याय में एक झिरी से आते प्रकाश को सरल रेखा में दिखाया गया है। इसके बाद पिन होल कैमरा बनाते हैं और परावर्तन पर बढ़ जाते हैं। पेरिस्कोप व कैलिडोस्कोप बनाने के बाद अपवर्तन का प्रयोग है जिसमें कोण नापने का प्रयास छोड़ दिया गया था। अपवर्तन के दो खेलों के बाद लेंस से अपवर्तन और फोकस दूरी की बात की गई है। लेंस कैमरा, सूक्ष्मदर्शी व दूरदर्शी बनाए जाते हैं। वर्णक्रम बनाते हैं। अंत में आंखों की रचना की जानकारी और दृष्टि भ्रम के कुछ उदाहरण दिए गए हैं।

2000 में छाया के खेल स्वतंत्र गतिविधि के रूप में दिए गए थे। प्रयोगों की विधियों में फेरबदल के साथ शेष अध्याय 1987 जैसा ही था। सिर्फ प्रकाश के सरल रेखा में गमन वाला प्रयोग फिर से जोड़ा गया था। किरणों पर उत्तल लेंस के प्रभाव का एक प्रयोग भी जोड़ा गया था।

10. शरीर के आंतरिक अंग और उनके कार्य

इस अध्याय में विच्छेदित चूहे के अवलोकन और स्वयं अपने शरीर के साथ कुछ गतिविधियों के माध्यम से विभिन्न आंतरिक अंगों के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है। इसके अलावा कुछ जानकारी पुस्तक में भी दी गई है। कुछ तंत्रों के कामकाज को समझने के लिए उनसे सम्बंधित रोगों की चर्चा भी की गई है।

अध्याय में निम्नलिखित तंत्रों को शामिल किया गया है: पेशीय तंत्र, पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, रक्त परिसंचरण तंत्र, तंत्रिका तंत्र, मूत्र तंत्र, प्रजनन तंत्र, व ग्रन्थियाँ। श्वसन और रक्त परिसंचरण तंत्र का आपसी सम्बंध भी स्पष्ट किया गया है। अध्याय के अंत में शरीर के आंतरिक अंगों की बहुस्तरीय जमावट को समझने के लिए एक मॉडल भी बनाया जाता है। चूहे के विच्छेदन का तरीका परिशिष्ट के रूप में दिया गया है। शिक्षक से अपेक्षा थी कि वे चूहे का विच्छेदन करेंगे।

1987 व 2000 के संस्करणों में अध्याय का ढांचा ऐसा ही था। पेशीय तंत्र कक्षा 7 के अध्याय ‘शरीर के आंतरिक अंग - 1’ में शामिल किया गया था और चूहे के विच्छेदन का तरीका हटा दिया गया था; विच्छेदित चूहे किट में उपलब्ध कराए गए थे।

11. मशीनें

ढेर सारी गतिविधियों व चीजों बनाने पर आधारित इस अध्याय में बच्चों को कुछ सरल मशीनों से परिचित कराया जाता है। हथौड़ी व सुई के संभावित आविष्कार से बात शुरू होती है। दोनों में यह स्पष्ट

द्वितीय प्रारूप होता है कि औज़ारों का विकास क्रमिक ढंग से, सुविधा व ज़रूरत के अनुसार हुआ है।

इसके बाद लीवर, लीवर की क्रियाविधि, लीवर और घिरनी का सम्बन्ध, घिरनी बनाना व उनकी तरह-तरह की व्यवस्थाएं, यातायात सम्बन्धी मशीनें, गाड़ी बनाना, बेयरिंग, आनत तल, पेंच, पेंच और आनत तल का सम्बन्ध, फच्चर, क्रेंक, बेल्ट आदि से सम्बन्धित प्रयोग किए जाते हैं। साइकिल की रचना पर विचार किया जाता है। अध्याय की विशेषता यह है कि इसमें मशीनों को व्यावहारिक संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है और आम तौर पर उपलब्ध चीजों से मशीनें व उपकरण बनवाने का प्रयास किया गया है।

अध्याय के कुछ सैद्धांतिक हिस्से हटाकर 1987 व 2000 में भी इसे लगभग इसी रूप में रखा गया था। मसलन यह समझाने का प्रयास छोड़ दिया गया था कि वास्तव में घिरनी लीवर ही है या पेंच एक आनत तल ही है। क्रेंक बनाने की गतिविधि भी हटा दी गई थी।

कुछ अध्याय ऐसे हैं जो तीसरे संस्करण में ही पहली बार शामिल किए गए थे। 1994 में शुरू हुई संशोधन प्रक्रियां के समय रसायन शास्त्र से सम्बन्धित अध्याय विकसित करने पर विशेष ज़ोर दिया गया था। इस प्रक्रिया में से उभरे कई अध्यायों में निम्नलिखित का समावेश 2000 के संस्करण में किया गया था।

1. घुलनशीलता (कक्षा 6)

इस अध्याय में तीन प्रयोगों के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि किसी द्रव में प्रत्येक पदार्थ की घुलनशीलता निश्चित होती है और आम तौर पर तापमान बढ़ाने पर ठोस पदार्थों की घुलनशीलता बढ़ती है और अलग-अलग स्तर तक बढ़ती है। द्रवों की आपसी घुलनशीलता का प्रयोग भी है।

2. रवे बनाना (कक्षा 7)

तीन प्रयोगों में बच्चे यूरिया, बैंजोइक अम्ल और फिटकरी के रवे बनाते हैं। एक प्रयोग में रवे बनाने के लिए वाष्पन विधि का उपयोग करते हुए ऑक्सेलिक अम्ल, यूरिया, नमक, और कॉपर सल्फेट के रवे बनाते हैं और यह देखते हैं कि हर पदार्थ के रवों की बनावट विशिष्ट होती है।

3. रासायनिक क्रियाएं (कक्षा 7)

इस अध्याय में तीन प्रयोग हैं जिनमें तीन अलग-अलग रासायनिक क्रियाएं की जाती हैं: तांबे की कलई, यूरिया और ऑक्सेलिक अम्ल की क्रिया, और लोहे पर ज़ंग लगने की क्रिया। मुख्य बात यह उभरती है कि रासायनिक क्रिया के दौरान नए पदार्थ बनते हैं और इस बात का पता हमें कई तरह से चलता है, जैसे रंग बदलना, अवक्षेप बनाना, बुलबुले निकलना वगैरह।

4. रासायनिक क्रियाओं की गति (कक्षा 8)

इस अध्याय में यह देखा जाता है कि रासायनिक क्रियाओं की रफ्तार पर किन-किन बातों का असर होता है। दो रासायनिक क्रियाओं पर प्रयोग किए जाते हैं। पहली है संगमरमर पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की क्रिया से कार्बन डाईऑक्साइड का बनना और दूसरी है एल्यूमिनियम पर सोडियम हाइड्रॉक्साइड की क्रिया से हाइड्रोजन का बनना। क्रिया की गति को नापने के लिए गैस के बुलबुले गिने जाते हैं। तीन कारकों का असर देखा जाता है: घोल का गाढ़ापन, ठोस अभिकारक के टुकड़ों की साइज़ और क्रिया का तापमान।

5. पदार्थों की रचना और संकेतों की भाषा (कक्षा 8)

यह अध्याय बच्चों को तत्त्व, यौगिक व मिश्रण, अणु व परमाणु तथा रासायनिक संकेतों व सूत्रों का प्रारंभिक परिचय देता है। अध्याय की शुरुआत पृथक्करण की विधियों के आधार पर शुद्ध पदार्थ व मिश्रणों

के बीच अंतर से होती है। शुद्ध पदार्थों का समूहीकरण तत्त्व और यौगिक में किया जाता है और साथ ही इनमें अंतर के लिए परमाणु की बात उठाई जाती है। इसके बाद संकेतों व सूत्रों की बात होती है तथा कुछ सामान्य तत्त्वों और यौगिकों के सूत्र बताए जाते हैं। सूत्रों के व्याकरण पर भी कुछ चर्चा है और कुछ अभ्यास दिए गए हैं। अध्याय की एक विशेषता यह है कि तत्त्व, यौगिक व मिश्रण समूहों को अस्थायी बताया गया है और रूपष्ट किया गया है कि यह सब उस समय उपलब्ध पृथक्करण और रासायनिक विश्लेषण की विधियों पर निर्भर है।

बदलती बाल वैज्ञानिक

1972 में लाल वैज्ञानिक निकली थी मगर उसके बाद निर्णय किया गया कि फिलहाल और किताब नहीं छापी जाएगी क्योंकि यह निर्माण की अवधि है और किताब अंतिम होने का आभास देती है। इसलिए 1972-77 की अवधि में विभिन्न अध्याय अलग-अलग छापकर बच्चों को कार्ड्स के रूप में उपलब्ध कराए जाते थे। इस दौर में अध्यायों के विकास की प्रक्रिया की बात हम कर ही चुके हैं।

ज़िला स्तरीय प्रसार के समय लाल वैज्ञानिक, कार्ड्स में उपलब्ध अध्यायों के अलावा कई नए अध्याय भी तैयार किए गए और उन्हें विभिन्न आधारों पर कक्षा 6, 7 और 8 में वितरित किया गया। इन आधारों में गुणात्मक से मात्रात्मक की ओर क्रमशः बढ़ना, ठोस से अमूर्त की ओर बढ़ना, प्रायोगिक कुशलता का स्तर, अध्यायों की प्रस्पर कड़ियां वगैरह शामिल थे। इस तरह से 1978 से 1980 के बीच बाल वैज्ञानिक का प्रथम संस्करण तैयार हुआ था जिसे म.प्र. पाठ्य पुस्तक निगम ने प्रकाशित किया था। 1978 में कक्षा 6, 1979 में कक्षा 7 व 1980 में कक्षा 8 में बाल वैज्ञानिक का प्रथम संस्करण लागू हुआ था। बाल वैज्ञानिक के साथ एक किट कॉपी भी होती थी जिसमें प्रयोग करने के लिए ज़रूरी स्टेशनरी दी जाती थी, जैसे ग्राफ, चौखाने कागज, सूक्ष्मदर्शी के लिए कुछ सामग्री वगैरह।

इसके बाद बाल वैज्ञानिक में दो बार संशोधन हो चुके हैं - पहली संशोधन प्रक्रिया 1987-1989 में हुई थी तथा दूसरा संशोधन 1994 में शुरू होकर, बीच में कुछ रुककर 2000-02 में पूरा हुआ था।

फीडबैक के स्रोत

ज़िला स्तर पर लागू होने के बाद स्कूलों में उतना सघन अनुवर्तन संभव नहीं था जैसा कि 16 स्कूलों के दौर में होता था। वैसे कोशिश तो यही रही कि स्कूलों में अनुवर्तन व्यवस्थित रूप से चले और इसके लिए विविध प्रयास भी किए गए मगर अनुवर्तन एक दुखती रग ही रही। फिर भी जितना अनुवर्तन होता था उससे सामग्री को लेकर कुछ फीडबैक तो मिलता रहा। शिक्षक प्रशिक्षण व संगम केंद्र स्तर पर होने वाली शिक्षकों की मासिक गोष्ठियां भी फीडबैक के स्रोत रहे। शिक्षक प्रशिक्षण की चर्चा आगे एक अध्याय में की जाएगी। इनके अलावा परीक्षा भी फीडबैक का एक ज़रिया बनी। परीक्षा को छात्रों के फीडबैक के रूप में उपयोग करना इस कार्यक्रम की एक अनोखी बात है।

वैसे तो परीक्षा की बात आगे विस्तार में की जाएगी मगर यहां यह बात प्रासंगिक है कि हो.वि.शि.का. की परीक्षा में बच्चों की उत्तर पुस्तिकाओं के एक नमूने का गहन विश्लेषण शिक्षकों के एक बड़े समूह द्वारा सामूहिक रूप से करने की परंपरा रही। इस विश्लेषण में सिर्फ सही-गलत की बातें नहीं होती थीं बल्कि इस बात की भी चर्चा की जाती थी कि बच्चों को कहां कठिनाई हो रही है और क्या। इसके माध्यम से बाल वैज्ञानिक व शिक्षण कार्य की समीक्षा भी हो जाती थी। और कुछ नहीं, तो इससे ऐसे संकेत तो मिल ही जाते थे कि किन अध्यायों, अवधारणाओं वगैरह पर ज्यादा ध्यान देने की ज़रूरत है या ज्यादा व्यवस्थित अध्ययन करने की ज़रूरत है।

बाल वैज्ञानिक में संशोधन से पहले कई प्रक्रियाएं की जाती थीं। जैसे पहली प्रक्रिया तो यही होती थी कि पिछले सभी शिक्षक प्रशिक्षणों के कक्षा प्रतिवेदनों और फीडबैक रिपोर्ट्स को खंगाला जाता था कि विभिन्न अंध्यायों के बारे में क्या मुद्दे उभरे थे।

फिर इस अवधि में प्राप्त सारी अनुवर्तन रिपोर्ट्स और मासिक गोष्ठी की रिपोर्ट्स की छानबीन होती थी, मुद्दे छांटे जाते थे। खास संशोधन के संदर्भ में शिक्षकों की गोष्ठियां (आजकल की भाषा में फोकस ग्रुप डिस्कशन) आयोजित की जाती थीं जहां शिक्षक अपने अनुभव के आधार पर प्रत्येक अध्याय के बारे में सुझाव देते थे। वे पूरी किताब में पाठ्य वस्तु के संतुलन, चित्रों, भाषा, वगैरह पर भी सुझाव दे सकते थे।

और अंततः कुछ अवधारणाओं, मुद्दों पर व्यवस्थित सर्वेक्षण भी किए जाते थे।

वास्तविक संशोधन कार्य करते समय कुछ शिक्षकों को भी आमंत्रित किया जाता था कि वे नियमित तौर पर संशोधन व पुनर्लेखन की प्रक्रिया में भाग लें ताकि स्कूली परिस्थिति से जुड़ाव बना रहे।

उपरोक्त सारी प्रक्रियाएं तो बाल वैज्ञानिक को स्कूली हालात के अनुरूप बनाने में योगदान देती थीं। मगर संशोधन का मकसद इतना ही नहीं है। विज्ञान व विज्ञान शिक्षा को लेकर नए-नए विचार उभरते हैं, विषय-विशेष में समझ का विकास होता है, किसी अवधारणा को समझने के नए ढंग विकसित होते हैं, अन्य स्थानों पर हो रहे नवाचारों में से नए विचार सामने आते हैं, ये सब भी पुस्तक व शिक्षण पद्धति में संशोधन की मांग करते हैं।

इस सारे फीडबैक पर विचार विमर्श के बाद अध्यायों के प्रथम प्रारूप तैयार करना, इन पर शिक्षकों की राय लेना और फिर उनमें संशोधन करके बच्चों के साथ व्यापक परीक्षण करना वगैरह तो इस प्रक्रिया के अभिन्न अंग थे।

प्रथम संशोधन

ज़िला स्तर पर लागू होने के बाद से स्कूलों से काफी फीडबैक संकलित होने लगा था और धीरे-धीरे संशोधन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। इसके अलावा हो.वि.शि.का. समूह में भी बाल वैज्ञानिक के कई पहलुओं को लेकर विचार-विमर्श जारी था और कई मुद्दे उभर रहे थे।

जैसे, अरसी के दशक में कई अध्ययनों का यह निष्कर्ष था कि मात्र प्रयोग करके खोज करना विज्ञान और विज्ञान कर्म की काफी अधूरी समझ प्रस्तुत करता है। ये अध्ययन अन्य देशों में चल रहे इसी तरह के कार्यक्रमों के संदर्भ में किए गए थे। यह भी सामने आ रहा था कि इस तरह का प्रत्यक्ष प्रमाणवादी नज़रिया स्वयं विज्ञान की प्रकृति को समझने के लिहाज़ से पुराना पड़ चुका है। यह भी कहा जा रहा था कि इस तरह प्रत्यक्ष प्रयोगों से सिद्धांतों व अवधारणाओं की ‘खोज’ करना वैज्ञानिक उद्यम की भ्रामक छवि पेश करता है। दरअसल कई विद्वानों ने कहना शुरू किया था कि वास्तव में अवलोकन व सिद्धांत/अवधारणा के बीच काफी पेचीदा सम्बन्ध है और हमेशा ये इसी क्रम में नहीं आते; कई मर्तबा अवधारणा या सिद्धांत का पूर्वाभास न हो तो अवलोकन भी नहीं हो पाता। यानी विज्ञान के अपने दर्शन और शिक्षा से उसके सम्बन्धों को लेकर काफी उथल-पुथल मची हुई थी। जब संशोधन की प्रक्रिया शुरू हुई तो ये मुद्दे भी उभरे हालांकि ठीक इसी रूप में नहीं।

वैसे अन्य देशों में चल रहे कार्यक्रमों में एक और बात की ओर ध्यान दिया गया था। ऐसे अधिकांश कार्यक्रम बच्चों को विज्ञान की विधि से परिचित कराने के लिए शुरू किए गए थे। इनकी एक बड़ी खामी यह सामने आई थी कि ये बच्चे के परिवेश व उसकी पूर्व अवधारणाओं को बिलकुल भी तवज्जो नहीं देते। हो.वि.शि.का. में तो शुरू से ही माना गया था कि बच्चों के पूर्व ज्ञान के आधार पर ही आगे की प्रक्रिया चलेगी।

मगर 1985 में जब बाल वैज्ञानिक संशोधन का काम शुरू हुआ तो प्रमुख सरोकार यह था कि बाल वैज्ञानिक (खास तौर से कक्षा 7 और 8) स्कूल सत्र में पूरी नहीं हो पाती है। उस समय तीनों कक्षाओं की बाल वैज्ञानिकों में मिलाकर कुल 59 अध्याय थे। खास तौर से कक्षा 8 की बाल वैज्ञानिक बहुत भारी भरकम थी और दो खण्डों में थी। यह तो एक साल में पूरी हो ही नहीं सकती, स्कूल से प्राप्त फीडबैक का यह स्पष्ट संदेश था। इसलिए 1985 में प्रमुख चिंता बाल वैज्ञानिक की विषयवस्तु को काट-छांटकर रस्कूल में उपलब्ध समय के अनुरूप बनाने की थी।

वैसे उसी समय यह बात भी उठने लगी थी कि बाल वैज्ञानिक के सख्त प्रयोग-आधारित स्वरूप पर भी पुनर्विचार करने की ज़रूरत है तथा सीखने के अन्य तरीकों को समुचित स्थान देने के बारे में सोचना चाहिए। मसलन अक्टूबर 1985 में पचमढ़ी में बाल वैज्ञानिक पुनर्लेखन पर एक कार्यशाला आयोजित की

द्वितीय प्रारूप

गई थी जिसमें कार्यक्रम से जुड़े स्रोत व्यक्तियों और स्कूली शिक्षकों ने भाग लिया था। यहां बाल वैज्ञानिक की समीक्षा विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई - विषयवस्तु, पद्धति, चित्रांकन, प्रस्तुतीकरण, प्रयोगों की संरचना, भाषा वगैरह। पद्धति पर विचार करने के लिए बने उपसमूह की रिपोर्ट में कई प्रमुख सवाल प्रस्तुत हुए थे। बिंदुवार प्रस्तुत इस रिपोर्ट में कई महत्वपूर्ण टिप्पणियां व सुझाव थे।

सबसे पहली टिप्पणी तो यह थी कि कई अवधारणाओं को गतिविधियों द्वारा उभारने की कोशिश में प्रयोग शायद बहुत बोझिल, अरोचक या अस्पष्ट हो गए हैं। सवाल यह भी था कि क्या यह ज़रूरी है कि सभी अवधारणाओं को गतिविधियों से ही उभारा जाए। इसी से जुड़ा सवाल यह था कि विज्ञान की बातों को समझाने के अन्य तरीकों (जैसे सरल व रोचक वर्णन, प्रमाण सहित) का उपयोग करने की कोशिश क्यों न की जाए।

प्रयोगों के बारे में भी कुछ सुझाव थे। जैसे बाल वैज्ञानिक में कई जगह एक ही अवधारणा को समझाने के लिए कई प्रयोग थे। सुझाव था कि अध्यायों को चुस्त व सुकेंद्रित बनाने के लिए अनावश्यक प्रयोग हटा दिए जाएं। इसी प्रकार लंबी अवधि के प्रयोगों के बारे में आकलन था कि अधिकांश शिक्षक इन्हें कक्षा में करवा नहीं पाते। इसलिए ऐसे प्रयोगों को हटाने का सुझाव दिया गया था। (लंबी अवधि के प्रयोगों से आशय ऐसे प्रयोगों से है जो एक दिन में पूरे नहीं होते।)

मगर समूह इन सुंदर प्रयोगों को पूरी तरह हटाना भी नहीं चाहता था। जैसे एक प्रयोग था जिसमें बच्चे मुर्गी के अण्डे में भूषण के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं। यह कक्षा 7 के अध्याय ‘विकास’ (आगे चलकर इसका नाम ‘परिवर्धन’ हुआ) में था और शिक्षक प्रशिक्षण शिविरों में शिक्षकों को बहुत भाता था, बशर्ते कि इसकी पूरी व्यवस्था हो जाए। व्यवस्था यह करनी होती थी कि एक ही दिन आपको अलग-अलग अवधि तक विकसित निषेचित अण्डे प्राप्त हो जाएं। तो मोह के चलते समूह का सुझाव था कि इन प्रयोगों को प्रशिक्षण में ज़रूर करवाया जाए और किताब में कुछ इस शैली में रखा जाए कि हर बच्चे के लिए अनिवार्य न रहे।

पद्धति समूह को यह भी लगा कि कई अध्यायों का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। मसलन कक्षा 6 के ‘समूह बनाना सीखो’ में पहली गतिविधि (अपनी कक्षा के छात्रों की सूची बनाना) लंबी, बोझिल व निरुद्देश्य प्रक्रिया मानी गई। कहने का आशय यह था कि इस तरह समूहीकरण का सवाल न तो एक ज़रूरत के रूप में प्रस्तुत होता है (कि समूह बनाना क्यों ज़रूरी है या इससे किस तरह की मदद मिलती है) और न ही एक मज़ेदार गतिविधि या खेल खिलवाड़ के रूप में प्रस्तुत होता है। यह दिक्कत कई अध्यायों में पहचानी गई।

यह भी महसूस किया गया कि कई बार बिना पूर्व तैयारी के अचानक ही बच्चों को कई बौद्धिक क्रियाएं करने के लिए छोड़ दिया गया है। जैसे समूह के पाठ में खुद गुणधर्म चुनकर समूह बनाना। गुणधर्म चुनना सिखाने के लिए कोई अभ्यास नहीं है। इसी तरह चुंबक में चुंबकीय-अचुंबकीय की समझ, पृथक्करण में मिश्रण व घोल की अवधारणा।

समूह का मत था कि कई बार ऐसा लगता है कि बाल वैज्ञानिक के पाठ्यक्रम में बच्चों को वैज्ञानिक पद्धति का वास्तविक परिचय करवाकर उन्हें धीरे-धीरे व सहज रूप से उसका उपयोग करने देने के बजाय वैज्ञानिक विधि के दो-तीन अवयव बहुत अस्वाभाविक ढंग से बच्चों पर बार-बार थोपे जा रहे हैं।

उदाहरण के लिए कक्षा 6 का अध्याय ‘पत्तियों का समूहीकरण’ लिया गया था। इस अध्याय में बच्चे परिभ्रमण पर जाते हैं, पत्तियां इकट्ठी करते हैं, उनका अवलोकन करते हैं और निम्नलिखित तालिका में इन अवलोकनों को रिकॉर्ड करते हैं।

क्र. नाम	डंठल है	चिकनी है	रोएंदार है	लंबी या गोल
	या नहीं	खुरदरी	या नहीं	

इसके बाद वे इस तालिका के आधार पर एक और तालिका बनाते हैं।

क्र. गुणधर्म

चित्र

उदाहरण

दरअसल यह दूसरी वाली तालिका सीधे भरवाना कहीं ज्यादा आसान व रोचक होगा। इसलिए पद्धति समूह को लगा कि पहले एक तालिका भरना और फिर उसी को पुनः व्यवस्थित करना वैज्ञानिक विधि का अनावश्यक व अतिरिक्त अभ्यास है।

इसी संदर्भ में यह सवाल भी उठा कि क्या वैज्ञानिक विधि सीखने में किरी क्रम, संतुलन या विविधता की ज़रूरत नहीं है। जैसे एक सुझाव यह था कि आंकड़ों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में पहले छोटी, स्पष्ट व निश्चित उद्देश्य वाली तालिका बनवाई जाए, जिसका स्वरूप किताब में दिया गया हो और उसके बाद धीरे-धीरे बच्चों से अपेक्षा की जाए कि वे अपने आप तालिका का स्वरूप तय करें। शुरू में एक ही आंकड़ों को नए ढंग से पुनः व्यवस्थित करने के अभ्यास कम हों, बाद में ज्यादा।

पद्धति समूह का सुझाव था कि बच्चों को यह एहसास दिलाना चाहिए कि प्रयोग करना, अवलोकन लेना व निष्कर्ष निकालना - यही वैज्ञानिक खोज की निश्चित पटरी नहीं है। वैज्ञानिक खोज वास्तव में कितनी अलग-अलग क्षमताओं (कल्पनाशीलता, एहसास, अंदाज़ लगाना इत्यादि) के समन्वय से संभव होती है इसका आभास दिलाने की कोशिश हो। कुछ प्रयोगों का ऐतिहासिक महत्व भी बच्चों को बताया जाए (जैसे मक्खी के जीवन चक्र का प्रयोग)। यह भी बताया जा सकता है कि कई अप्रत्याशित घटनाओं का विज्ञान के इतिहास में क्या स्थान है। केवल साधारण कहानी न हो, पर ऐसे प्रस्तुत करें कि वैज्ञानिक विधि की विविधता व उसके रोमांच की झलक बच्चों को मिले।

एक सवाल यह भी था कि क्या बच्चों के लिए मॉडल बनाने की विधि और उसका उपयोग (वैज्ञानिक किस प्रकार काल्पनिक मॉडल का इस्तेमाल करके जटिल समस्याओं का सरल ढंग से हल करते हैं) सम्भव है? क्या इस संदर्भ में हमारे प्रयास (जैसे कोशिकाओं का मॉडल) बच्चों के लिए उपयुक्त हैं या इनसे वे और भ्रमित होते हैं? इसमें क्या सुधार संभव है? अन्य जगहों पर कहां-कहां मॉडल के बारे में परिचय दिया जा सकता है?

इसी कार्यशाला में विषयवस्तु समूह ने भी जमकर काम किया था। इस समूह ने मूलतः विषयवस्तु में छंटाई और अध्यायों के पुनर्गठन सम्बंधी सुझाव दिए थे।

इसी कार्यशाला में पहली बार पुस्तकों के चित्रों, ले-आउट तथा प्रस्तुतीकरण को लेकर एक पेशेवर समूह को शामिल किया गया। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी (बम्बई) के इंडस्ट्रियल डिज़ाइन सेंटर के किर्ती त्रिवेदी के नेतृत्व में इस समूह ने बाल वैज्ञानिक के प्रस्तुतीकरण की एक व्यवस्थित समीक्षा प्रस्तुत की थी। इस पक्ष की बात हम कर ही चुके हैं।

कुल मिलाकर इस कार्यशाला में बाल वैज्ञानिक में संशोधन व सुधार के कई सुझाव आए मगर जब पुनर्लेखन का वास्तविक काम शुरू हुआ तो बाल वैज्ञानिक को स्कूली सत्र में उपलब्ध समय के अनुकूल बनाना प्रमुख सरोकार बन गया। दरअसल इस संशोधन प्रक्रियां का प्रमुख परिणाम यही कहा जा सकता है कि अध्यायों के पुनर्गठन व पुनर्वितरण तथा व्यापक छंटाई के ज़रिए उसे स्कूल सत्र की अवधि में समेटना संभव हुआ - दूसरे शब्दों में, 'कक्षा 8 की किताब एक खंड में आ गई।'

पद्धति समूह की सिफारिशों व सवालों के संदर्भ में छिटपुट काम ज़रूर हुआ मगर अध्यायों का बुनियादी ढांचा नहीं बदला और न ही वैज्ञानिक पद्धति के अन्य तत्वों को या सीखने के अन्य तरीकों को कोई उल्लेखनीय स्थान मिला।

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि ‘पत्तियों का समूहीकरण’ की जिन दो तालिकाओं का उदाहरण लेकर पद्धति समूह ने ‘वैज्ञानिक विधि के अनावश्यक व अतिरिक्त अभ्यास’ की बात समझाई थी, वे दोनों तालिकाएं वैसी की वैसी ही रहीं। नए संस्करण में भी ‘सभी अवधारणाओं को गतिविधि के माध्यम से उभारने’ का आग्रह बरकरार रहा, ‘सरल व रोचक वर्णन’ शायद इकका-दुकका जुड़े हों।

इस संस्करण के निर्माण में शिक्षकों की प्रत्यक्ष भागीदारी काफी कम थी। वैसे पचमढ़ी कार्यशाला में कुछ शिक्षक शारीक थे मगर उनका योगदान मूलतः बाल वैज्ञानिक को रक्कुल में करवाने में लगने वाले समय की गणना तथा विभिन्न प्रयोगों व अवधारणाओं को करवाने की दिक्कतों के विश्लेषण तक सीमित था। लेकिन रक्कुलों में अनुवर्तन, शिक्षकों की मासिक बैठकों, प्रशिक्षण शिविरों तथा शिक्षकों से अनौपचारिक चर्चाओं से प्राप्त उनके अनुभवों व विचारों ने ही इस संशोधन प्रक्रिया को निर्देशित किया था। यह सही है कि इस विषय में बच्चों के साथ कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया गया था कि बाल वैज्ञानिक के कौन-से हिस्से कठिन हैं या बच्चों को रोचक नहीं लगते। इसका निर्णय मूलतः शिक्षकों के एहसासों के आधार पर किया गया था।

दूसरा संशोधन

दरअसल 1985 में पद्धति समूह द्वारा प्रस्तुत मुद्दों को अगले संशोधन में संबोधित किया गया था। ऐसा लगता है कि 1994 में जब दूसरी बार संशोधन की प्रक्रिया शुरू हुई तब तक हो.वि.शि.का. 1985 में प्रस्तुत समझ व विचारों को आत्मसात कर चुका था। यह भी हो सकता है कि 1985 में उन विचारों को ठोस अध्यायों व सामग्री का रूप देने के लिए ज़रूरी हुनर व समय का अभाव था।

1985-1994 के दशक में एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम और हुआ था तथा हो.वि.शि.का. के लिए नई संभावनाएं भी उजागर हो रही थीं। उनका असर भी दूसरे संशोधन पर पड़ा। इसका सम्बंध कार्यक्रम के फैलाव से था।

वैसे तो हो.वि.शि.का. का प्रसार/विस्तार एक लगातार चलती हुई बात रही है मगर नब्बे के दशक के शुरू में कार्यक्रम के राज्य स्तरीय प्रसार की संभावनाएं शासन व एकलव्य संस्था दोनों के द्वारा संजीदगी से टटोली जा रही थीं। एक ओर तो इसके लिए शिक्षक प्रशिक्षण के उपयुक्त ढांचों पर चर्चा चल रही थी, विकेंद्रित व कारगर प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर विचार चल रहा था, वहीं दूसरी ओर पाठ्यक्रम, विषयवस्तु व बाल वैज्ञानिक को भी नए परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा था।

इसी समय राज्य स्तरीय प्रसार की संभावना के मद्देनज़र केंद्र सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने एक समिति का गठन किया। एन.सी.ई.आर.टी. के गणित व विज्ञान शिक्षा विभाग के अध्यक्ष बी. गंगुली इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति को राज्य स्तरीय प्रसार के परिप्रेक्ष्य में हो.वि.शि.का. का एक आकलन करके आगे बढ़ने के सुझाव देना था।

जहां समिति ने हो.वि.शि.का. के बुनियादी सिद्धांतों से सहमति व्यक्त की और कार्यक्रम का राज्य स्तरीय प्रसार करने के अलावा इन सिद्धांतों को आगे की कक्षाओं (कक्षा 9 व 10) में भी अपनाने की सलाह दी, वहीं यह टिप्पणी भी की कि इस कार्यक्रम (हो.वि.शि.का.) में विज्ञान की प्रक्रिया को तो बखूबी उभारा गया है मगर विज्ञान के उत्पाद ('तथ्य' और 'जानकारी' यानी नियमों-परिभाषाओं) की उपेक्षा हुई है, उन्हें पर्याप्त स्थान नहीं मिला है। समिति की सिफारिश थी कि प्रक्रिया-उत्पाद के इस असंतुलन को दुरुस्त किया जाए।

इस सिफारिश को लेकर हो.वि.शि.का. समूह उहापोह की स्थिति में था क्योंकि कार्यक्रम की बुनियाद में यह पद्धति थी कि नियम, परिभाषाएं बच्चे स्वयं खोजेंगे। यानी समूह की मान्यता थी कि विज्ञान के उत्पाद दरअसल बच्चों द्वारा की गई विज्ञान की प्रक्रिया के उत्पाद होने चाहिए, पके-पकाए उत्पाद नहीं। लिहाजा समिति की सिफारिश को सीधे-सीधे अपना लेने का मतलब होता कि कार्यक्रम की आत्मा को नष्ट कर दिया जाए। समिति की उक्त सिफारिश में पाठ्य पुस्तक को ही पाठ्यक्रम मानने की भूल झलकती है। यदि सिर्फ बाल वैज्ञानिक को देखा जाए तो यह बात सही लगती है कि इसमें विज्ञान के ‘तथ्य और जानकारी’ नहीं हैं मगर, जैसा कि पहले भी कहा गया था, बाल वैज्ञानिक तो हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम का एक अंश मात्र है। इसके साथ कक्षा में होने वाली कार्यवाही के बाद ही पाठ्यक्रम पूरा होता है, पाठ्यक्रम के लक्ष्य हासिल होते हैं। इस रिपोर्ट व आगे की योजना पर बातचीत के लिए आयोजित एक बैठक में अनिल सद्गोपाल ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया था: “मैं समिति की प्रोसेस बनाम प्रोडक्ट (प्रक्रिया बनाम उत्पाद) वाली टिप्पणी की एक और व्याख्या करना चाहता हूँ। जिन कक्षाओं में होशंगाबाद विज्ञान पढ़ाया जाता है (यानी जहां प्रयोग होते हैं, बच्चे परिभ्रमण पर जाते हैं) उनमें से कितनी कक्षाओं में प्रयोग से अपेक्षित अवलोकन व आंकड़ों को लेकर आगे की प्रक्रिया चलती है? और विद्यार्थियों को निष्कर्ष निकालने या अवधारणा विकसित करने के चरण तक पहुंचाया जाता है? या हाथों से कुछ कर लेने या बाहर से प्राकृतिक सामग्री बटोर लेने (यानी प्रोसेस पहलू में) होशंगाबाद विज्ञान की इतिश्री मान ली जाती है? कितने शिक्षक (स्रोत शिक्षक व अनुवर्तनकर्ताओं समेत) प्रयोगों से निष्कर्षों व अवधारणाओं तक पहुंचने की प्रक्रिया (यानी प्रोडक्ट पहलू में) सक्षम हैं?”

अर्थात् यह माना गया कि हो.वि.शि.का. के इस पहलू को यानी प्रयोगों व गतिविधियों से खोज की प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने की ज़रूरत है। इस बात का एक पहलू यह था कि बाल वैज्ञानिक में इस तरह के परिवर्तन किए जाएं जो ‘प्रोडक्ट’ पक्ष को ज्यादा सुगम बनाएं।

इस दृष्टि से बाल वैज्ञानिक के तीसरे संस्करण में एक प्रमुख प्रयास यह किया गया था कि प्रयोग शुरू करने से पहले थोड़ी भूमिका बांधी गई जिसमें बच्चों को (या शायद शिक्षकों को) यह आभास देने की कोशिश की गई कि प्रयोग में किस बात पर ध्यान देना है या किन सवालों के जवाब खोजने के लिए वह प्रयोग किया जा रहा है।

एक उदाहरण देखिए, दोनों में अवधारणा व प्रयोग एक ही है:

कक्षा 6 (1978)

चुंबक के दो ध्रुव प्रयोग 2	एक कागज के ऊपर लोहे का थोड़ा सा बुरादा रखो। एक छड़ चुंबक को उससे छुआकर उठा लो। तुम क्या देखते हो? (2)
-------------------------------	---

कक्षा 6 (2000)

चुंबक के दो ध्रुव: प्रयोग 2

क्या तुमने इस बात पर ध्यान दिया है कि चीजें चुंबक के किस हिस्से पर ज्यादा चिपकती हैं। क्या चुंबक के सभी हिस्से बराबर रूप से चुंबकीय चीजों को अपनी ओर खींचते हैं? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिए एक और प्रयोग करो।

एक कागज के ऊपर लोहे का थोड़ा सा बुरादा रखो। एक छड़ चुंबक बुरादे पर आँजा लिटाकर इधर-उधर घुमाओ। अब चुंबक को उठाओ।

तुम क्या देखते हो? अपनी कॉपी में चित्र बनाओ। (2)

चुंबक के किस हिस्से पर बुरादा अधिक चिपकता है? (3)

किस हिस्से पर बुरादा नहीं के बराबर चिपकता है? (4)

इस संशोधन प्रक्रिया का दूसरा पहलू भी गांगुली समिति ने रेखांकित किया था मगर वास्तव में वह एक ऐसा मुद्दा रहा है जो 1974-75 से उठने लगा था। यह बात कई तबकों से उठती रही है कि हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम की कड़ियाँ आगे की कक्षाओं से नहीं बन पातीं। इस विषय की चर्चा हम विस्तार में अलग से तो करेंगे ही, यहां प्रासंगिक बात यह है कि जब भी बाल वैज्ञानिक और कक्षा 6-8 में चल रही 'सरकारी' पाठ्य पुस्तकों में विशिष्ट अंतरों की बात आती थी, तो मुख्य रूप से रसायन शास्त्र की ओर उंगली उठती थी और उसमें भी यह कहा जाता था कि बाल वैज्ञानिक में अणु, परमाणु, रासायनिक संकेत, सूत्र व समीकरणों का अभाव है, जिसकी वजह से बच्चों को कक्षा 9-10 में परेशानी होती है।

संशोधन की प्रक्रिया में इस मुद्दे को संबोधित करते हुए बाल वैज्ञानिक के रसायन शास्त्र की विषय वस्तु पर विचार करने हेतु एक समूह का गठन किया गया था जिसने करीब 1 वर्ष काम करके रसायन शास्त्र सम्बंधी कई अध्याय विकसित किए थे। काफी विचार विमर्श के बाद समूह इस निर्णय पर पहुंचा था कि 'अणु, परमाणु' कक्षा 8 तक नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। समूह का विचार था कि इस स्तर पर बच्चों को रासायनिक परिघटनाओं, क्रियाओं, परिवर्तनों का पर्याप्त अनुभव दिया जाना चाहिए जो आगे चलकर उपरोक्त अमूर्त चीज़ें सीखने में मददगार होगा। मगर अंततः कक्षा 8 में 'पदार्थों की रचना और संकेतों की भाषा' नामक अध्याय शामिल किया गया था। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह एक शैक्षिक निर्णय नहीं था बल्कि परिस्थिति के साथ एक समझौता था क्योंकि ऐसा एहसास था कि सिर्फ इस एक अध्याय के न होने के कारण पूरे कार्यक्रम, उसकी शिक्षण पद्धति पर ही सवाल खड़े होने लगते हैं।

रसायन शास्त्र समूह के प्रयासों के फलस्वरूप रसायन के निम्नलिखित नए अध्याय तैयार हुए और बाल वैज्ञानिक के अंग बने : रासायनिक क्रियाएं, रासायनिक क्रियाओं की गति, रवे बनाना, घुलनशीलता, पदार्थों की रचना और संकेतों की भाषा।

इस संशोधन का तीसरा आयाम समूह के अपने अनुभवों व सोच-विचार का परिणाम था। एक तरह से यह आयाम 1985-1989 की संशोधन प्रक्रिया में सामने आ चुका था। मगर इस बार इसे साकार रूप मिला। जो सवाल 1985 में पूछा गया था कि 'क्या सारी अवधारणाएं गतिविधियों के माध्यम से ही उभारनी हैं और क्या सीखने के अन्य तरीकों को कोई स्थान नहीं देना है?' उसे भी इस संशोधन में संबोधित किया गया।

'पौधों में पोषण', 'कहां-कहां नहीं है बल', 'फसलों के सवाल-जवाब भाग-1 व 2' जैसे अध्याय तैयार हुए। ये तीनों विषय पहले भी बाल वैज्ञानिक के अंग थे मगर इन्हें एकदम नए ढंग से प्रस्तुत किया गया। 'कहां-कहां नहीं है बल' पूरी तरह दैनिक जीवन की घटनाओं में बलों के विश्लेषण पर आधारित है और बच्चों को ख्याली प्रयोग (thought experiments) जैसी प्रक्रियाओं से परिचित कराता है। यह अध्याय मूलतः न्यूटन के गति के पहले नियम के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है और बच्चों को लगातार अलग-अलग परिस्थितियों में बलों की खोज में शामिल करता है। कहीं-कहीं इसमें एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी शामिल किया गया है। 'पौधों में पोषण' नामक अध्याय में पौधों में पोषण के सवाल की खोज के इतिहास को चर्चा का आधार बनाया गया है जबकि 'फसलों के सवाल-जवाब' में कोशिश की गई है कि दी गई जानकारी का उपयोग करके फसलों से जुड़े विभिन्न मुद्दों की छानबीन की जाए।

इन तीन सर्वथा नए ढंग से तैयार किए गए अध्यायों के अलावा दोनों संशोधनों के दौरान अधिकांश अध्यायों के अवधारणात्मक ढांचे में खास फेरबदल नहीं किया गया था। कई प्रयोगों को सरल बनाया गया था और कहीं-कहीं नए प्रयोग जोड़े गए थे या पुराने प्रयोग हटाए गए थे। अलबत्ता, कई सारे अध्यायों में अवधारणाओं से जुड़ी रोचक जानकारी, ऐतिहासिक तथ्य, वैज्ञानिकों की जीवनी, प्रयोगों के विवरण आदि काफी मात्रा में जोड़े गए थे। मकसद यह था कि बच्चे जो कुछ सीखें उसे एक व्यापक संदर्भ से जोड़ पाएं और वैज्ञानिकों के कामकाज की एक झलक पा सकें। इस तरह से तीसरे संस्करण में बच्चों के सामने वैज्ञानिक विधि का एक ज्यादा समग्र चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश हुई थी।

दूसरे संशोधन के दौरान शिक्षकों की प्रत्यक्ष भागीदारी काफी अधिक रही और अध्यायों के लेखन व परीक्षण में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अलावा इस संस्करण के लिए अवधारणाओं की समझ को लेकर बच्चों के साथ व्यवस्थित परीक्षण भी किए गए थे और इनके परिणामों ने संशोधन को प्रभावित किया था।

अगले खंड में हम ऐसे कुछ अध्यायों के विकास की यात्रा को ज्यादा विस्तार में देखेंगे जिनमें व्यापक अवधारणात्मक फेरबदल किए गए थे। इनमें पौधों में पोषण व बल से सम्बंधित अध्यायों की बात की जाएगी। बाल वैज्ञानिक का एक प्रमुख अध्याय आकाश की ओर रहा है। यह अध्याय वैज्ञानिक विधि के कई तत्वों को उजागर करता है मगर स्कूलों के अनुभव बहुत सकारात्मक नहीं रहे हैं। इसके बारे में भी हम थोड़े विस्तार में चर्चा करेंगे। इसके अलावा रसायन शास्त्र के पाठ्यक्रम पर अलग से थोड़ी बात करेंगे क्योंकि तीसरे संस्करण में इस पर विशेष रूप से काम किया गया था और खास तौर से अणु-परमाणु व रासायनिक संकेतों पर एक अध्याय तैयार किया गया था जो हो.वि.शि.का. के संदर्भ में एक प्रमुख परिवर्तन कहा जा सकता है।

एक अध्याय की जीवनी - आकाश की ओर

बाल वैज्ञानिक का एक चर्चित अध्याय है 'आकाश की ओर'। यह कई कारणों से लगातार चर्चा में रहा। पहली बात तो यह कही जा सकती है कि इसमें सौर मंडल व उससे जुड़ी घटनाओं के बारे में निबंध लिखने की बजाय गतिविधियों के ज़रिए आगे बढ़ने की कोशिश की गई है। इस दृष्टि से यह अध्याय अन्य कार्यक्रमों के इसी विषय से सम्बन्धित अध्यायों से एकदम अनोखा है। यह बात विभिन्न देशों में किए गए कई अध्ययनों से प्रमाणित हुई है कि बच्चे तो क्या, बड़े लोग भीं सौर मंडल की गतियों को लेकर भ्रमित रहते हैं। इसलिए इस तरह के विवरणात्मक अध्यायों की उपयोगिता काफी संदिग्ध है। अतः यह सोचा गया कि बच्चों को गतिविधियों के माध्यम से इन गतियों व परिघटनाओं को टटोलने दिया जाए।

इस अध्याय के बारे में एक और दिलचस्प तथ्य यह है कि इसमें प्रस्तुत अवधारणाओं का सम्बन्ध दैनिक जीवन से है। ग्रहण, चंद्रमा की कलाएं वृगैरह हमारे सांस्कृतिक जीवन से गहराई से जुड़े हैं। इस मायने में चांद, सूरज, तारे, नक्षत्र हमसे इतनी दूर होते हुए भी हमारे पर्यावरण का हिस्सा हैं। इसलिए इन चीज़ों को एक वैज्ञानिक ढंग से समझना महत्वपूर्ण हो जाता है।

तीसरी बात यह है कि यह एक ऐसा विषय है जिसमें प्राचीन काल से ही हमारे देश के वैज्ञानिकों ने काफी योगदान किया है।

इस अध्याय में बच्चों से जितनी तरह की गतिविधियां करवाई गई हैं वह अपने आप में एक मिसाल है - इस अध्याय में रात को करने के प्रयोग हैं, साल भर चलने वाले प्रयोग हैं और गांव के बुजुर्गों से पूछकर जानकारी हासिल करने का प्रयास है।

जो चीज़ इस अध्याय को और भी दिलचस्प बनाती है, वह है इसमें अपेक्षित अमूर्त सोच का स्तर। कुछ प्रयोग तो ऐसे हैं जिनसे सीधे-सीधे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं मगर प्रयोगों की एक शृंखला ऐसी है जिसे करने के बाद बच्चों को वैकल्पिक व्याख्याओं के बारे में सोचना होता है और फैसला करना होता है कि इनमें से किसे सही मानें क्योंकि प्रयोगों के परिणाम दोनों व्याख्याओं को संतुष्ट करते हैं। यानी बच्चे इन अवलोकनों के आधार पर सूरज व पृथ्वी की सापेक्ष गतियों के दो मानसिक मॉडल बनाते हैं और तय करने की कोशिश करते हैं कि उनमें से कौन-सा मॉडल यथार्थ की ज्यादा अच्छी व्याख्या करता है। तब विज्ञान की इस आधुनिक समझ को उभारने का अवसर मिलता है कि जो व्याख्या ज्यादा सरल हो उसे ज्यादा स्वीकार्य माना जाएगा (इसे हम ओकैम्स रेज़र या प्रिंसिपल ऑफ पार्सिमनी यानी किफायत के सिद्धांत के नाम से भी जानते हैं)।

अब आप समझ ही सकते हैं कि क्यों यह अध्याय शिक्षकों के लिए भी भारी पड़ता था। मगर उसमें जाने से पहले 1978 के संस्करण में इस अध्याय की बनावट पर एक नज़र डालें। 1978 के संस्करण में यह अध्याय दो भागों में था - एक भाग कक्षा 7 में और दूसरा भाग कक्षा 8 में।

पहले भाग में मूलतः आकाश में सूर्य की गति का अध्ययन छाया के माध्यम से किया जाता है और उसकी नियमितता को पकड़ने का प्रयास होता है। इसमें सूर्य की गति के दैनिक व वार्षिक पहलुओं को समझने का प्रयास किया गया है। बच्चों के सामने चुनौती यह है कि सूर्य को देखकर घड़ी व कैलेंडर कैसे बनाए जा सकते हैं। इस मामले में पहले तो कुछ सवालों के माध्यम से उनकी समझ को टटोलने का प्रयास है। इसके बाद प्रयोग-1 में एक मीटर लंबी एक छड़ी को ज़मीन में गाड़कर उसकी छाया के अवलोकन लिए जाते हैं। दिन भर छड़ी की छाया की लंबाई व दिशा में होने वाले परिवर्तनों को नोट करने के बाद समय व छड़ी की छाया की लंबाई का ग्राफ बनाकर सबसे छोटी छाया का समय पता किया जाता है और बच्चों से यह ध्यान देने को कहा जाता है कि न्यूनतम लंबाई वाली छाया की दिशा क्या थी। इस तरह से मध्याह्न को परिभाषित कर दिया जाता है। और यह जानकारी दी जाती है कि सबसे छोटी छाया हमेशा उत्तर-दक्षिण दिशा में ही पड़ती है। इस प्रयोग में बच्चे शायद न चौंके मगर शिक्षकों को यह देखकर बहुत आश्चर्य

होता है कि आम सोच के विपरीत सबसे छोटी छाया की लंबाई हमेशा शून्य नहीं होती और सबसे छोटी छाया दोपहर ठीक 12 बजे भी नहीं पड़ती।

फिर इस प्रयोग को अगले दिन और फिर दो सप्ताह बाद दोहराया जाता है। इसमें वे यह देखते हैं कि उन्हीं समयों पर छड़ी की छाया रोजाना उन्हीं निशानों पर नहीं पड़ती है। इस अवलोकन की व्याख्या का प्रयास होता है।

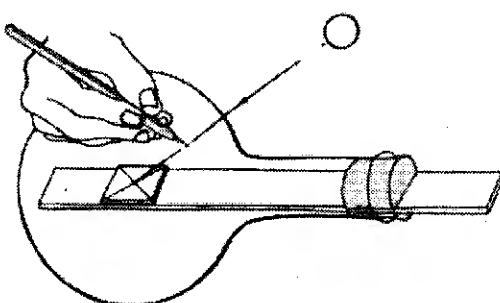
अगला प्रयोग (प्रयोग-2) और भी महत्वाकांक्षी है; इसमें किसी खंभे की छाया के निशान प्रति सप्ताह लगाकर उस पर तारीख लिखने को कहा गया है। इसके आधार पर उन्हें यह समझना है कि सूर्य की दिशा दिन-पर-दिन बदलती है। और कहा तो यह भी गया है कि “यदि प्रयोग-2 को तुम पूरे साल करते रहो तो पता चलेगा कि सूर्य की स्थिति किसी निश्चित समय पर दिन-पर-दिन भी बदलती है।”

प्रयोग-3 घर पर करने के लिए है। करना वही है - एक डंडी गाढ़ देनी है। एक कागज़ में बीचों बीच छेद करके उसे डंडी में पिरोकर निश्चित समयों पर (सुबह 9 से दोपहर 4 बजे तक) छाया के निशान लगाना है। “यह प्रयोग हर दूसरे रविवार को घर पर दोहराओ। हर बार प्रयोग के लिए एक नया कागज़ लगाओ और उस पर दिन की तारीख ज़रूर लिख लो।” इन चित्रों की तुलना के आधार पर बच्चों को बताना है कि “प्रयोग के दौरान आकाश में सूर्य का पथ किस प्रकार बदला?” और “बदलती हुई लंबाइयां देखकर क्या यह बताना संभव है कि गर्मियों के दिन आ रहे हैं या जाड़े के?”

और अंत में प्रयोग 4 में बच्चे एक सूर्य घड़ी बनाते हैं।

‘आकाश की ओर - भाग 2’ अत्यंत महत्वाकांक्षी है; सिर्फ प्रयोगों के लिहाज़ से नहीं बल्कि अवधारणा के लिहाज़ से भी।

सबसे पहले सूर्य और चंद्रमा के पथ को समझने के लिए एक प्रयोग किया जाता है। इस प्रयोग के एक हिस्से का विवरण शब्दशः बताना ही बेहतर होगा।



“एक मिट्टी का घड़ा लो और उसके ऊपरी हिस्से को सावधानी से इस तरह तोड़ो कि उसका आकार एक अर्द्ध गोले की तरह हो जाए। इससे भी सरल और अच्छा तरीका यह होगा कि गांव के कुम्हार से ऐसा अर्द्ध गोला बनवाकर पकवा लो। प्रयोग में आसानी के लिए अर्द्ध गोले के अंदर चूना पुतवा लो। अर्द्ध गोले के बीच में दो डोरियां एक-दूसरे के लंबवत तान लो। ये डोरियां एक-दूसरे को ठीक बीच में अर्द्ध गोले के केंद्र बिंदु पर काटनी चाहिए (चित्र-1)।” आज शिक्षा के माहौल में कल्पना कीजिए इस तरह का प्रयोग लिखने की, करने की तो बात ही जाने दीजिए - क्या आज कोई सोच सकता है कि कक्षा में एक प्रयोग करने के लिए गांव के कुम्हार से एक आधा मटका बनवाकर पकवाएगा?

इसके बाद “जहां ये डोरियां एक-दूसरे को काटती हैं वहां गीली चिकनी मिट्टी की गोली बनाकर चिपका लो।” यह उपकरण तैयार हो जाने के बाद “हर आधे घण्टे बाद घड़े की सतह पर गोली की परछाई का निशान लगाना होगा और साथ ही समय भी लिखना होगा। ऐसे निशान तुम्हें दिन में जितनी देर तक गोली की छाया दिखे उतनी देर तक लगाने होंगे।”

इसके बाद प्रयोग-2 में यही क्रिया चांद के साथ दोहरानी है। आप समझ ही गए होंगे कि यह प्रयोग रात भर चलेगा। इसलिए शिक्षक के लिए एक टीप बॉक्स में दी गई है कि ये प्रयोग सब विद्यार्थी अपने-अपने घरों पर कर सकते हैं। परंतु कम से कम एक घड़ा स्कूल में भी लगवाकर प्रयोग 1 व 2 करवाएं। ज़रा सोचिए सूर्य और चंद्रमा के पथ का चित्रण गांव के हर उस घर में हो रहा है जिसका कोई बच्चा आठवीं

में पढ़ता है। और यकीन मानिए, जब कार्यक्रम 16 स्कूलों में क्रायोगिक तौर पर चलता था तब वास्तव में स्रोत व्यक्तियों ने गांवों में पड़ाव डालकर रात-रात भर ये प्रयोग करवाए हैं।

यह प्रयोग हो जाने के बाद बच्चे एक और तो सूर्य और चंद्रमा के पथों के अलग-अलग गुणधर्मों का विश्लेषण करते हैं तथा, दूसरी ओर, इन दोनों के पथों की तुलना भी करते हैं।

यही प्रयोग 10-10 दिन के अंतराल पर साल भर दोहराने का प्रावधान है ताकि एक सूर्य घड़ी बनाई जा सके। सिर्फ इतनी मेहरबानी है कि “अगर तुम हर 10-10 दिन के अंतर पर यह प्रयोग न कर सको तो (साल में) कम से कम ऐसा छह बार ज़रूर करो।”

इन चार प्रयोगों के माध्यम से बच्चे यह देख पाते हैं कि सूर्य और चंद्रमा के दैनिक पथ तो लगभग समांतर हैं जबकि वार्षिक पथ एक-दूसरे को काटते हैं।

सचमुच ज्ञान के प्रति निष्ठा की मांग है। उस समय जुड़े एक शिक्षक बताते हैं कि होशंगाबाद विज्ञान में काफी ज़ोर इस बात पर था कि ज्ञान प्राप्त करना है तो मेहनत करनी होगी।

सूर्य और चंद्रमा के बाद नंबर आता है तारा मंडलों के पथ का (प्रयोग-4)। यह भी रात का प्रयोग है जिसे घर पर करना है। इसमें पहले सप्तर्षि या काश्यपि तारामंडल और ध्रुव तारे को ढूँढकर उनका एक नक्शा बनाना है। फिर एक-एक घण्टे के अंतर से नक्शे पर तारामंडलों और ध्रुव तारे की स्थिति दर्शानी है। इन अवलोकनों के आधार पर अन्य प्रश्नों के अलावा इस प्रश्न का भी उत्तर खोजना है कि वे “आकाश में कौन-सा पथ अपनाते हैं?”

अगले प्रयोग (प्रयोग-5) में बच्चों से अपेक्षा है कि वे यह पता करेंगे कि “कोई भी तारा या तारामंडल एक घंटे में आकाश में कितने अंश धूम जाता है।” इससे ही पता चलता है कि पिछले प्रयोग में बच्चे यह देख पाए होंगे कि तारे एक वृत्ताकार पथ पर चलते हैं। इस प्रयोग के लिए बच्चे एक ध्रुवीय पैमाना बनाते हैं जिसके लिए सामग्री किट कॉपी में दी गई है। यानी यह प्रयोग सचमुच हो पाए, इसकी पूरी व्यवस्था करने की कोशिश की गई है। प्रयोग के निर्देशों में हर बारीकी का ख्याल रखा गया है। ध्रुवीय पैमाना एक ऐसा उपकरण है जिसकी नोक को किसी भी तारे की ओर करके एक उर्ध्वाधर दिशा से उसका कोण पता किया जा सकता है। इसे भी एक-एक घंटे बाद दोहराना है। जब इस प्रयोग से यह पता चल जाए कि एक घंटे में कोई तारा कितने अंश धूमता है तो यह गणना करना है कि “इस तारे को ध्रुव तारे का एक पूरा चक्कर लगाने में लगभग कितना समय लगेगा?” और बात को एक तारे के संयोगवश अवलोकन पर न छोड़कर सलाह दी गई है कि “अच्छा हो कि तुम इस प्रयोग को किसी और तारे को चुनकर उसकी ध्रुव तारे के चारों ओर धूमने की गति भी साथ-साथ नापते जाओ।” शायद इस स्तर की पाठ्य पुस्तक में यह एकमात्र उदाहरण होगा जब तारों की गति की बात की गई है और वह भी सिर्फ पूर्व से पश्चिम की गति की नहीं बल्कि ध्रुव तारे के चारों ओर धूमने की बात है। यह निष्कर्ष निहायत सावधानी से लिए गए अवलोकनों से ही संभव है।

इन सब प्रयोगों के बाद सवाल यह है: “सूर्य, चंद्रमा व तारे सभी लगभग 24 घंटों में एक स्थान से चलकर उसी स्थान पर कैसे वापस आ जाते हैं?” इस सवाल का जवाब पाने के लिए मॉडल्स का सहारा लिया गया है।

एक नीबू और मोमबत्ती की मदद से सूर्य और पृथ्वी का मॉडल बनाया जाता है। इसकी मदद से बच्चे यह देख पाते हैं कि पृथ्वी पर कहीं रात, तो कहीं दिन हो सकता है और नीबू को अलग-अलग तरह से रखने पर दिन-रात की लंबाई बदली भी जा सकती है। इसके बाद आता है फैसले का क्षण।

बच्चों से कहा जाता है, “मॉडल में तो हमने देखा कि पृथ्वी के अपनी धुरी पर धूमने से दिन व रात हो सकते हैं, पर हमें लगता तो ऐसा है कि दिन व रात सूर्य के चक्कर काटने के कारण होते हैं। क्या यह संभव नहीं कि पृथ्वी के धूमने के कारण ही सूर्य चक्कर काटता लगता है?”

इस बात को समझने के लिए प्रयोग-6 में बच्चे से कहा गया है कि “एक कंसरे में खड़े होकर छत पर अपने सिर के ठीक ऊपर एक बिंदु पर नज़र रखते हुए धूमो !”

उन्हें देखना यह है कि जहां सारी चीजें चक्कर काटती नज़र आती हैं, वहीं एक बिंदु स्थिर नज़र आता है। अब “क्या यह संभव है कि सूर्य व तारे तो वास्तव में स्थिर हों और पृथ्वी के अपनी धुरी पर धूमने के कारण ये आकाश में चक्कर काटते नज़र आते हैं ?” (गौरतलब है कि इस वाक्य में चंद्रमा को छोड़ दिया गया है।) इसके आधार पर उन्हें विचार करना है कि “यदि सचमुच ऐसा है तो जिन दैनिक पथों पर सूर्य, चंद्रमा और तारे धूमते नज़र आते हैं, उनमें क्या समानताएं होंगी ? अपनी तर्क शक्ति और कल्पना के आधार पर नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दो।

“सूर्य, चंद्रमा और तारों के दैनिक पथों की आकृति कैसी दिखाई देगी - चौकोर, गोलाकार, सीधी रेखा, अण्डाकार या टेढ़ी-मेढ़ी ?

“इनके ये पथ एक-दूसरे को यहां-वहां काटेंगे, एक-दूसरे से दूर हटते जाएंगे या समांतर होंगे ?

“क्या तीनों को आकाश का पूरा चक्कर लगाने में लगभग बराबर समय लगेगा या किसी को कम किसी को अधिक ?”

इसके बाद सवाल है:

“यदि पृथ्वी वास्तव में अपनी धुरी पर धूम रही है तो क्या आकाश में सभी वस्तुएं चलतीं नज़र आएंगी ?”

अब उनका ध्यान प्रयोग-6 के स्थिर बिंदु की ओर दिलाया जाता है और पूछा जाता है कि “अब कल्पना करो कि तुम अपने पृथ्वी के मॉडल पर होशंगाबाद पर खड़े हो और पृथ्वी अपनी धुरी (सायकिल स्पोक) पर धूम रही है।

“तुम्हें ऊपर देखने पर कौन-सा बिंदु स्थिर दिखेगा ?

“क्या तुमने आकाश में कोई ऐसा तारा देखा था जो हमेशा स्थिर दिखता था ?

“ऐसे तारे और पृथ्वी की धुरी के बीच क्या सम्बंध होना चाहिए ?”

तो, “पृथ्वी पर खड़े-खड़े हमें ऐसा ही लगता है कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य, तारे व चंद्रमा उसके चारों ओर चक्कर काटते हैं। मॉडल और प्रयोग-6 के तर्कों के आधार पर लगता है कि हो सकता है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर धूमती हो और इसलिए बाकी सारी चीजें धूमती दिखती हों।

“सही निर्णय कैसे हो ?”

ज़रा कल्पना कीजिए कि मिडिल स्कूल की कक्षा 8 में बच्चे और शिक्षक मिलकर उन सवालों से जूझ रहे हैं जिन पर केपलर और कॉपरनिक्स जैसे खगोल शास्त्रियों ने विचार किया था। कक्षा में चल रही इस जद्दोजहद में बच्चों को यह फैसला करना है कि अवलोकन और तर्क के आधार पर किस बात को सही मानें। विज्ञान शिक्षा का उत्कर्ष कह सकते हैं इसे।

ब्रेख्ट के नाटक ‘लाइफ ऑफ गैलीलियो’ में एक दृश्य है। इसमें गैलीलियो एक बच्चे को कुर्सी पर बैठा देते हैं और बाजू में एक लैंप रख देते हैं। अब वे बच्चे को मय कुर्सी लैंप के इर्द-गिर्द गोल-गोल धूमाते हैं और अपनी बात समझाने की कोशिश करते हैं। उपरोक्त प्रयोग शृंखला को देखकर उस दृश्य की याद बरबस आ जाती है।

अध्याय इसके आगे बढ़ता है और बच्चे चांद और सूरज की गतियों की तुलना करते हैं, चंद्रमा की कलाओं को समझने का प्रयास एक और मॉडल की मदद से करते हैं, और अंत में एक गतिविधि के ज़रिए ग्रहण को समझने का प्रयास करते हैं। मगर वह अपेक्षाकृत सरल लगता है।

इन दो अध्यायों को करने में लगने वाले समय का अनुमान लगाना मुश्किल है। जैसे घर पर की जाने वाली कई क्रियाओं वगैरह के संदर्भ में यह कहना मुश्किल है कि उनमें कितना समय लगता है। मगर यदि हम यह मान लें कि रात को किए जाने वाले प्रयोगों को छोड़कर शेष प्रयोग स्कूल में ही किए जाएंगे तो छड़ी की धड़ी हर बार एक-एक दिन लेगी। स्कूल का समय या तो सुबह का होता है या दोपहर का। यह प्रयोग सुबह से लगभग शाम तक करना होता है। शुरुआती दौर की बात छोड़ दें, तो जो शिक्षक इस प्रयोग को करते थे, उन्होंने अपने अनुभव से यह तय कर लिया था कि इसे करीब 11 बजे शुरू करके 2 बजे तक करना पर्याप्त होता है, क्योंकि न्यूनतम लंबाई वाली छाया 12 बजे के आसपास मिल जाती है।

कक्षा 8 का अध्याय तो और भी व्यावहारिक समस्याएँ पैदा करता है। जैसे उसमें रात के प्रयोग करने होते हैं, तभी तो आप यह देख पाएंगे कि तारे ध्रुव तारे के आसपास चक्कर काटते हैं। आगे का पूरा तर्क इसी अवलोकन पर टिका है। सोलह स्कूल काल के शिक्षक बताते हैं कि उन्होंने ये प्रयोग चंदेक बार किए हैं। मगर उसके बाद जहां तक जानकारी है ये प्रयोग नहीं किए जाते थे। 1985 में पचमढ़ी में बाल वैज्ञानिक पुनर्लेखन सम्बंधी कार्यशाला में तो यह रिपोर्ट हुआ था कि अधिकांश स्कूलों में यह अध्याय छोड़ दिया जाता है। इसका एक बड़ा कारण यह बताया जाता है कि परीक्षां में इस अध्याय से सम्बंधित सवाल ही नहीं पूछे जाते थे। मोटे तौर पर लगता है कि व्यावहारिक समस्याओं के चलते यह अध्याय उपेक्षा का शिकार हुआ था। वैसे परीक्षा के दबाव ने कई अध्यायों के साथ खिलवाड़ किया।

मगर यह अध्याय बहस का एक महत्वपूर्ण मुद्दा रहा। आकाश की ओर में दोनों बातें थीं - व्यावहारिक दिक्कतें और अमूर्त सोच का उच्च स्तर। इस कारण से यह बताना सरल नहीं है कि यह अध्याय किस कारण से असंभव होता गया। स्कूलों से फीडबैक लगातार यह था कि यह अध्याय हो नहीं पाता। खुद हो.वि.शि.का. समूह में बहस जारी थी। 1983 अक्टूबर में इस अध्याय पर काफी बहस हुई थी।

विषयवस्तु के आधार बताते हुए अनिल सद्गोपाल ने बताया था कि बच्चों को अमूर्त चिंतन में जोड़ना एक उद्देश्य था “पर यह आकाश की ओर वाले अध्याय में बहुत ज़्यादा हो गया। 6-7 प्रयोगों के निष्कर्षों को जोड़ करके निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। इन सारे आंकड़ों को समझने के दो तरीके हैं। इनमें से एक सरल हल है, इसलिए बेहतर है। इसको समझाने में बहुत मुश्किल आई। इसके पीछे विज्ञान की समझ है कि जो सरल हल हो, वही अपेक्षाकृत बेहतर हल होगा। शिक्षकों को भी यह समझाने में काफी मुश्किल आई। इसमें मॉडल के आधार पर समझाने की तकनीक का उपयोग किया। दूसरे अध्यायों में भी इसका उपयोग किया गया है पर आकाश की ओर में यह असफल हो गई और पूरे अध्याय को ही निकाल देना पड़ा।” (कि.भा. बैठक अक्टूबर 1983)

मगर समूह के सब लोग सहमत नहीं थे। एक तो यही कहा गया कि “इस अध्याय का उद्देश्य मात्र इतना ही नहीं है कि बच्चे समझ जाएं कि पृथ्वी अपनी धुरी पर धूमती है। इसमें कई और चीज़ें हैं - जैसे चंद्रमा की कलाएं कैसे होती हैं, ग्रहण कैसे होते हैं? इसलिए यदि बच्चे अंत तक यह नहीं समझ सकते कि पृथ्वी अपनी धुरी पर धूमती है, तो यही एकमात्र कारण नहीं होना चाहिए अध्याय को निकालने का। यदि व्यावहारिक दिक्कतें हैं तो हमें उनको संशोधित करने का निर्णय लेना चाहिए।” (विजय वर्मा, कि.भा. बैठक 1983)

इस बात पर तो आम सहमति थी कि यह अध्याय है जीवनोपयोगी। यह भी मत उभरा कि यदि व्यावहारिक दिक्कतें न होतीं तो हम धीरे-धीरे इसके तर्कों को बच्चों के साथ संवाद के योग्य बना लेते। मगर दिन-दिन भर के प्रयोग, रात को किए जाने वाले प्रयोग वगैरह के कारण यह करना असंभव है।

अमूर्त चिंतन के स्तर को लेकर भी काफी बहस हुई - जैसे एक स्पष्ट मत था कि हमारे पास कोई स्पष्ट सबूत नहीं है कि यह 13-14 साल के बच्चे की मानसिक तैयारी से बाहर है। इसी से जुड़ी एक बात यह

भी उठी कि क्यां पाठ्यक्रम में उतनी ही बात रखी जाए जो उस कक्षा के हर बच्चे को आसानी से समझ में आ जाए। कहा यह जा रहा था कि चुनौती का भी कुछ पुट रहना चाहिए जिसे पाने के लिए बच्चे को जूझना पड़े।

इसके अलावा एक और महत्वपूर्ण बात उभरी थी। जब हम इस तरह की चुनौतीपूर्ण चीज़ें अपने पाठ्यक्रम में रखते हैं तो यह साफ होना चाहिए कि हम बच्चों से क्या अपेक्षा करते हैं। दरअसल यह बात एक सामान्य मुद्दे के रूप में भी सामने आई कि किसी भी मुश्किल अवधारणा को लेकर यह स्पष्टता ज़रूरी है।

जैसे एक अन्य अध्याय ‘संयोग और संभाविता’ को लेकर हुई चर्चाओं में भी यह मुद्दा उभरता है। संयोग और संभाविता में एक प्रयोग के अवलोकन से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। बहुत सारे अवलोकन लेकर उनको जोड़कर निष्कर्ष निकालना होता है। प्रयोग भी सिक्के उछाल-उछालकर टुकड़ों-टुकड़ों में होते हैं। इनसे प्राप्त चित्त-पट के आंकड़ों को स्तंभालेख के रूप में प्रस्तुत करने पर या औसत निकालने पर कुछ पैटर्न दिखते हैं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकालने होते हैं। और यह निष्कर्ष भी अगली बार सिक्का उछालने की घटना की भविष्यवाणी में कोई मदद नहीं करता, वह तो फिर भी संयोग बनी रहती है। इसलिए हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि बच्चों से हमारी अपेक्षा क्या है कि वे क्या सीखेंगे। यदि वे मोटा-मोटा एहसास बना लेते हैं, तो काफी है। जैसे यदि वे इतना ही बता पाएं कि चित्त-पट का कौन-सा पैटर्न मिलना मुश्किल है तो पर्याप्त है।

यह बात आजकल की परीक्षा आधारित शिक्षा व्यवस्था को शायद ही रास आए मगर पाठ्यक्रम के लचीलेपन की दृष्टि से निहायत ज़रूरी है। क्योंकि यह गुंजाइश होने पर ही पाठ्यक्रम में चुनौती का पहलू शामिल हो सकता है।

अलबत्ता जब बाल वैज्ञानिक में प्रथम संशोधन का वक्त आया तो 1985 में विषयवस्तु समूह ने संक्षिप्त-सा सुझाव दिया था: “(कक्षा 8 के) प्रयोग-5 को कक्षा 7 में डाला जाए। शेष अध्याय हटाएं।” प्रयोग-5 यानी तारामंडलों की गति।

यह कहना मुश्किल है कि यह सुझाव व्यावहारिक दिक्कतों का परिणाम था या अमूर्त चिंतन के स्तर के प्रति चिंता का। संभवतः जब, खासकर कक्षा 8 में, उपलब्ध समय और पाठ्यक्रम को पूरा करने में लगने वाले अनुमानित समय के बीच तालमेल बैठाने की बात आई तो यह अध्याय छंटाई के लिए सर्वमान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया।

मगर उस सिफारिश पर पूरी तरह अमल हुआ हो, ऐसा नहीं है। यह अध्याय हो.वि.शि.का. समूह के प्रिय अध्यायों में से रहा है - आखिर विज्ञान की विधि को खुलासा करने का इससे बेहतर अवसर कहां मिलेगा? यह वह विषय है जिसने काफी हद तक विज्ञान की विधि को परिभाषित करने का काम किया है। और यह विषय दैनिक जीवन में इस कदर रचा-बसा है, उसे प्रभावित करता है। इसकी विषयवस्तु ने वास्तव में मनुष्य की विश्व दृष्टि को प्रभावित किया है। अध्याय की जो संकल्पना की गई थी वह हो.वि.शि.का. के सोच को इतने सुंदर ढंग से साकार करती थी कि पाठ्यक्रम में इस अध्याय का एक विशेष स्थान था। इसमें विज्ञान की विधि के कई तत्त्व गुंथे हुए हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें करके सीखो अपने पूरे शबाब पर है। जानकारी न देने का महत्व भी इस अध्याय में साफ होता है। जानकारी न देना अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है बल्कि यह बच्चों को सोचने को प्रेरित करने का (शायद मजबूर करने का) एक तरीका है। इस अध्याय में हर मोड़ पर बच्चों को सोचने का काफी मसाला उपलब्ध है। हर सवाल एक पूरी विचार प्रक्रिया को शुरू कर सकता है। बाल वैज्ञानिक के सारे अध्यायों में यह बात देखने को मिलती है मगर ‘आकाश की ओर’ में यह अत्यंत सघन रूप में भौजूद है। शायद यह सघनता ही इस अध्याय की ‘समस्या’ बन गई।

1986 में जब संशोधन की प्रक्रिया वास्तव में शुरू हुई तो अंततः आकाश की ओर का जो स्वरूप उभरा वह निम्नानुसार था।

पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि दो अध्यायों को जोड़कर एक बना दिया गया और कक्षा 8 में रखा गया। मगर सबसे प्रमुख परिवर्तन यह नज़र आता है कि पूरा सैद्धांतिक ढांचा हटा दिया गया। यानी इस बात पर कोई प्रश्नोत्तर नहीं है कि कौन किसके आसपास घूमता है। अध्याय का पूरा ज़ोर अवलोकन पर है। शायद समझ यह रही कि इस समय बच्चों का ध्यान आकाश की कुछ प्रमुख बातों की ओर दिला दिया जाए। आगे जब भी वे इस विषय की सैद्धांतिक गवेषणा करेंगे तब ये अवलोकन उपयोगी बुनियाद साबित होंगे। इसके साथ ही इस अध्याय का वह पक्ष लगभग समाप्त हो गया जो बच्चों को सोचने को मजबूर करता था।

दूसरा बड़ा परिवर्तन यह किया गया कि रात को किए जाने वाले अधिकांश प्रयोग हटा दिए गए - सिर्फ तारामंडल की गति वाला प्रयोग गुणात्मक स्तर पर रखा गया।

पहले की ही तरह थोड़ी भूमिका व सवाल-जवाब के बाद छड़ी की छाया वाला प्रयोग किया जाता है। इसी प्रयोग को अगले दिन व दो सप्ताह बाद दोहराने का सुझाव दिया गया है।

इसके बाद बच्चों से यह देखने को कहा गया है कि सूर्य के उगने की दिशा भी बदलती रहती है। फिर सूर्य घड़ी बनाई जाती है।

इसके बाद चंद्रमा की गति सम्बंधी प्रयोग है। यह सामान्य अर्थों में प्रयोग तो नहीं कहा जा सकता; चंद्रमा के अस्त होने व उदय होने का समय नोट करना है। इसके आधार पर चंद्रमा व सूर्य की गति में अंतर को समझने की अपेक्षा है। वे इतना ही समझ पाएंगे कि दो सूर्योदय या दो सूर्यास्त के बीच और दो चंद्रोदय या दो चंद्रास्त के बीच की अवधि अलग-अलग होती है। इसे किसी मॉडल से नहीं जोड़ा गया है।

इसके बाद चंद्रमा की कलाएं व चंद्र ग्रहण को समझने के लिए वही गतिविधियां हैं और अंत में तारामंडलों की गति को देखने के लिए एक प्रयोग है जिसमें मात्र इतनी अपेक्षा है कि बच्चे ध्रुव तारे को संदर्भ बिंदु मानकर देख पाएंगे कि तारामंडल ध्रुव तारे के आसपास घूमते हैं, बस।

तो संशोधन में तीनों बातों - स्कूली परिस्थिति के साथ तालमेल, अमूर्त सोच के स्तर में कमी करना और अव्यावहारिक गतिविधियों को हटाना - को संबोधित किया गया लगता है।

इसके बाद के संशोधन में इस संशोधित अध्याय की दिक्कतें भी सामने आने लगी थीं मगर किसी वजह से इसे छुआ नहीं गया। अंतिम (अप्रकाशित) संस्करण में इसे वैसा ही रखा गया था। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि कोई कारगर वैकल्पिक ढांचा उभर नहीं पा रहा था। हालांकि इस दौरान कई बार कोशिश हुई कि इसका कोई वैकल्पिक रूप तैयार किया जाए मगर अन्यान्य कारणों से यह संभव नहीं हुआ।

एक अध्याय की जीवनी - पौधों का पोषण

यह तो कोई भी मानेगा कि पौधों के पोषण का सवाल जैव मंडल के अस्तित्व की दृष्टि से एक बुनियादी महत्व का विषय है। जीव विज्ञान के किसी भी पाठ्यक्रम में प्रकाश संश्लेषण पर कुछ न कुछ विषयवस्तु ज़रूर शामिल होती है। आम पाठ्य पुस्तकों में जिस ढंग से प्रकाश संश्लेषण की बात की जाती है वह लगभग वैसी ही होती है जैसे पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने या सूर्य की परिक्रमा करने की बात है।

कार्बन डाइऑक्साइड + पानी = कार्बोहाइड्रेट + ऑक्सीजन, यह समीकरण अपने में एक पूरा इतिहास छिपाए है। यह इतिहास सिर्फ जीव विज्ञान नहीं बल्कि रसायन शास्त्र की बुनियादी खोजों का इतिहास है। 400 सालों तक डाल-डाल, पात-पात के बाद हम समझ पाए हैं कि पौधों का पोषण कहां से व कैसे प्राप्त होता है। यह सही है कि यह इतिहास उस तरह की धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक सरगर्मियों का सबब नहीं बना जैसे पृथ्वी के घूमने की बात बनी थी मगर प्रकाश संश्लेषण के इतिहास में भी वैज्ञानिक विधि के विकास का उतना ही समृद्ध खजाना है।

हो.वि.शि.का. के परिप्रेक्ष्य में पौधों का पोषण एक चुनौती के रूप में है। प्रकाश संश्लेषण की पूरी बात को समझने (खोजने) के लिए जिस ढंग के प्रयोग, तर्क, अनुमान, कल्पना की छलांगों, अटकलों की ज़रूरत है वह बाल वैज्ञानिक के ढांचे में फिट नहीं बैठता। खासकर यदि इस परिप्रेक्ष्य को भात्र प्रयोगों के दायरे तक सीमित माना जाए। मगर उसमें जाने से पहले यह देखा जाए कि बाल वैज्ञानिक में पौधों के पोषण पर क्या शामिल किया गया है।

बाल वैज्ञानिक (1978) में यह विषय दो अध्यायों में बंटा है। एक है कक्षा 6 में ‘भोजन और पाचन क्रिया’ का खण्ड 5 और दूसरा है कक्षा 7 में अध्याय ‘पत्तियों में मंड और सूर्य का प्रकाश’। जैसा कि हम आगे देखेंगे इस अवधारणा को इस तरह दो भागों में बांटने के कारण न सिर्फ पौधों के पोषण का एक समग्र वित्र नहीं उभरता, वरन् गुमराह करने वाली कल्पना उभरती है।

पहले ‘पत्तियों में मंड और सूर्य का प्रकाश’ का मुआयना करें।

पत्तियों में मंड और सूर्य का प्रकाश

किसी वजह से इस अध्याय की शुरुआत पौधों की वृद्धि में बीजपत्रों की भूमिका से की गई है। इस बात को समझने के लिए बच्चे एक प्रयोग (प्रयोग-1) करते हैं जिसमें तीन ऐसे बीज बोए जाते हैं जिनमें बीजों का अंकुरण ऊपरीभूमिक (epigeal) होता है। इनके अंकुरित होने पर एक नवजात पौधे के दोनों बीजपत्र साबुत रखे जाते हैं, दूसरे का एक बीजपत्र काट दिया जाता है और तीसरे के दोनों बीजपत्र काट दिए जाते हैं। फिर सात दिनों तक इन तीनों की वृद्धि की तुलना की जाती है।

अब उन्हें कक्षा 6 के अध्याय ‘बीज और उनका समूहीकरण’ के आधार पर याद दिलाया जाता है कि बीजपत्रों में मंड के रूप में भोजन होता है और यह निष्कर्ष निकालने को ठेला जाता है कि नवजात पौधे अपनी वृद्धि के लिए बीजपत्रों से भोजन प्राप्त करते हैं।

इसके बाद सवाल यह उठाया जाता है कि “‘बीजपत्रों के कुम्हलाकर गिर जाने के बाद पौधा भोजन कहां से व कैसे प्राप्त करता होगा?’”

(यहां गौरतलब है कि सारे बीजों के बीजपत्रों में भोजन मंड के रूप में नहीं होता - कई बार यह वसा के रूप में होता है। पहले ‘बीज और उनका समूहीकरण’ (कक्षा 6) में यह गलत निष्कर्ष निकाला जा चुका था कि अंकुर का भोजन मंड के रूप में ही होता है। यहां उठाया गया सवाल उस निष्कर्ष को पुष्ट करता है तथा एक और भ्रम पैदा करता है कि बीजपत्रों में ही भोजन होता है और पोषण के लिए शायद बीजपत्रों का ज़मीन से ऊपर आना ज़रूरी है। गौरतलब है कि कई बीजों में भोजन भ्रूणपोष में होता है।)

बगैर किसी भूमिका के बच्चे प्रयोग-2 के द्वारा इस सवाल का जवाब खोजने में भिड़ जाते हैं। इस प्रयोग में वे तरह-तरह की पत्तियां लाकर, उनमें से हरा रंग हटाकर आयोडीन की मदद से देखते हैं कि पत्तियों में मंड होता है। इसी प्रयोग को वे पत्तियों पर काला कागज़ लगाकर फिर से दोहराते हैं (प्रयोग-3) और देखते हैं कि पत्ती के जिस भाग पर धूप नहीं पड़ती वहां मंड नहीं पाया जाता।

मगर प्रयोग 3 से पहले सवाल यह रखा गया है कि “क्या यह संभव है कि मंड पत्तियों में बनता हो? अगर हाँ, तो किस प्रकार से?”

यहां वैज्ञानिक तर्क को गच्छा दे दिया गया है। उक्त सवाल का जवाब पाने के लिए काले कागज़ वाला प्रयोग कैसे मदद करेगा? यदि पत्तियों में मंड का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वह वहीं बना है तो प्रयोग-3 करने की कोई ज़रूरत नहीं है। प्रयोग-3 से तो इस सवाल का जवाब मिलने से रहा। इससे तो यह पता चल सकता है कि मंड का धूप से क्या सम्बंध है। और यहां प्रयोग में तुलना के प्रावधान को भी धृता बता दी गई है। क्या पता कागज़ लगाने भर से ही मंड पर असर पड़ता हो या बबूल के कांटे लगाने से पड़ता हो?

खैर इन बातों को भूल भी जाएं तो प्रयोग-3 करने के बाद आप मात्र इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि धूप न पड़े तो पत्ती के उस भाग में मंड नहीं मिलता। इससे कैसे साबित होता है कि मंड वहीं बनता है?

इस प्रयोग के बाद जो सवाल पूछे गए हैं वे उद्घरित करने योग्य हैं:

“पत्ती में मंड की उपस्थिति और सूर्य के प्रकाश के बीच क्या सम्बंध है?

“क्या यह कहना ठीक होगा कि पत्तियों में मंड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश ज़रूरी है?”

इनसे पता चलता है कि अध्याय के रचयिता भी जानते थे कि प्रयोग-3 से यह पता नहीं चल सकता कि मंड वहीं (यानी पत्तियों में ही) बनता है।

वैसे भी ये प्रश्न बच्चों को जिस ढंग से एक उत्तर की ओर धकेलते हैं वह बाल वैज्ञानिक की परिपाटी के अनुरूप नहीं लगता। इसलिए परिपाटी से हटकर यहां बाल वैज्ञानिक में जानकारी दी गई है: “तुमने ऊपर पता किया कि पत्तियों में मंड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने ऐसे प्रयोग किए हैं जिनसे यह भी पता चला है कि सारे जीवजगत में केवल हरी पत्तियां ही मंड बना सकती हैं। पत्तियों के हरे रंग वाले पदार्थ के बिना मंड नहीं बन सकता। मगर ऐसे प्रयोग तुम्हारी कक्षा में करना संभव नहीं है।”

यहां शायद बेहतर होता कि ‘वैज्ञानिकों’ द्वारा किए गए उन प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत किया जाता। मगर बच्चों को वैज्ञानिकों की धाक को भरोसे छोड़ दिया गया है। इस कारण से यह जानकारी अध्याय के ताने-बाने में गुंथी होने की बजाय एक पैबंद जैसी लगती है।

इसके आगे भोजन शृंखला से सम्बंधित चर्चा है।

आज देखने पर लगता है कि यह अध्याय एक ‘छद्म प्रयोग-आधारित’ अध्याय का नमूना है। हरे रंग के पदार्थ की भूमिका को चितकबरी पत्तियों (क्रोटन) से आसानी से उभारा जा सकता था। इसी प्रकार रो पौधों के पोषण का एक प्रमुख हिस्सा पानी है जिसे इस अध्याय में छुआ तक नहीं गया है। दरअसल उस बात को कक्षा 6 के अध्याय ‘भोजन और पाचन क्रिया’ के एक खण्ड के रूप में दिया गया है।

भोजन और पाचन क्रिया - खण्ड 5

कक्षा 6 के इस अध्याय में प्रयोग-5 (ठहनियों को रंगीन पानी में रखकर पानी का चढ़ना देखना) के ज़रिए में बच्चे यह सीखते हैं कि पौधे अपना भोजन जड़ों के माध्यम से लेते हैं। इस प्रयोग को करने से

पहले उनके सामने निम्नलिखित सवाल रखे गए थे:

“आओ सोचें कि यदि पौधे भोजन लेते हैं तो वह कहां से आता है और किस रूप में होता है?”

“यदि किसी पेड़ की जड़ें काट दी जाएं तो क्या वह ज़िन्दा रहेगा?” वगैरह।

इन सवालों का उत्तर खोजते हुए वे प्रयोग-5 में देखते हैं कि पौधों में पानी जड़ों में से होता हुआ तने व पत्तियों तक पहुंचता है। इससे वे क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? वे शायद यही निष्कर्ष निकालेंगे कि पौधों को भोजन मिट्टी से पानी के ज़रिए मिलता है। और निम्नलिखित प्रश्न उनकी इस बात को पुरखा करने का काम करेगा:

“यह पदार्थ (आशय यूरिया से है) तो किसान जमीन पर छिड़कते हैं। फिर इसका असर पत्तियों पर कैसे हो जाता है?”

कक्षा 6 में परजीवी पौधों की चर्चा भी की गई है और उसमें भी जड़ों पर ध्यान दिलाया गया है।

कहने का मतलब है कि कक्षा 6 में लगता है कि पौधों को उनका भोजन जड़ों से मिलता है, कक्षा 7 में पत्तियां मंड बनाती हैं मगर पौधों के पोषण का एक समग्र चित्र नहीं उभरता।

1987 संस्करण

अगले संस्करण में इस बिखराव की समस्या को संबोधित किया गया था और कक्षा 6 व 7 के अध्यायों के सम्बंधित हिस्सों को जोड़कर एक अध्याय ‘पौधों में पोषण’ तैयार किया गया था। इसकी सिफारिश बाल वैज्ञानिक पुनर्लेखन कार्यशाला (पचमढ़ी 1985) में भी की गई थी:

“1. छठी कक्षा से ‘भोजन और पाचन किया’ का अंतिम भाग इस पाठ (पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश) के साथ जोड़ा जाए और पौधों में पोषण पर एक नया अध्याय बन जाएगा। इसका क्रम: (क) पौधे में पानी व लवणों का चढ़ना, (ख) बीजपत्र में मण्ड, (ग) प्रकाश की मदद से भोजन संश्लेषण और (घ) परजीवी पौधों के बारे में।

2. अल्कोहल प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए। (इस अध्याय का प्रमुख प्रयोग है जिसमें पत्तियों में मण्ड परीक्षण करने से पहले अल्कोहल की मदद से हरा रंग हटाना होता है। सरकारी नियमों के चलते अल्कोहल मिलना एक कठिनाई है।)

3. केवल हरी पत्तियों में मण्ड बनता है इस कथन की पुष्टि के लिए क्या चितकबरी पत्तियों पर इस प्रयोग को दोहराया जा सकता है?

4. भोजन शृंखला के लिए एक सरल शृंखला का उदाहरण भी देना चाहिए।

5. लोक विज्ञान संघटना के पास से भोजन शृंखला पर आधारित खेल मिल सकता है, जो कि पूरक सामग्री के रूप में दिया जा सकता है।”

जाहिर है कि अध्याय के अवधारणात्मक ढांचे पर कोई सवाल नहीं था। यह सवाल भी शायद नहीं उठा था कि क्या यह अध्याय अंततः बच्चों को यह समझने में मदद करता है कि पौधे अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। पानी वगैरह तो कच्चे माल हैं। लिहाजा इन सिफारिशों के आधार पर जो अध्याय तैयार हुआ वह मूलतः दो अध्यायों में बंटी सामग्री को एक अध्याय में जोड़ने का लक्ष्य ही पूरा करता है।

1987 में तैयार अध्याय का खाका इस तरह है। अध्याय की शुरुआत इस सवाल से होती है कि “आओ इस बात का पता लगाएं कि पेड़-पौधे पोषण करते हैं या नहीं। यदि करते हैं तो किस रूप में?”

इसके बाद प्रयोग-1 में पौधों में पानी चढ़ने में जड़ों की भूमिका पर विचार किया है।

इस प्रयोग को करके यह उम्मीद की जाती है कि बच्चे यह समझ पाएंगे कि “तुमने उपरोक्त प्रयोग और

द्वितीय प्रारूप
यूरिया वाली जानकारी से मालूम किया कि पौधे ज़मीन से जड़ों के द्वारा पानी एवं उसमें घुले अन्य पोषक पदार्थ लेते हैं।”

इसके बाद सवाल यह पूछा जाता है : “क्या पौधों का पोषण पानी तथा पानी में घुले पोषक पदार्थ ही हैं या कुछ और?”

यह सवाल एक तरह से कहता है कि पानी एक पोषक पदार्थ है। अभी भी बच्चे यही खोज रहे हैं कि पौधे पोषण लेते हैं। स्वपोषी होने की बात का नामोनिशान नहीं है।

इस सवाल का जवाब खोजने के लिए अल्कोहल की मदद से पत्तियों का हरा रंग हटाकर मण्ड परीक्षण किया जाता है। (वैसे यह फीडबैक लगातार मिल रहा था कि अल्कोहल की उपलब्धता एक बड़ी समस्या है और इस कारण से यह प्रयोग स्कूलों में होता नहीं है। जैसे एक स्कूल में एक शिक्षिका ने इस प्रयोग को करने के लिए कलारी से एक पव्वा शराब मंगवाकर कोशिश की थी मगर ऐसे अपवाद इक्के-दुक्के ही होंगे।)

जब इस प्रयोग में पत्ती में मण्ड मिल जाता है तो सवाल यह उठता है : “क्या यह संभव है कि मण्ड पत्ती में ही बनता हो? अगर हां, तो किस प्रकार से?”

देखा जाए तो इस सवाल का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि यही सवाल आप आलू के बारे में भी पूछ सकते हैं। मगर ज्यादा हैरतअंगेज़ बात तो यह है कि इस सवाल का जवाब खोजने के लिए जो प्रयोग किया जाता है वह सर्वथा अनुपयुक्त है। वही पत्तियों पर काला कागज़ लगाकर मण्ड परीक्षण करने वाला प्रयोग। जहां काला कागज़ होता है वहां मण्ड नहीं मिलता। यह कहना मुश्किल है कि इस प्रयोग से यह कैसे सिद्ध होता है कि मण्ड का निर्माण पत्ती में ही हुआ है। और बच्चों को बताया जाता है कि “ऊपर तुमने पता किया है कि पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है।” शुरू में सवाल यह था कि “क्या यह संभव है कि मण्ड पत्ती में ही बनता हो? अगर हां, तो किस प्रकार से?” और जवाब यह मिला कि “पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है।” यहां एक तार्किक छलांग लगाई गई है।

इसके बाद बच्चों को यह भी बताया जाता है कि “सारे जीवजगत में केवल पौधों के हरे भाग ही मण्ड बना सकते हैं।” और फिर यह महत्वपूर्ण सवाल पूछा जाता है : “क्या अब तुम बता सकते हो कि पौधों एवं जंतुओं के पोषण में क्या अंतर है?” क्या जवाब देंगे बच्चे?

और फिर हम परजीवी पौधों पर चले जाते हैं। यानी पौधों के पोषण की इतनी ज़रूरी अवधारणा को बहुत सस्ते में निपटा दिया गया है। पूरे अध्याय को पढ़ने (करने) के बाद भी बच्चे शायद यही मानेंगे कि पौधों का पोषण एक तो जड़ों से मिलता है पानी व घुलित पदार्थों के रूप में और दूसरे पत्तियां मण्ड बना लेती हैं। इनका आपस में कोई सम्बन्ध भी है, यह बात तो कहीं उभरती ही नहीं।

कुल मिलाकर देखा जाए तो यह अध्याय ‘करके सीखो’ की रुद्धि का शिकार हुआ है। शायद यह बात सभी लोग जानते हैं कि पौधों का पोषण एक जटिल मसला है और इसे समझने के लिए एक-दो प्रयोग से काम नहीं चल सकता। वारस्तव में पौधों के पोषण की समझ बनाने में कई बरस लगे थे और कई धाराओं से जानकारी का योगदान रहा है। और सबसे बड़ी बात तो यह रही कि इसकी समझ बनाने में समझदार अटकलों की अहम भूमिका रही है। इन सबको दो प्रयोगों में समेट देने से बात नहीं बनती।

दरअसल प्रकाश संश्लेषण का विषय वैज्ञानिक विधि के विभिन्न आयांमों को उभारने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करता है। लेकिन यह मात्र ‘प्रयोग आधारित खोजबीन’ के हत्थे नहीं चढ़ता।

तीसरा प्रयास

बच्चों के साथ पौधों के पोषण की खोजबीन का तीसरा प्रयास एकदम अलग ढंग का था। इसमें दो प्रमुख विशेषताएं थीं। इसमें यह कोशिश नहीं की गई थी कि कक्षा में किए गए प्रयोगों से ही बच्चों के सामने

पौधों के पोषण सम्बन्धी सारे सवालों के जवाब उभर आएं। दूसरा, इसमें पौधों के पोषण की समस्या को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया था।

अध्याय में खोजबीन के लिए सवाल यह रखा गया था: “ये पेड़-पौधे बिना खाए-पीए इतने बड़े कैसे हो जाते हैं? इतना गेहूं, भूसा और फल कहां से आते हैं? जमीन में डाले गए पानी से या किर हवा से?”

बच्चों के सामने इस सवाल का जवाब खोजने की ऐतिहासिक प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया जाता है और हर मोड़ पर उनसे उम्मीद की जाती है कि वे इतिहास के हर पड़ाव पर उपलब्ध जानकारी के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों पर विचार करें। यह भी आभास दिया जाता है कि हर समय उपलब्ध जानकारी के आधार पर सीमित निष्कर्ष ही निकाले जा सकते हैं। जैसे शुरू में फॉन हेल्मॉन्ट द्वारा किए पांच साल के प्रयोग के बाद सवाल यह पूछा गया है:

“इस प्रयोग के आधार पर तुम क्या निष्कर्ष निकालोगे? पौधे की वृद्धि के लिए सारा पदार्थ मिट्टी से आया होगा, क्या ऐसा मानना सही होगा? अपने उत्तर का कारण भी बताओ।”

और,

“तुम्हारा निष्कर्ष जो भी हो मगर फॉन हेल्मॉन्ट ने दो निष्कर्ष निकाले थे:

1. पौधों की वृद्धि के लिए पदार्थ मिट्टी से नहीं आता।
2. पौधे की वृद्धि उसे मिलने वाले पानी से होती है।

क्या हेल्मॉन्ट की बातें पूरी तरह सही हैं? इसका पता तुम्हें आगे चलेगा।”

विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि इस मामले में जानकारी सिर्फ उन प्रयोगों से प्राप्त नहीं हुई थी जो इस उद्देश्य के लिए किए गए थे। कई असम्बन्धित से दिखने वाले तथा अन्य उद्देश्यों से किए गए प्रयोगों से भी इसमें योगदान मिला था। जैसे,

“सन 1771 में जोसेफ प्रिस्टले द्वारा किए गए प्रयोगों से इस मामले में कई नई जानकारियां मिलीं। वैसे प्रिस्टले ने ये प्रयोग पौधों के पोषण को समझने के उद्देश्य से नहीं किए थे। वह वास्तव में हवा में उपस्थित गैसों के बारे में जानना चाहता था।”

यह भी साफ होता चलता है कि कई बार वैज्ञानिकों को अपनी कल्पना शक्ति का भी सहारा लेना पड़ा था। जैसे प्रिस्टले के प्रयोग के विवरण के बाद बताया गया है कि “इन प्रयोगों ने प्रिस्टले को उलझन में डाल दिया। दुनिया में इतने सारे जंतु हैं। दुनिया में इतनी सारी आग भी जलती रहती है। प्रिस्टले ने सोचा कि किर क्यों पूरी दुनिया की हवा अशुद्ध नहीं हो जाती।”

इस विवरण के साथ-साथ बच्चे ऐसे कुछ ऐतिहासिक प्रयोगों को थोड़े परिवर्तित रूप में दोहराते भी हैं। इससे न सिर्फ चर्चा में मदद मिलती है बल्कि एक एहसास भी बनता है कि कितने सरल प्रयोगों से कितने गहरे व व्यापक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

इस तरह पौधों के पोषण में पानी व कार्बन डाईऑक्साइड से सूर्य के प्रकाश व क्लोरोफिल की उपस्थिति में मण्ड बनने तक की बात हो जाने के बाद जड़ से पानी सोखने का प्रयोग और पत्तियों से हवा के लेन-देन की बात की गई है। प्रकाश संश्लेषण में प्रकाश की भूमिका सम्बन्धी प्रयोग का विवरण देकर चर्चा का प्रावधान ही रखा गया है। इस प्रयोग को करने की व्यावहारिक कठिनाइयों को देखते हुए इसे करवाने की बात छोड़ दी गई है। मगर प्रकाश की भूमिका को समझने के लिए बच्चे एक प्रयोग परोक्ष ढंग से ज़रूर करते हैं।

इस प्रयोग में एक जलीय पौधे से बनी ऑक्सीजन इकट्ठी की जाती है। बच्चे यह देख चुके हैं कि यदि पौधे को अंधेरे में रख दिया जाए तो ऑक्सीजन के बुलबुले बनना बंद हो जाते हैं। अर्थात् यदि ऑक्सीजन

द्वितीय प्रारूप

बनने को प्रकाश संश्लेषण का द्योतक मान लिया जाए तो बच्चे यह देख चुके हैं कि अंधेरे में प्रकाश संश्लेषण नहीं होता। वैसे इस बात को इस ढंग से कहा नहीं गया है मगर प्रकाश संश्लेषण के अध्ययन में ऑक्सीजन का बनना और कार्बन डाइऑक्साइड की खपत को प्रॉक्सी के रूप में उपयोग किया जाता है।

और अंत में भोजन शृंखला की बात होती है, मगर यह स्पष्ट करने के बाद कि पौधे स्वयं अपना भोजन बनाने के अलावा जंतुओं के लिए भी भोजन मुहैया कराते हैं।

अध्याय में वैज्ञानिकों के कामकाज की ओर इशारा भी किया गया है, जैसे, “जब कोई इतना महत्वपूर्ण प्रयोग होता है तो अन्य वैज्ञानिक उसे खुद करके देखते हैं।....पूरे मामले की बारीकी से छानबीन करने का काम एक अन्य वैज्ञानिक ने किया।”

वैसे यह अध्याय सन 2000 के संस्करण में शामिल किया गया था और इसे कक्षा में कराने का कोई फीडबैक उपलब्ध नहीं है।

एक अध्याय की जीवनी: बल और भार

यह एक और अध्याय है जिसमें समय के साथ भारी परिवर्तन हुए हैं। लाल वैज्ञानिक ने लेकर तृतीय संस्करण तक इस अध्याय के विभिन्न स्वरूपों को देखना दिलचस्प होगा।

लाल वैज्ञानिक में ‘बल और भार’ तथा ‘भार और तुला’ नामक दो अध्यायों में ये अवधारणाएं फैली हुई थीं और कई सारी गतिविधियों व प्रयोगों के माध्यम से बल की अवधारणा उभारी जाती थी तथा भार का मापन किया जाता था।

अध्याय की शुरुआत खींचने व धकेलने के रूप में बल के एहसास से होती थी। एक स्प्रिंग को दबाकर और खींचकर महसूस करते हैं तथा उस पर ईंट रखकर देखते हैं। बल को दो वस्तुओं के बीच पारस्परिक क्रिया के रूप में परिभाषित किया गया था। इसके बाद दो अलग-अलग श्यानता के द्रवों को हिलाने, एक रबर नली पर कोई आकृति बनाकर रबर नली को मोड़ने से उस आकृति में होने वाले परिवर्तन, सायकिल पंप के पिस्टन को दबाने पर लगने वाले बल, कांच की दो सूखी पट्टियों तथा गीली पट्टियों के बीच लगने वाले बल वगैरह का एहसास कराया जाता था।

इसके बाद बगैर छुए लगने वाले बल का एहसास कराने के लिए लोहे व चुंबक तथा दो चुंबकों के बीच परस्पर क्रिया देखी जाती थी।

भार को भी एक बल के रूप में परिभाषित करने के बाद बल की इकाइयों की चर्चा होती थी और विभिन्न परिमाण में लग रहे बल का अनुमान कराया जाता था। इसके लिए पहले स्प्रिंग तुला से एक इकाई बल का एहसास कराया जाता है और फिर वस्तुओं को हथेली पर रखकर उनके द्वारा लगने वाले बल का अनुमान करने को कहा जाता है। यहां भार को इस रूप में परिभाषित किया गया है कि किसी वस्तु द्वारा नीचे की ओर लगने वाले बल को ही उसका भार कहते हैं।

इसके बाद एक गतिविधि थी जिसमें कई गुटकों के वजन व आयतन निकाले जाते हैं और यह देखा जाता है कि किसी पदार्थ के एक इकाई आयतन का वजन निश्चित होता है। गौरतलब है कि इसे घनत्व नहीं कहा गया है।

यहां एक मज़ेदार सवाल पूछा गया है जिसका सम्बंध आयतन के संरक्षण से भी है और गणना से भी।

“नीचे दी हुई समस्या पर विचार करो:

एक एल्युमिनियम का गुटका 5 से.मी. लंबा है और उसकी चौड़ाई व ऊँचाई दोनों ही एक से.मी. है। इस गुटके का भार कितना होगा?

मान लो कि किसी मशीन द्वारा इस गुटके का एक पेंच बना दिया जाता है। पेंच का भार 8 ग्राम-बल है। इसका आयतन कितना होगा?

पेंच बनाते समय जो छीलन निकली होगी, उसका भार व आयतन कितना होगा?”

अंत में द्रवों का भार ज्ञात करने की गतिविधियां हैं।

यानी कुल मिलाकर यह अध्याय बल व भार के गुणात्मक व मात्रात्मक एहसास देने पर केंद्रित है। कहीं भी बल की परिभाषा नहीं दी गई है।

भार से सम्बंधित अगला अध्याय है ‘भार और तुला’। इसमें मुख्य रूप से स्प्रिंग व उत्तोलक की मदद से भार का मापन करने की चर्चा है। मगर स्प्रिंग के साथ कई जटिल गतिविधियां भी शामिल की गई हैं।

सबसे पहले एक तार को लपेटकर एक स्प्रिंग बनाई जाती है और उस पर अलग-अलग ज्ञात वजन लटकाकर लंबाई में होने वाले परिवर्तन को देखा जाता है। इन लंबाइयों का एक पट्टी-चित्र बना लेते

हैं। यहां एक सवाल यह पूछा गया है कि क्या तांबे व लोहे की स्प्रिंग एक-सा व्यवहार करेंगी।

इसके बाद स्प्रिंग के साथ कुछ और प्रयोग किए जाते हैं। जैसे दो स्प्रिंग को श्रेणी में तथा समांतर जोड़कर यह देखने का प्रयास होता है कि वज्ञन लटकाने से उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। जैसे श्रेणी क्रम में लटकी स्प्रिंग में यह देखने का प्रयास होता है कि क्या वज्ञन लटकाने पर उसका प्रभाव दोनों स्प्रिंग पर बराबर बंटता है। यानी क्या दोनों स्प्रिंगों की लंबाई में बराबर वृद्धि होती है। इसी प्रकार से दो स्प्रिंगों को समांतर जोड़ने पर

“दोनों स्प्रिंग की लंबाई में होने वाले विस्तार को लिखो।

दो स्प्रिंगों में फंसी पेंसिल से कितने भार का वज्ञन लटकाया जाए कि उनकी लंबाई में उतना ही विस्तार हो जितना कि अकेली स्प्रिंग से 150 ग्राम-बल का भार लटकाने से हुआ था?

इस प्रयोग को स्वयं करो और देखो कि तुम्हारा अनुमान कितना सही है।”

एक स्प्रिंग तुला बनाने के बाद उत्तोलक की गतिविधियां शुरू होती हैं।

उत्तोलक की गतिविधि में मूलतः संतुलन का सिद्धांत खोजने का प्रयास है। एक पैमाने पर अलग-अलग दूरियों पर कुछ वज्ञन रखकर पैमाने को संतुलित किया जाता है और एक तालिका में वज्ञन व दूरी के आंकड़े भर लिए जाते हैं। मगर इन आंकड़ों से आगे कोई गणना नहीं की जाती। अंत में निष्कर्ष स्पष्ट शब्दों में बताया गया है:

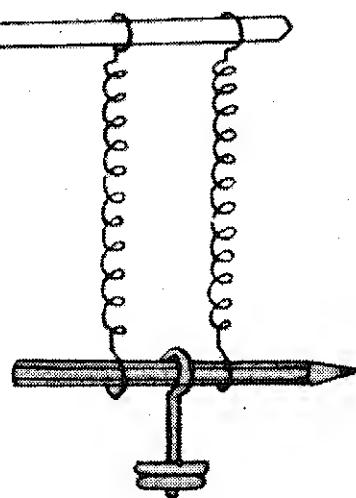
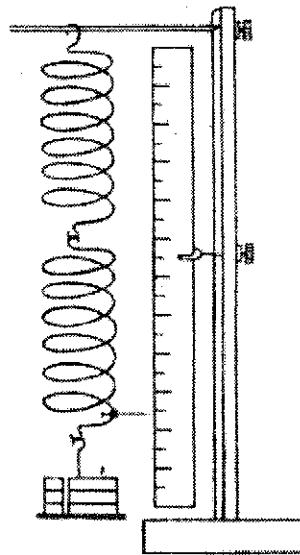
“इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब पैमाना क्षेत्रिज हो तो बाईं ओर रखी चकतियों की संख्या और उनकी आधार रेखा से दूरी का गुणनफल आधार के दाईं ओर रखी चकतियों की संख्या और उनकी आधार रेखा से दूरी के गुणनफल के बराबर होता है।”

इसके बाद सामान्य तुला से परिचय कराया गया है।

गृह कार्य के रूप में काफी सारे प्रयोग करने को दिए गए हैं।

इस अध्याय की एक विशेषता तो यह थी कि इसमें कई सारे प्रयोग ऐसे भी थे जो शायद छोड़ भी दिए जाते तो काम चल जाता। जैसे दो स्प्रिंग वाले प्रयोग बल की बुनियादी समझ के लिए बहुत ज़रूरी नहीं हैं।

अध्याय की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें प्रयोग/गतिविधि करने के बाद निष्कर्ष बता देने से कोई परहेज नहीं है। दरअसल लाल वैज्ञानिक में यह ज़ोर बिलकुल भी नहीं था। कई जगहों पर निष्कर्ष बताए गए हैं, कई जगहों पर तो प्रयोग के आधार पर उस निष्कर्ष तक पहुंचने की पूरी प्रक्रिया भी नहीं बताई गई है। जैसा कि उपरोक्त उदाहरण में है - यहां गुणनफल निकालने की बात तक नहीं की गई है। अलबत्ता कहीं-कहीं थोड़ा इशारा प्रक्रिया की ओर भी है। जैसे एल्युमिनियम के विभिन्न आकार के गुटकों का वज्ञन और आयतन निकालने के बाद बच्चों से कहा जाता है कि वे गुटके के एक से.मी.³ पदार्थ का वज्ञन पता करें। इसके आधार पर उन्हें बताया जाता है:



“अब तुम्हें स्पष्ट हो गया होगा कि किसी पदार्थ के इकाई आयतन का भार सदा वही रहता है, चाहे गणना के लिए उस पदार्थ की बनी बड़े आकार की वस्तु को चुना जाए या छोटे आकार की वस्तु को।”

ऐसा लगता है कि निष्कर्ष बिलकुल न देने की प्रथा होशंगाबाद की खास देन है। यह फैसला शायद 16 स्कूलों में कार्यक्रम के अनुभव का परिणाम रहा होगा। खैर, इसी अध्याय का स्वरूप प्रथम संस्करण (1978) में देखते हैं।

प्रथम संस्करण

प्रथम संस्करण में एक बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ था कि बल और भार को तो कक्षा 6 में रखा गया था मगर तुला तथा संतुलन का सिद्धांत कक्षा 7 में स्थानांतरित कर दिए गए थे।

लाल वैज्ञानिक के मुकाबले 1978 के संस्करण का अध्याय बहुत सरल लगता है।

यहां एक अंतर यह नज़र आता है कि बल का एहसास देने के लिए दैनिक जीवन के उदाहरणों का सहारा लिया गया है - गल्ले की बोरी उठाना, कुएं से पानी खींचना, हाथ ठेला चलाना वगैरह। इसके बाद दो चुंबकों के बीच लगने वाला बल, सायकिल पंप के पिस्टन को दबाने पर लगने वाला बल, सूखी व गीली कांच की पट्टियों के बीच लगने वाला बल, चुंबक व लोहे के बीच लगने वाला बल, भार से सम्बंधित प्रयोग किए जाते हैं। वैसे लाल वैज्ञानिक के ही प्रयोग इस अध्याय में भी रहे। अलबत्ता कुछ प्रयोग छोड़ दिए गए थे: स्प्रिंग दबाना-खींचना, स्प्रिंग पर वज़न लटकाकर लंबाई में वृद्धि देखना, इकाई आयतन में वस्तु का भार ज्ञात करना, और द्रव का भार ज्ञात करना।

बल को खिंचाव, धक्के वगैरह एहसास के रूप में ही परिभाषित किया गया है; बल के द्वारा आकृति में बदलाव की बात को छोड़ दिया गया है। बल और भार के अनुमान के भी काफी सारे प्रयोग व प्रश्न हैं। मगर 1978 का अध्याय अपेक्षाकृत सरलता का आभास देता है। जैसा कि पहले कहा गया भार के मापन वाला अध्याय कक्षा 7 में तराजू का सिद्धांत के नाम से रखा गया था जिसमें भार के मापन की बजाय संतुलन का सिद्धांत खोजने पर ज्यादा ज़ोर रहा। उस अध्याय में बच्चे खुद के तराजू व बांट बनाते हैं और उनसे प्रयोग करके संतुलन के सिद्धांत तक पहुंचने का प्रयास करते हैं। अलबत्ता उस अध्याय की विस्तृत चर्चा यहां नहीं की जा रही है।

द्वितीय संस्करण

द्वितीय संस्करण (1987) में इस अध्याय में कई परिवर्तन हुए थे। जैसे बल का एहसास देने के लिए गल्ले की बोरी और हाथ ठेले का स्थान कबड्डी के खेल ने ले लिया। मगर अध्याय की भूमिका से ही बल की एक औपचारिक शुरुआत होने लगती है:

“चुंबकों के आकर्षण और विकर्षण बल का मज़ा तुमने चुंबक के अध्याय में लिया। फलों को पेड़ से नीचे गिरते हुए भी तुमने देखा होगा। पृथकी के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण चीज़ें ज़मीन की ओर गिरती हैं। खेलते समय तुमने देखा होगा कि गिल्ली या गेंद को दूर फेंकने में या कबड्डी में खिलाड़ी को पकड़ने में बल का उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार तरह-तरह के बल होते हैं - चुंबकीय, गुरुत्वाकर्षण, मनुष्य द्वारा लगाया हुआ आदि।”

अध्याय में बल की सामान्य समझ को मानकर चला जाता है। खंड ‘बल क्या है’ के अंतर्गत बल को परिभाषित करने की कोशिश करने की बजाय कहा गया है, “तुमने देखा होगा कि जब किसी गेंद या गिल्ली को एक जगह से दूसरी ओर चलाना हो तो हमें ज़ोर या बल लगाना पड़ता है।” यानी बच्चे जानते ही हैं कि बल क्या होता है।

इसके बाद पंजा लङ्घने की गतिविधि के माध्यम से बल की दिशा की बात उठाई जाती है, दो चुंबकों तथा एक चुंबक व लोहे की क्रिया के माध्यम से बगैर छुए लगने वाले बल की बात करने के बाद गुरुत्वाकर्षण की बात की जाती है और भार का एहसास कराया जाता है। अंत में एक रबर बैंड पर वजन लटकाकर उसकी लंबाई में वृद्धि को देखा जाता है तथा भार की इकाइयां बताई जाती हैं।

1987 के अध्याय में न सिर्फ निष्कर्ष देने बल्कि व्याख्याएं करने के प्रयास भी किए गए थे। जैसे चुंबक व लोहे के प्रयोग करने के बाद बच्चों को बता दिया जाता है:

“तुमने देखा कि चुंबक के सभी प्रयोगों में एक-दूसरे को छुए बिना ही बल का असर पड़ता है।”

इसी प्रकार से

“एक गेंद को हाथ में पकड़कर कुछ ऊँचाई से छोड़ दो। गेंद नीचे गिरती है। इसका मतलब कोई बल गेंद को नीचे पृथ्वी की तरफ खींच रहा है।”

विशेष रूप से यह वक्तव्य थोड़ा अटपटा है। चीज़ों पृथ्वी पर गिरती हैं, इसका सीधे-सीधे यह मतलब निकालना उचित नहीं है कि पृथ्वी गेंद पर बल लगाती है। यह भी हो सकता है कि कोई चीज़ उसे नीचे धकेल रही हो या यह भी हो सकता है कि अरस्तू की व्याख्या सही हो कि चीज़ों का स्वाभाविक स्थान पृथ्वी पर है और सब चीज़ों अपनी स्वाभाविक जगह पर पहुंचना चाहती हैं। गुरुत्वाकर्षण भी एक मॉडल है।

इसी तरह से एक प्रयोग में जब एक रबर बैंड पर कंचे लटकाने से उसकी लंबाई में वृद्धि हुई तो यह कहना ज़रूरी समझा गया:

“तुमने देखा कि जब कंचे अधिक हुए तो उन पर पड़ने वाला गुरुत्व बल (या भार) बढ़ा और छल्ले की लंबाई भी बढ़ी।”

यह तो उन्होंने देखा कि छल्ले की लंबाई बढ़ी मगर यह कब देखा कि गुरुत्व बल बढ़ा!

दरअसल बल एक अमूर्त अवधारणा है जिसके असर तो हम देख सकते हैं मगर स्वयं बल को पकड़ना मुश्किल है। शायद एक अपेक्षाकृत आहिरता एप्रोच की ज़रूरत है, जो किसी हृद तक लाल वैज्ञानिक व प्रथम संस्करण में नज़र आती है। लेकिन किसी वजह से द्वितीय संस्करण में एक उतावलापन है कि गुरुत्वाकर्षण जल्दी से बता दिया जाए और कहीं यह सोच है कि इसे इस तरह बताया जाए कि लगे कि प्रयोग में से उभरा है।

तृतीय संस्करण में तो अध्याय का स्वरूप और भी बदल गया था।

तृतीय संस्करण

तृतीय संस्करण में इस अध्याय का नाम था ‘कहां-कहां नहीं है बल’ प्रमुख परिवर्तन तो यह हुआ था कि प्रयोगों और गतिविधियों का स्वरूप व मकसद काफी बदल गया। दूसरा प्रमुख परिवर्तन यह हुआ कि बल का एहसास देने के बाद अध्याय के नाम के अनुरूप ही विभिन्न स्थितियों में लगने वाले बलों की पहचान व विश्लेषण को काफी महत्व दिया गया है। तीसरी प्रमुख बात है कि अध्याय में विश्लेषण में चित्रों की भरपूर मदद ली गई है। और इस अध्याय में एक अपेक्षाकृत अनौपचारिक भाषा का उपयोग हुआ है: जैसे पृथ्वी बड़ी छुपी रुस्तम है या रगड़न बल बगैरह।

शुरुआत बल को एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करके होती है और बच्चों के सामने यह सवाल रखा जाता है कि “प्रश्न यह है कि वैज्ञानिकों को इसमें (जब कोई व्यक्ति आराम से खड़ा है) बल कहां दिखाई दे रहा है? इस अध्याय में हम यही चर्चा करेंगे। आओ, अपने दैनिक जीवन के कुछ उदाहरणों से शुरुआत करें। इनमें कहां-कहां हम बल को पहचान पाते हैं।”

इसके बाद कई परिस्थितियों में बल की खोज करते-करते हम इस बात पर पहुंचते हैं कि बल की एक दिशा भी होती है और गति न होने का मतलब यह नहीं है कि बल नहीं लग रहा है। इसके बाद गैलीलियो के ख्याली प्रयोग से पहले कंचों को एक ढलान पर लुढ़काकर, घर्षण बदल-बदलकर देखा जाता है कि कंचे अलग-अलग दूरी तय करते हैं। यहां गैलीलियो के ख्याली प्रयोग की बात करके न्यूटन का पहला नियम प्रस्तुत होता है और साथ ही घर्षण बल की बात होती है।

अब गेंद को गिराने पर या उछालने पर लगने वाले बलों का विश्लेषण करके गुरुत्वाकर्षण की बात होती है। यहां कई रोचक प्रसंगों के माध्यम से गुरुत्वहीन परिस्थिति की कल्पना को विस्तार दिया गया है। भार की बात भी इस संदर्भ में की गई है और चांद पर भार की चर्चा भी है।

अंत में विभिन्न परिस्थितियों में बलों के संतुलन की बात की गई है। कुछ हद तक बलों के परिमाण की बात भी की गई है।

अध्याय का लक्ष्य यह है कि बच्चों को बलों के विश्लेषण का अभ्यास कराया जाए और इसके लिए ज़रूरी जानकारी से लैस किया जाए। इसी तारतम्य में घर्षण बल, गुरुत्वाकर्षण बल, जड़त्व, बलों का संतुलन वगैरह अवधारणाएं आती हैं। कुल मिलाकर तर्क यह है कि पृथ्वी पर किसी भी वस्तु पर गुरुत्वाकर्षण तो हमेशा लगता है। इसलिए यदि वह नीचे की ओर गति नहीं कर रही है, तो अवश्य ही कोई बल गुरुत्वाकर्षण को ‘काट’ रहा है। विश्लेषण का यही तर्क अन्य परिस्थितियों में भी काम करता है और बच्चे यह देख पाते हैं कि गति न होने का मतलब है कि बलों का संतुलन स्थापित हुआ है। इसे स्पष्ट करने हेतु कहा गया है कि “हमें तो बस यह देखना है कि वस्तु की गति यदि कम हो रही है, तो ज़रूर उल्टी दिशा में कोई बल उसे रोक रहा है। और यदि वस्तु की गति तेज़ हो रही है तो ज़रूर कोई बल उसे उसी दिशा में खींच रहा है या धकेल रहा है।” यानी बल को त्वरण से जोड़ा गया है।

यहां इतना स्पष्ट करना ज़रूरी है कि इस अध्याय पर ज़्यादा फीडबैक उपलब्ध नहीं है क्योंकि यह संस्करण लागू होने से पहले ही कार्यक्रम बंद हो गया था।

रसायन शास्त्र का पाठ्यक्रम

उर्फ

सवाल आगे की कक्षा से कड़ियों का

कार्यक्रम की शुरुआत से ही शिक्षक यह चिंता व्यक्त करने लगे थे कि इस पाठ्यक्रम में और अन्य स्कूलों में चलने वाली किताबों में काफी अंतर है। खास तौर से शिक्षकों के बीच एक आम चिंता का विषय यह रहा कि जो बच्चे कक्षा 6-8 में हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम 'पढ़ते' हैं उन्हें कक्षा 9 और 10 में दिक्कत तो नहीं आएगी। शिक्षकों ने यह सवाल कई भौतिकों पर उठाया है। इसके अलावा शिक्षा प्रशासन में भी यह चिंता व्याप्त रहती थी। गौरतलब है कि हो.वि.शि.का. से जुड़े कई स्रोत शिक्षक व अनुवर्तनकर्ता हाई व हायर सेकंडरी स्कूलों के थे और वे भी अपने तरीके से यह सवाल उठाया करते थे। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि सारे शिक्षकों को यह चिंता खाए जा रही थी मगर काफी सारे शिक्षक इसमें शारीक थे।

प्रसंगवश यहां यह कह देना उपयुक्त होगा कि 16 स्कूलों में नवाचार कार्यक्रम लागू करने की अनुमति देते हुए शासन की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रचलित पाठ्यक्रम में कोई फेरबदल नहीं किया जाएगा। आशय विषय वस्तु से था। ज़िला स्तरीय प्रसार से पूर्व 1977 में राज्य पाठ्य पुस्तक समीक्षा समिति ने अन्य स्कूलों में चल रही पाठ्य पुस्तकों और प्रस्तावित बाल वैज्ञानिक की तुलना करके पाया था कि उनमें कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं है। इसी आधार पर हो.वि.शि.का. के ज़िला स्तरीय प्रसार को हरी झंडी मिली थी।

गौरतलब बात यह भी है कि शिक्षकों में भी प्रायः चिंता का कारण यह नहीं था कि हो.वि.शि.का. और कक्षा 9-10 के विज्ञान में कोई बुनियादी खाई है। कोई-कोई शिक्षक ही कहते थे कि शिक्षा की इस सक्रिय विधि से रटंत पद्धति में लौटने पर बच्चों को दिक्कत होती है। जैसे इस सम्बंध में हाई स्कूल के कुछ शिक्षकों ने कभी-कभी अपने अनुभव सुनाते हुए बताया है कि हो.वि.शि.का. से आए बच्चे कक्षा में ज्यादा सवाल पूछते हैं और प्रयोग करने में कुशल व तत्पर होते हैं। मगर अधिकांश शिक्षकों को चिंता थी कि ये बच्चे 10वीं बोर्ड में 'पिट' जाएंगे।

सबसे पहले यह सवाल 1975 में उठा था। उस समय हो.वि.शि.का. के सोलह स्कूलों व अन्य छात्रों के प्राप्तांकों की तुलना करके देखा गया था कि हो.वि.शि.का. के छात्र पिछड़ते नहीं हैं।

फ्रेंड्स रुरल सेंटर और किशोर भारती द्वारा किए गए इस अध्ययन में दो तरीके अपनाए गए थे¹:

1) होशंगाबाद व बनखेड़ी प्रखंड (जहां के कुछ स्कूलों में हो.वि.शि.का. लागू था) के उच्चतर माध्यमिक शालाओं के प्राचार्यों, व्याख्याताओं व शिक्षकों से चर्चा। नवंबर 1975 में आयोजित इस गोष्ठी में दो प्रमुख बातें उभरी थीं (गौरतलब है कि 1975 जुलाई में ही हो.वि.शि.का. छात्रों का पहला बैच उ.मा. शालाओं में पहुंचा था)।

क) उ.मा. शाला के अध्यापकों ने बताया कि वे अभी तक नहीं पहचान पाए हैं कि उनकी कक्षा में कौन-से विद्यार्थी 'रसूलिया' विज्ञान के हैं और कौन से परंपरागत विज्ञान के। वैसे उस समय हो.वि.शि.का. समूह का मत था कि "ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जैसा कि कुछ शिक्षकों ने स्वीकार किया कि उनकी कक्षाओं में चर्चा, विवेचन, प्रयोग या अन्य सृजनात्मक क्रियाओं के अवसर ही नहीं आए थे जिनके आधार पर प्रयोगनिष्ठ शिक्षण प्राप्त विद्यार्थियों के इन गुणों को परखा जाता।"

ख) अध्यापकों ने यह भी स्पष्ट किया था कि माध्यमिक शालाओं के शिक्षण पर उन्हें इतना अविश्वास

1) म.प्र. शासन एवं एन.सी.ई.आर.टी. के संयुक्त तत्वाधान में हो.वि.शि.का. के ज़िला स्तरीय विस्तार

है कि वे अपना अध्यापन कार्य यह मानकर करते हैं कि विद्यार्थियों की विज्ञान विषय में जानकारी शून्य है।

2) कक्षा 9 की परीक्षाओं का विवेचन। बनखेड़ी व होशंगाबाद प्रखंड की तीन उ.मा. शालाओं में हो.वि.शि.का. व अन्य छात्रों के 9वीं कक्षा में विज्ञान के प्राप्तांकों की सांख्यिकीय तुलना की गई। इससे पता चला कि इन दो समूहों में जो भी अंतर है वह सांख्यिकीय दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है।

इसी प्रकार की एक तुलना ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद 11वीं के प्राप्तांकों को लेकर भी की गई थी। इस अध्ययन में 1982-1985 के बीच 11वीं की परीक्षा देने वाले छात्रों के प्राप्तांकों की तुलना की गई थी। 1982 व 1983 में 11वीं की परीक्षा देने वाले छात्र परंपरागत विज्ञान पढ़कर आए थे जबकि 1984 व 1985 के बीच हो.वि.शि.का. छात्रों के थे। कुल मिलाकर आंकड़ों से निष्कर्ष निकलता है कि हो.वि.शि.का. के छात्र पिछड़ते तो कदापि नहीं हैं।

अलबत्ता इस अध्ययन ने सदा के लिए इन आशंकाओं पर विराम नहीं लगाया। हर 2-3 साल में यह मुद्दा उठता रहा। हर बार ऐसा मुद्दा उठने पर हो.वि.शि.का. समूह की ओर से 10वीं के परिणामों का तुलनात्मक अध्ययन पेश कर दिया जाता था। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद तो ऐसा अध्ययन करना मुश्किल हो गया था क्योंकि होशंगाबाद ज़िले की दसवीं बोर्ड की परीक्षा में सारे बच्चे हो.वि.शि.का. धारा से ही आते थे। आगे चलकर जब हो.वि.शि.का. 13 ज़िलों के एक-एक शाला संकुल में लागू किया गया तो फिर यही सवाल उठे। फिर एक बार दोनों धाराओं के बच्चों की तुलना ने इस आशंका को निर्मूल साबित कर दिया।

जैसे दिसंबर 2000 में हरसूद शाला संकुल (ज़िला खंडवा) में कक्षा 9 व 10 के परिणामों का एक विश्लेषण किया गया था। अन्य सभी शाला संकुलों के समान हरसूद में भी कुछ माध्यमिक शालाओं में हो.वि.शि.का. लागू था जबकि अन्य शालाओं में परंपरागत विज्ञान चलता था। अतः यहां की उच्चतर माध्यमिक शालाओं में दोनों धाराओं के बच्चे पहुंचते थे। यहां भी देखा गया कि हो.वि.शि.का. व अन्य छात्रों के बीच कक्षा 9 व 10 के परीक्षा परिणामों में कोई खास अंतर नहीं है।

एक और अध्ययन का ज़िक्र करना मुनासिब होगा। यह अध्ययन ठीक कब किया गया था, पता नहीं चलता मगर संभवतः 1983 के बाद कभी किया गया था। सामान्य छात्रों को कक्षा 8 के जीव विज्ञान, रसायन व भौतिकी से सम्बंधित 3-3 प्रश्न देकर हल करने को कहा गया था। ये छात्र कक्षा 8 परंपरागत विधि से उत्तीर्ण कर चुके थे मगर रिपोर्ट से यह पता नहीं चलता कि परीक्षण के समय ये किस कक्षा में थे। इतना स्पष्ट है कि सारे छात्र किसी न किसी उच्चतर माध्यमिक शाला में पढ़ रहे थे।

शाजापुर, धार, उज्जैन, रत्नाम व मंदसौर ज़िले के कुल 609 छात्रों के साथ यह परीक्षण किया गया था। मात्र 23 छात्र उत्तीर्ण हो सके। यह भी पता चला था कि इनमें से 9 छात्रों को द्वितीय श्रेणी तथा 14 छात्रों को तृतीय श्रेणी योग्य अंक मिले। यह अध्ययन दर्शाता है कि यह ज़रूरी नहीं है कि परंपरागत पाठ्यक्रम में शामिल सारे विषय (जो बाल वैज्ञानिक में नहीं थे) बच्चों को आगे मददगार बने रहते हैं। वैसे एक मायने में यह इस अध्ययन के निष्कर्ष शिक्षकों के लिए चौंकाने वाले नहीं रहे होंगे क्योंकि वे जानते हैं कि परीक्षा के बाद अधिकांश छात्र सब भूल ही जाते हैं।

मगर किसी वजह से अविश्वास बना रहा। शायद लोगों को लगता था कि हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम कमज़ोर है। शायद बाल वैज्ञानिक को देखकर लगता था कि इसमें विषयवस्तु का अभाव है और इसलिए बच्चे क्या सीखते होंगे, इसे लेकर शंका बनी रहती थी। सीखने की जो रुद्ध छवि है - तथ्य, परिभाषाएं, नियम, सूत्र, जानकारी प्राप्त करना - उसकी पृष्ठभूमि में देखने पर लगता था कि हो.वि.शि.का. में कुछ नहीं सिखाया जाता। इसलिए वे यह मानते थे कि बच्चों को ज़रूर नुकसान होता होगा।

बहरहाल, धीरे-धीरे 9-10 से जुड़ाव की बात कुछ विशिष्ट विषयों पर टिक गई थी। शिक्षकों व अन्य लोगों ने अन्य ज़िलों में चलने वाली पुस्तक 'विज्ञान' और बाल वैज्ञानिक के बीच अंतर खोज निकाले।

कुछ विषयवस्तु ऐसी थी जो ‘विज्ञान’ में थी और बाल वैज्ञानिक में नहीं थी जबकि कुछ विषयवस्तु ऐसी थी जो बाल वैज्ञानिक में थी मगर ‘विज्ञान’ में नहीं थी। बाल वैज्ञानिक में से नदारद विषयवस्तु धीरे-धीरे एक अभियान का आधार बन गई। समय-समय पर हो.वि.शि.का. के विरोध में जो गतिविधियां हुई उनमें यह एक प्रमुख बिंदु बना।

इस बात को कदापि नहीं राखा गया कि बाल वैज्ञानिक में बच्चों को विज्ञान की कुछ ऐसी बुनियादी बातें सिखाई जाती हैं जो ‘विज्ञान’ में से नदारद हैं। मुख्य धारा के सामने बाल वैज्ञानिक एक छोटा सा प्रयास था, इसलिए यह हो.वि.शि.का. की ज़िम्मेदारी थी कि वह तालमेल बनाए। मुख्यधारा ‘मानक’ बन जाती है, स्वनामधन्य होती है। बल्कि कई शिक्षकों का सवाल होता था कि ‘संयोग और संभाविता’ या ‘जीवजगत में विविधता’ जैसी चीज़ें क्यों पढ़ाई जाती हैं।

बाल वैज्ञानिक में से नदारद विषयवस्तु में निम्नलिखित चीज़ें प्रमुख थीं:

- 1) संहति (mass) व घनत्व
- 2) सजीवों का मानक वर्गीकरण
- 3) अणु, परमाणु, संकेत, सूत्र, समीकरण व संयोजकता

इनमें से भी अंतिम विषय ही सबसे बड़े अभाव के रूप में उभरा था। किसी वजह से लोगों ने संहति और सजीवों के वर्गीकरण को इतना बड़ा मुद्दा नहीं माना। होशंगाबाद के बच्चों के तथाकथित पिछड़ने में प्रमुख भूमिका बाल वैज्ञानिक में अणु, परमाणु, संकेत, सूत्र, समीकरण व संयोजकता के अभाव की मान ली गई थी। वैसे एक दिलचर्प बात यह भी है कि सन 2000 में जब बाल वैज्ञानिक के नए संस्करण को पाठ्य पुस्तक स्थायी समिति के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो समिति ने पाठ्यक्रम में अंतर की बात उठाई। उस समय की गई एक तुलना से पता चला था कि बाल वैज्ञानिक में निम्नलिखित अध्याय नहीं हैं जो पारंपरिक पाठ्य पुस्तक में हैं:

1. द्रव्यः प्रतीक, सूत्र, समीकरण	2. विद्युत आवेश
3. कार्बन	4. कार्बन के यौगिक
5. चट्टानें, खनिज व धातुएं	6. धातुएं और उनके गुण
7. मानव निर्मित वस्तुएं	8. जैव विकास

समिति को भी इस बात से कोई सरोकार नहीं था कि बाल वैज्ञानिक में कई चीज़ें ऐसी हैं जो पारंपरिक पाठ्य पुस्तक में नहीं हैं, न ही उन्होंने जानने की कोशिश की कि बाल वैज्ञानिक में इन चीज़ों को शामिल करने की क्या वजह है।

ज़ाहिर है कि अधिकांश अध्याय रसायन शास्त्र से सम्बंध रखते हैं। तो इसी पर बात करते हैं।

हो.वि.शि.का. में रसायन पाठ्यक्रम का विकास

मिडिल स्कूल की कक्षाओं में रासायनिक विषयों को शामिल करना खासा मुश्किल काम है। पर्यावरण में से जो रासायनिक विषय उभरते हैं, उनका सम्बंध खेती-बाड़ी, स्वास्थ्य, प्रदूषण, पानी की गुणवत्ता वगैरह से होता है। यदि करके सीखो को एक कसौटी बना लिया जाए तो मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। पदार्थों के गुणात्मक रासायनिक गुणधर्मों को समझाने के लिए विशिष्ट रसायनों के अलावा उपकरणों की ज़रूरत पड़ती है। ऐसे रसायन आम तौर पर ज़िले के स्तर पर भी नहीं मिल पाते। इसके अलावा ये महंगे भी होते हैं। यदि आप मात्रात्मक रसायन शास्त्र में घुसना चाहते हैं, तो एक अच्छी तराजू के साथ-साथ उसके उपयोग के हुनर भी आवश्यक हैं। अलबत्ता, यदि आपने तय किया है कि पाठ्य पुस्तक में लिख देना ही

पर्याप्त है, तो फिर सब कुछ 'आसान' हो जाता है। आपको किसी सीमा को स्वीकार करने की मजबूरी नहीं होती। यही रवैया पारंपरिक पाठ्य पुस्तकों में रहा है। मगर यदि आप बच्चों के समझने के लिहाज़ से, प्रायोगिक अनुभव व पर्यावरण को आधार बनाकर क्रमिक रूप से बढ़ने का निर्णय करते हैं तो सीमाएं उभरने लगती हैं।

इन बातों के मद्दे नज़र हो.गि.शि.का. समूह को बच्चों को पदार्थों की रासायनिक प्रकृति व रासायनिक पररस्पर क्रियाओं से परिचित कराने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ी थी। ज़िला स्तरीय प्रसार (1978) के समय बाल वैज्ञानिक में रसायन शास्त्र से सम्बंधित अध्याय देखें तो निम्नलिखित चित्र उभरता है:

1. मिश्रण में से पदार्थों को अलग-अलग करना (पृथक्करण)
2. पदार्थों को बनाना व उनके गुणधर्म पता करना (गैसें)
3. रासायनिक गुणधर्मों के आधार पर पदार्थों की पहचान (अम्ल, क्षार और लवण)
4. पदार्थों की पररस्पर क्रियाएं - आंशिक मात्रात्मक अध्ययन (अम्ल, क्षार और लवण, जल - मृदु और कठोर)
5. विद्युत के रासायनिक प्रभाव
6. जैविक प्रक्रियाओं (पाचन, श्वसन, प्रकाश संश्लेषण) में रासायनिक परिवर्तनों का अध्ययन
7. पदार्थों की उपस्थिति के रासायनिक प्रभाव (जल - मृदु और कठोर)

वैसे इन्हीं थीम्स के ईर्द्द गिर्द कई अन्य अध्यायों पर प्रारंभिक काम किया गया था। इन अध्यायों के मसौदे तैयार हुए मगर लगता है कि पहली जांच में ही इन्हें छोड़ दिया गया था अथवा कहीं-कहीं इनके हिस्सों को अन्य अध्यायों में शामिल कर लिया गया था। उन खारिज अध्यायों पर एक नज़र डालें तो अनुचित न होगा।

जैसे मई 1973 में लिखे गए एक अध्याय का मसौदा देखते हैं। इस शीर्षक रहित अध्याय का सम्बंध पदार्थों के रासायनिक गुणों के परीक्षण से था। अध्याय की शुरुआत बहुत दिलचस्प थी और इसमें यह दिखाने का प्रयास था कि रासायनिक गुण किस तरह से भौतिक गुणों से अलग होते हैं। बच्चों के सामने समस्या यह रखी गई थी कि क्या एक-से दिखने पदार्थ हमेशा एक-से होते हैं।

तीन तरल पदार्थ क, ख और ग लिए गए थे जो तीनों पानी जैसे दिखते हैं। पता करना है कि वे तीनों पानी ही हैं या नहीं। अब घोल क की थोड़ी सी मात्रा घोल ख में मिलाई जाती है, तो घोल ख थोड़ा गर्म हो जाता है; सवाल है: क्या पानी में थोड़ा पानी और मिलाने से पानी गर्म हो जाता है? निष्कर्ष निकलता है कि घोल क और ख में पानी के अलावा कुछ और भी है। इस प्रकार से प्रयोग करके देखा जाता है कि एक-से दिखने वाले पदार्थ अलग-अलग हो सकते हैं। "उन परिस्थितियों में जबकि पदार्थों को केवल रंग-रूप से नहीं पहचाना जा सकता, तब हम उन पदार्थों की पहचान एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ के साथ प्रतिक्रिया से कर सकते हैं।"

इसके बाद 10 परीक्षण दिए गए थे जिनकी मदद से पदार्थों की पहचान की जा सकती है। इनमें ज्वाला परीक्षण, सिल्वर नाइट्रोट से क्लोराइड का परीक्षण, लिटमस परीक्षण, कार्बोहायड्रेट्स का परीक्षण (अल्फा-नेप्थाइल अमीन-सल्फ्यूरिक अम्ल), प्रोटीन्स का परीक्षण (निनहायड्रिन) वगैरह शामिल थे।

मगर इनमें से अधिकांश परीक्षणों के लिए विशिष्ट रसायनों की ज़रूरत होगी। क्लोराइड जैसे समूह का परीक्षण वैसे भी निरर्थक होता क्योंकि बच्चे इससे परिचित नहीं थे। यह शायद अध्याय परीक्षण स्तर तक भी नहीं पहुंचा था।

रासायनिक गुणों के बारे में एक भी एक अध्याय विकसित किया गया था जिसमें क्वथनांक, गलनांक, घुलनशीलता जैसे गुणों से सम्बंधित प्रयोग थे। यह भी आगे नहीं बढ़ा। इसी प्रकार से पदार्थों की अवस्थाओं

और अवस्था परिवर्तन पर भी एक अध्याय तैयार किया गया था मगर अंततः बाल वैज्ञानिक में इसे स्थान नहीं मिला।

स्पष्ट है कि बच्चों को पदार्थों के रासायनिक गुणधर्मों व अंतर्क्रियाओं से परिचित कराना अजेंडा में था।

खैर, प्रथम संशोधन के दौरान, जैसा कि पहले कहा गया, मुख्य चिंता तो विषयवस्तु कम करने की थी, बाल वैज्ञानिक को स्कूल सत्र के अनुकूल बनाने की थी। मगर द्वितीय संशोधन प्रक्रिया के समय यह महसूस किया गया कि बाल वैज्ञानिक में रसायन का अंश बढ़ाया जाना चाहिए। इसके मद्दे नज़र 1996 में हो.वि.शि.का. से जुड़े रसायन समूह ने रसायन शास्त्र के पाठ्यक्रम का एक व्यवस्थित आकलन किया। पाया गया कि रसायन शास्त्र के कुछ एक अध्याय इधर उधर बिखरे हुए हैं और कुछ अन्य अध्यायों में जरूरत के हिसाब से रसायन शास्त्र का इस्तेमाल किया गया है। रसायन शास्त्र के अध्यायों में आसान गुणात्मक अध्ययन से जटिल मात्रात्मक अध्ययन की ओर क्रमवार बढ़ने की कोशिश का ज़र्बदस्त अभाव है। यह भी समझ में आया कि इसके पीछे मुख्य कारण यह है कि हो.वि.शि.का. समूह में एक गहरी धारणा थी कि इतने कम रसायनों और उपकरणों के इस्तेमाल से इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता।

ऐसे में रसायन समूह ने बाल वैज्ञानिक के रसायन के पूरे पाठ्यक्रम को नई तरह से विकसित करने का काम हाथ में लिया। चुनौती थी कि बच्चों को प्रायोगिक ढंग से रासायनिक गुणधर्मों और परिवर्तनों की मूलभूत अवधारणाओं से परिचित करवाया जाए ताकि आगे के सालों में रसायन शास्त्र के बुनियादी सिद्धांतों को समझने के लिए एक आधार तैयार हो सके। और यह सब करते हुए यह ध्यान रखना था कि किट पर कम से कम बोझ बढ़े और साथ ही बाल वैज्ञानिक का कुल पाठ्यक्रम न बढ़े।

इस स्तर पर की जा सकने वाली जो मूलभूत अवधारणाएं पहचानी गई वे थीं - घुलनशीलता, पदार्थों की अवस्थाएं, रासायनिक क्रिया की अवधारणा, रासायनिक तुल्यता, क्रिस्टलीकरण। इन अवधारणाओं को ध्यान में रखते हुए ढेरों प्रयोग आज़माए गए और अंततः दो सालों के प्रयासों से पांच नए अध्याय तैयार किए गए - घुलनशीलता, रासायनिक क्रियाएं, रासायनिक क्रियाओं की गति, रवे बनाना, अम्ल क्षार का आपसी सम्बन्ध। रसायन समूह के लिए यह एक बहुत ही रोचक अनुभव था क्योंकि वे कुछ हद तक इस धारणा को तोड़ पाए कि इस स्तर पर, सीमित साधनों से ज्यादा कुछ नहीं किया जा सकता।

‘अम्ल क्षार का आपसी सम्बन्ध’ अध्याय का उद्देश्य बच्चों को रासायनिक तुल्यता की अवधारणा से अवगत करवाना था। ऐसा माना गया कि अगर बच्चे रासायनिक तुल्यता की अवधारणा कुछ हद तक समझ पाएं तो अणु, परमाणु, संकेत, सूत्र और समीकरण समझने के लिए एक आधार बन पाएगा।

समूह ने माना कि अणु, परमाणु, रासायनिक संकेत, सूत्र और समीकरण अमूर्त अवधारणाएं हैं और इन्हें आठवीं तक के पाठ्यक्रम में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु बाद में कई एक दबावों के चलते इन अवधारणाओं से सम्बन्धित एक अध्याय आठवीं की पुस्तक में डाला जाना जरूरी हो गया।

वैसे आगे की कक्षा से कड़ियों में प्रमुख सवाल तो अणु-परमाणु, संकेत, सूत्र व समीकरण का था। ऐसा नहीं था कि 1999 में पहली बार इस पर काम किया गया था। इससे पहले भी कई कोशिशें हो चुकी थीं और उन पर एक नज़र डालना मुनासिब होगा।

अणु-परमाणु: चलती हुई बहस

हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम पर जब भी बात होती थी, अणु परमाणु की बात ज़रूर उठती थी। गौरतलब है कि अणु-परमाणु से सम्बन्धित अवधारणाओं (यानी तत्व, यौगिक, मिश्रण, परमाणु, अणु, संकेत, सूत्र, समीकरण व संयोजकता) को बाल वैज्ञानिक में शामिल न किए जाने के कारण शिक्षकों, पालकों व अन्य लोगों ने बार-बार यह चिंता व्यक्त की थी कि होशंगाबाद के बच्चे पिछड़ रहे हैं। इसमें एक प्रमुख चिंता यह रही कि जब ये बच्चे कक्षा 9 में पहुंचते हैं तो इन्हें बहुत दिक्कत होती है क्योंकि वहां यह विषय उनके लिए एकदम

अपरिचित होता है। कई लोगों को यह चिंता होती थी कि ये चीज़ें आधुनिक रसायन शास्त्र की बुनियाद हैं और यदि बच्चों को ये जल्दी से जल्दी नहीं सिखाई जातीं तो वे आगे कई बातें नहीं सीख पाएंगे।

मगर इन अवधारणाओं को शामिल करने के आग्रह के पीछे जो प्रमुख तर्क होता था वह विषय की समझ, बच्चों की तैयारी के आकलन या शिक्षा के तौर-तरीकों पर आधारित न होकर मूलतः इस बात पर टिका था कि अन्य ज़िलों में ये चीज़ें हैं तो इन्हें बाल वैज्ञानिक में भी होना चाहिए।

इस मुद्दे की व्यापकता के बावजूद हो.वि.शि.का. समूह ने इस विषय को बाल वैज्ञानिक में जगह नहीं दी। अतः यह जानना ज़रूरी है कि इसके पीछे समझ क्या रही।

यदि हम हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम सम्बंधी चर्चाएं देखें तो इसके दो जुड़े हुए कारण मिलते हैं। रसायन शास्त्र में परमाणु व अणु की अवधारणा एकदम अमूर्त अवधारणा है। इसे समझने के लिए प्रयोग हैं तो सही मगर मिडिल स्कूल के स्तर पर नहीं करवाए जा सकते जिससे बच्चे इस अवधारणा पर पकड़ बना सकें। वैसे भी आधुनिक रसायन शास्त्र में परमाणु व अणु की अवधारणा किसी एक प्रयोग का परिणाम नहीं है। पदार्थ की प्रकृति व उनकी आपसी क्रियाओं को समझने के प्रयासों में किसी मोड़ पर यह अवधारणा उभरती है। अट्ठारवीं सदी का उत्तरार्ध रासायनिक अध्ययनों में मात्रात्मक पहलू के समावेश का ज़माना था। जब रासायनिक परिवर्तनों के अध्ययन में नाप-तौल की जाने लगी तो आधुनिक अर्थों में तत्त्व की परिभाषा उभरी और उसके बाद 50 सालों के मात्रात्मक अवलोकनों व आंकड़ों की व्याख्या करते हुए डाल्टन ने परमाणु की अवधारणा प्रस्तुत की थी। यह एक दार्शनिक इकाई नहीं थी बल्कि भौतिक इकाई थी। अणु तो उसके भी पचास साल बाद स्वीकार किया गया था।

अतः पदार्थ की परमाणविक प्रकृति को आधुनिक अर्थों में समझने के लिए पहले ज़रूरी है कि बच्चे रासायनिक परिवर्तनों को देखें-समझें और उनमें मात्रात्मक सम्बंधों पर ध्यान दें। इस पूर्व तैयारी के बगैर परमाणु व अणु की बात करना बेमानी है। पाठ्यक्रम की बात करते हुए विजय वर्मा ने इस बात को इन शब्दों में कहा था कि हमने “परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रों की बात नहीं की क्योंकि हमें बहुत शक है कि इस उम्र में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी है कि वह परमाणु संरचना समझ सके। दूसरी बात कि यदि परमाणु संरचना सिखानी है, तो (ज़रूरी है कि) हम उन्हें ऐसे प्रयोग करके टिऱणा सकें कि वे विश्वास करें कि जो चीज़ें हमें ठोस लग रही हैं वे वास्तव में छोटे-छोटे परमाणुओं से मिलकर बनी हैं।” ऐसे प्रयोग हैं जो उन्हें बता सकते हैं कि परमाणु संरचना का आधार है पर यहां दो-तीन तरह की कठिनाईया आँई। एक तो इन प्रयोगों को समझने में काफी बोन्डिंग विकास की ज़रूरत होती है। दूसरी चीज़ इन प्रयोगों के लिए उपकरण बहुत महंगे हैं। हम नहीं चाहते कि शिक्षक उनको किसी प्रकार बता दे कि मॉडल के आधार पर परमाणु संरचना का सबूत मिलता है। इन सब बातों को सोचकर यह निर्णय लिया कि ऐसी चीज़ हम कार्यक्रम में नहीं रखेंगे।” (कि.भा. बैठक, अक्टूबर 1983)

“अणु की अवधारणा से परिचित कराने के लिए जो दो प्रयोग करना ज़रूरी हैं, वे हैं: (क) रासायनिक संयोग के नियम और (2) गतियों का ब्राउनियन नियम या तेल की शिल्ली के पतले होने की सीमा। पहला प्रयोग (पदार्थ की) किसी इकाई के अस्तित्व की मांग करता है जबकि दूसरा प्रयोग उस इकाई की साइज़ की सीमा निर्धारित कर देता है। ...हम थोड़ा इन्तज़ार करना परसंद करेंगे ताकि बच्चों में प्रयोग करने व निष्कर्ष निकालने के हुनर इतने विकसित हो जाएं कि वे अन्य लोगों द्वारा किए गए प्रयोगों को सराह सकें।” (साइन्स टुडे, दिसंबर 1977)

हो.वि.शि.का. समूह का तर्क था कि मिडिल स्कूल के बच्चों को इस तरह के अनुभव दे पाना असंभव है। एक तो इसी कारण से कि मात्रात्मक प्रयोगों के लिए जिस स्टीकता के उपकरण चाहिए, वे नहीं हैं और इन प्रयोगों के लिए जिस स्तर की कुशलता की ज़रूरत है उसकी अपेक्षा 11-13 वर्ष के बच्चों से नहीं की जा सकती।

अलबत्ता यहां एक बात कहना ज़रूरी है कि पदार्थों की परमाणविक प्रकृति आज हमारे सोच का इतना अभिन्न अंग है कि शायद किसी के लिए पदार्थ की सतत प्रकृति (continuous nature) को समझा पाना बहुत मुश्किल होगा। ज्यादा ज़रूरी सवाल यह है कि क्या मिडिल स्कूल के बच्चे रासायनिक संयोग के नियमों का विश्लेषण करते हुए परमाणु की बात को सीख पाएंगे। यानी बात सिर्फ़ प्रयोगों की नहीं है - बात इस तरह के प्रयोगों के विश्लेषण के लिए ज़रूरी तैयारी की भी है।

दूसरा तर्क यह था कि परमाणु, संकेत, सूत्र और समीकरण वगैरह सीखने के लिए ज़रूरी है कि बच्चे विभिन्न रूपों में रासायनिक परिघटनाओं से परिचित हो जाएं। यानी वे तरह-तरह के पदार्थों के रासायनिक गुणों को परखें और इनके आधार पर पदार्थों का समूहीकरण करें, रासायनिक क्रियाएं करके देखें, उन्हें प्रभावित करने वाले कारकों को समझें और कुछ हद तक रासायनिक क्रियाओं का मात्रात्मक अध्ययन करें। इसके बाद परमाणु मॉडल की बात की जाए तो ज्यादा सार्थक होगी। लगभग आकाश की ओर वाली स्थिति है - आप परमाणु को स्वीकार करते हैं क्योंकि वह रासायनिक निष्कर्षों की सरल व्याख्या प्रदान करता है।

दूसरी बात यह है कि आधुनिक रसायन शास्त्र में परमाणु मात्र एक कण नहीं है - यह पदार्थों के आपसी व्यवहार की एक इकाई है। ये सारी बातें समझने के लिए बच्चों की काफ़ी तैयारी होनी चाहिए - आंकड़ों को समझना, आंकड़ों में पैटर्न देख पाना, जटिल तर्कों को समझ पाना।

दूसरा तर्क थोड़ा धूमावदार है। 1980 के दशक में कक्षा 9 की प्रचलित पाठ्य पुस्तक के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट सामने आती है कि वहां अणु-परमाणु की बात एकदम नए सिरे से शुरू की जाती है - यानी वहां बच्चों में किसी पूर्व ज्ञान को मानकर शुरुआत नहीं की जाती। तो यदि कक्षा 6-8 में इस विषय को छोड़ दिया जाता है तो बच्चों को कोई खास नुकसान नहीं होगा और इसकी जगह उन्हें कुछ अन्य चीज़ें पढ़ाई जा सकती हैं। इस बात को बाल वैज्ञानिक कक्षा 8 (1981) में बच्चों को संबोधित सवालीराम के खत में इस तरह कहा गया था:

“तुम जानते हो कि तुम्हारी इस किताब में कहीं भी रासायनिक सूत्र व परमाणु संरचना का जिक्र नहीं है। तुमने शायद यह भी सुना होगा कि विज्ञान की पुरानी पुस्तकों में ये दोनों विषय शामिल थे। तुम्हें एक बात और बताऊं। हमें हायर सेकंडरी के कई शिक्षकों ने बताया है कि पहले नवीं कक्षा में आने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को इन दोनों विषयों का ज्ञान लगभग शून्य होता था, हालांकि उन्होंने पुरानी पुस्तक में ये दोनों विषय पढ़े होते थे। इसीलिए नवीं कक्षा में इन विषयों को भी दोबारा पढ़ना होता था। वैसे भी ये विषय नवीं कक्षा के पाठ्यक्रम का अंग हैं। फिर मिडिल स्कूल में इन पर समय क्यों लगाया जाए? अतः हमने इन विषयों की जगह ऐसे विषय तुम्हारी इन किताबों में जोड़े हैं जो विज्ञान सीखने के लिए ज़रूरी हैं पर पहले न तो इन्हें मिडिल स्कूल में पढ़ाया जाता था और न ही हायर सेकंडरी में।”

सवालीराम के खत में जो यह लिखा गया था कि ‘हमें हायर सेकंडरी के कई शिक्षकों ने बताया है...’ शिक्षकों से अनौपचारिक चर्चाओं पर आधारित नहीं था बल्कि 1975 में हायर सेकंडरी स्कूलों के शिक्षकों व प्रचार्यों के साथ की गई एक बैठक से उभरी बात थी। उस बैठक में यह समझने की कोशिश की गई थी कि हो.वि.शि.का. से निकले बच्चों और अन्य स्कूलों के बच्चों के बीच क्या फर्क है।

वैसे इस सम्बंध में एक बात ज़रूर उठाई जानी चाहिए। हो.वि.शि.का. समूह का यह दावा ज़रूर था कि हमने “परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रों की बात नहीं की क्योंकि हमें बहुत शक है कि इस उम्र में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी है कि वह परमाणु संरचना समझ सके।” मगर समूह द्वारा इस संदर्भ में कोई व्यवस्थित अध्ययन किया गया हो, ऐसा नहीं लगता। इस तरह का कोई अध्ययन किया गया होता तो शायद शिक्षकों के साथ इस विमर्श को कहीं अधिक गहराई से किया जा सकता था और इससे पाठ्यक्रम निर्माण व विषयवस्तु के चयन की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी एक अलग स्तर पर ले जाई जा

सकती थी। वैसे 1990 के दशक में एक सीमित अध्ययन कक्षा 9 के बच्चों के साथ किया गया था जिससे पता चला था कि इन अवधारणाओं को लेकर उनकी समझ गड़बड़ है और अन्य बातों के अलावा यह इस बात का परिणाम लगता है कि इतनी सूक्ष्म चीज़ों को समझने में स्वाभाविक दिक्कतें हैं।

बहरहाल, तर्क के स्तर पर बात जो भी हो, जब कोई कार्यक्रम मुख्यधारा के साथ मिलकर चलना चाहता है तो उस पर कई दबाव पड़ते हैं। इसे एक संवाद भी कह सकते हैं। नवाचार में एक उद्देश्य यह भी शामिल है कि ऐसे मुद्दों पर एक बहस चले, वर्तमान तौर-तरीकों पर सवाल खड़े हों, अधिक से अधिक लोग इस बहस में शामिल हों। इस प्रक्रिया में कई समझौते भी आते हैं।

धीरे-धीरे हो.वि.शि.का. समूह इस दबाव को महसूस करने लगा था और शायद कहीं अंदर ही अंदर एक धारा यह भी उभर रही थी कि शायद 'अणु-परमाणु' पढ़ाया जा सकता है और मिडिल स्तर पर पढ़ाया जा सकता है। वैसे हो.वि.शि.का. में दूसरी धारा ही बलवती थी कि कक्षा 6-8 में इसे न तो पढ़ाया जा सकता है, न ही पढ़ाना ज़रूरी है। बल्कि एक विचार 'यह भी उभर रहा था कि हम बच्चों को कौन-से रासायनिक अनुभव दें जिनसे उन्हें आगे चलकर अणु-परमाणु सीखने में मदद मिले। जैसे गैसों का व्यवहार, अवस्था परिवर्तन, अम्ल-क्षार के अनुमापन वगैरह।

शिक्षकों व अन्य सम्बंधित लोगों के साथ इस मुद्दे पर संवाद जारी था। यह तसल्ली का विषय है कि पालकों के साथ हुए खुले सम्मेलनों में अणु व परमाणु की बारीकियों पर चर्चा होती थी, बच्चों की अमूर्तीकरण की क्षमताओं पर चर्चा होती थी, संतोष-असंतोष उभरते थे। मगर इसी दौरान समूह के कुछ सदस्यों ने परमाणु सिखाने के लिए एक अध्याय तैयार करना शुरू कर दिया था।

1987-88 के आसपास 'अणु-परमाणु की कहानी' के नाम से तैयार किए गए इस अध्याय में बातचीत की शुरुआत प्राचीन युनानी दार्शनिक डेमोक्रेटस के विचारों से होती है। वही दिमागी प्रयोग, किसी फल के छोटे-छोटे टुकड़े करके यह सोचना कि कितना छोटा टुकड़ा हासिल किया जा सकता है और क्या उसमें फल के गुण रहेंगे। इस चर्चा के बाद स्याही को पानी में घोलकर तनु करते जाने का प्रयोग था जब तक कि रंग गायब न हो जाए। फिर बच्चों से कल्पना करने को कहा गया था कि क्या ऐसी भी चीजें हो सकती हैं जो सूक्ष्मदर्शी से भी दिखाई न पड़ें। उसके बाद डी.एन.ए. अणु का 50 लाख गुना आवर्धित चित्र दिया था। फिर अचानक अणु की परिभाषा दी गई थी: "पदार्थ का वह छोटा-से-छोटा कण जिसमें पदार्थ के गुणधर्म मौजूद हों, उसे पदार्थ का अणु कहते हैं। मतलब यदि अणु के भी टुकड़े करें तो उसमें पदार्थ के गुणधर्म नहीं मिलेंगे।" दरअसल तत्व, यौगिक व मिश्रण में भेद किए बिना अणु की परिभाषा समझाना मुश्किल है। दूसरी बात यह है कि इससे पहले इतिहास की जो बातें हुई थीं, वे इस परिभाषा के प्रकट होने के बाद बेमानी हो जाती हैं। और तीसरी बात यह है कि विशाल अणु (मैक्रोमालीक्यूल - डी.एन.ए.) का उदाहरण इस संदर्भ में उचित नहीं है क्योंकि ऐसे अणुओं के दो टुकड़े कर देने पर भी गुणधर्म बरकरार रहते हैं क्योंकि ये बहुलक हैं और कई मायनों में मॉड्यूलर हैं।

इस अध्याय को जिस तर्ज पर शुरू किया गया था कि एक ऐतिहासिक गाथा सुनाई जाने वाली है, उसे अणु की परिभाषा के बाद निभाया नहीं गया। अणु के फौरन बाद परमाणु को इस रूप में परिभाषित किया गया है: "अणु भी टुकड़ों से मिलकर बने हैं। हर पदार्थ का अणु किसी एक या एक से अधिक प्रकार के परमाणुओं से मिलकर बना होता है।" यह सही नहीं है - हर पदार्थ के अणु नहीं होते।

बहरहाल, इसके बाद संकेत, संकेत लिखने के नियम, सूत्र, सूत्र व संकेत में अंतर, सूत्र का व्याकरण, रासायनिक समीकरण व संतुलित समीकरण वगैरह बताए गए हैं।

इस अध्याय को शिक्षकों के साथ करके देखा गया था मगर चला नहीं हालांकि अध्याय पढ़ने के बाद वे पूछे गए सवालों के जवाब सही-सही दे देते थे। इस अध्याय की सबसे भारी दिक्कत यह थी कि इसमें सोचने व करने को कुछ नहीं था, सिवाय पानी में स्याही घोलने के।

दूसरी बात यह थी कि पारंपरिक पाठ्य पुस्तकों की तरह इसमें भी यही लगता था कि अणु व परमाणु का होना, रासायनिक सूत्र, समीकरण वगैरह हमें किसी ने दे दिए हैं (यह आभास भी नहीं मिलता कि इन सूत्रों, समीकरणों का पदार्थ की वास्तविकता से कुछ सम्बंध है या वास्तविक पदार्थों का अध्ययन व विश्लेषण करके इन्हें ज्ञात किया जाता है)।

और अंत में इस अध्याय को एक नए परिप्रेक्ष्य में रखने की कोशिश की गई थी:

“इस पाठ में ऐसी बहुत सी बातें की गईं, जिन्हें प्रयोग द्वारा नहीं समझा जा सकता। अब ऑक्सीजन को O क्यों लिखा जाए, यह तो केवल एक भाषा की बात हुई ना? फिर अणु की तस्वीर तुमने देखी, वह तो तुम्हें माननी पड़ गई, तुमने खुद तो नहीं बनाई वह तस्वीर!

इस तरह की कई बातों और सिद्धांतों को हम अपनी प्रयोगशाला में प्रमाणित नहीं कर सकते पर कई लोगों ने अलग-अलग प्रयोगों और उनके निष्कर्षों के आधार पर इन बातों को माना है। इसीलिए हम भी इन्हें मानने को तैयार हैं। तुम क्या सोचते हो इस बारे में?”

इस अंतिम चीज़ के बारे में कोई प्रतिक्रिया उपलब्ध नहीं हैं मगर यह थोड़ा आपत्तिजनक था। आखिर अन्य लोगों के प्रयोगों व परिणामों को स्वीकार करने में इतनी शर्त तो होनी ही चाहिए कि वे प्रयोग, निष्कर्ष व तर्क हमारे सामने रखे जाएं।

इस अध्याय के बाद अणु-परमाणु की बात एक बार ठंडे बरस्ते में चली गई। लंबे समय तक समूह में किसी ने इस पर हाथ नहीं आज़माया। मगर मांग तो उठती रही। लिहाजा अणु-परमाणु अध्यापन की बहस को एक ज़्यादा सार्थक स्तर पर ले जाने के लिए एक नया शैक्षणिक प्रयास किया गया। इस नई पहल का मकसद यह था कि शिक्षकों के साथ इन अवधारणाओं की विस्तृत चर्चा की जाए ताकि वे एक जानकारीशुदा बहस में सहभागी हो सकें। शिक्षकों के साथ संगम केंद्रों पर होने वाली मासिक गोष्ठियों को इसका मंच बनाया गया। लगातार पांच मासिक गोष्ठियों में अणु-परमाणु की अवधारणा के विकास का विस्तार में अध्ययन किया गया।

इस प्रक्रिया में पूरे इत्मीनान से रासायनिक क्रियाओं के नियम, उनके आधार पर डाल्टन के परमाणु सिद्धांत का प्रतिपादन, डाल्टन के सिद्धांत का प्रायोगिक सत्यापन (गुणित अनुपात का नियम), परमाणु भार, डाल्टन-गैलूसेक-एवोगेड्रो की बहस, ऊर्यूलॉन्ग-पेटिट का नियम वगैरह पर चर्चा करते हुए बातें स्पष्ट हुई। इसके साथ फ्लॉजिस्टन की बात जोड़ने से आधुनिक रसायन शास्त्र की बुनियाद भी उभरकर आती है। पांच माह तक चले इस सिलसिले में यह स्पष्ट हुआ कि हम परमाणु व अणु के अस्तित्व को क्यों मानते हैं, परमाणु भार, सूत्र आदि आसमान से नहीं टपके हैं। इस शृंखला में कोई प्रयोग नहीं किया गया था। शृंखला पूरी होने के बाद कई शिक्षकों ने महसूस किया कि ये चीज़ें मिडिल स्कूल के बच्चों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। उन्हें यह भी स्पष्ट हुआ कि जिस ढंग से आम तौर पर अणु-परमाणु पढ़ाया जाता है, वह समझ की दृष्टि से नहीं बल्कि मात्र जानकारी की दृष्टि से होता है। इस पूरी प्रक्रिया में प्रयोगों का सहारा बिलकुल नहीं लिया गया था।

इसके अलावा एक प्रयास और किया गया था। एक समय पर हो.वि.शि.का. समूह ने निर्णय लिया था कि शिक्षकों में से जो स्रोत दल तैयार हुआ है, जो कार्यक्रम में प्रशिक्षण व अन्य ज़िम्मेदारियां उठा रहा है, उसका और सघन प्रशिक्षण करने की ज़रूरत है ताकि वह ये ज़िम्मेदारियां ज़्यादा सक्षमता से निभा सके। राज्य स्तरीय प्रसार की संभावना को देखते हुए भी यह ज़रूरी लग रहा था। तो इस स्रोत दल के साथ विशेष प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए गए। ऐसे दो प्रशिक्षण शिविरों में अणु-परमाणु का एक सात-दिवसीय कोर्स किया गया था। यह कोर्स पूरी तरह प्रयोग आधारित था और इसमें काफी गहराई से इन बातों को समझाने का प्रयास किया गया था। इस कोर्स में गैरें बनाकर उनके घनत्व निकालना, गैरों की परस्पर क्रियाओं का अध्ययन आदि के बाद एवोगेड्रो संख्या निकालने तक के प्रयोग किए गए थे।

मगर कई शिक्षकों व अधिकांश पालकों को लगता रहा कि बाल वैज्ञानिक में इस अवधारणा के बगैर बात अधूरी रहती है। खुद हो.वि.शि.का. समूह में कुछ लोगों का मत था कि यदि इस कारण से पूरे कार्यक्रम का विरोध हो रहा है तो इसे शामिल कर लेना चाहिए। राज्य शैक्षिक अनुसंधान व प्रशिक्षण परिषद की पाठ्य पुस्तक सम्बंधी रथायी समिति ने भी इसे शामिल करने की सलाह दी थी।

तो एक बार फिर कोशिश की गई। और यह अध्याय बाल वैज्ञानिक के तीसरे संस्करण की कक्षा 8 में एक अध्याय जोड़ दिया गया। खुशकिस्मती से या बदकिस्मती से यह संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ।

इस अध्याय का नाम था - “पदार्थों की संरचना और संकेतों की भाषा”।

इस अध्याय की शुरुआत इस बात से होती है कि शुद्ध पदार्थ क्या होते हैं और इस आधार पर तत्त्व-यौगिक और मिश्रण अलग-अलग किए जाते हैं। तब तत्त्व व यौगिक को कणों के नज़रिए से देखा जाता है। फिर संकेत व सूत्र मात्र एक भाषा के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। यह अध्याय भी मूलतः रासायनिक भाषा के व्याकरण का प्रारंभिक परिचय है। इसमें भी कहीं परमाणु व अणु की अवधारणा को स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की गई है। रासायनिक समीकरण को छोड़ दिया गया है। समझौता तो आखिर समझौता ही है।

दिलचस्प बात है कि हो.वि.शि.का. समूह ने तीस साल की लडाई के बाद समझौते के रूप में इस विषय को बाल वैज्ञानिक में स्थान देने का निर्णय लिया और दूसरी ओर अब (2005) एन.सी.ई.आर.टी. ने अंततः स्वीकार कर लिया है कि यह विषय मिडिल स्कूल पाठ्यक्रम का अंग नहीं होना चाहिए।

वैसे आज भी हो.वि.शि.का. समूह का मत है कि ये चीज़ें किसी भी सार्थक रूप में सिखाने के लिए ज़रूरी हैं कि बच्चे कई रासायनिक क्रियाओं का मात्रात्मक अध्ययन कर लें, उनमें गणितीय सम्बंधों को देख लें। इसके अलावा गणितीय हुनर भी इतने विकसित होने चाहिए कि वे सरल दशमलव की गणनाएं सहजता से कर पाएं अन्यथा होता यह है कि गणनाओं की भूलभुलैया में फँस जाते हैं, अवधारणा तक पहुंच ही नहीं पाते। अणु-परमाणु व अन्य सम्बंधित चीज़ें पदार्थों की संरचना को समझने का एक मॉडल है। कोई भी मॉडल तभी सार्थक होता है जब यथार्थ से उसकी कड़ी बनी रहे। तभी आप उस मॉडल का उपयोग यथार्थ को समझने के लिए कर सकते हैं। यदि यह समझ में न आए कि सूत्र व समीकरण वास्तविक पदार्थों व क्रियाओं के द्योतक हैं, तो अबूझ ही बने रहेंगे। इसलिए इन तक पहुंचने का रास्ता रासायनिक अनुभवों से होकर ही जाता है। एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रम में पहले ये चीज़ें कक्षा 7 में होती थीं और अब कक्षा 9 में। दोनों में ही ये अत्यंत अबूझ व रहस्यमय तरीके से शामिल की गई हैं। बच्चों की समझ की दृष्टि से इनका महत्व संदिग्ध है।

सवा रूपए का विज्ञानः किट का विकास

जब किशोर भारती और फ्रेंड्स रूरल सेंटर ने होशंगाबाद के 16 स्कूलों में विज्ञान शिक्षा के प्रयोग करने की अनुमति मांगी थी, तब एन.सी.ई.आर.टी. के फील्ड एडवाइजर ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा था: “भारत जैसे गरीब देश में ऐसे विज्ञान नहीं पढ़ाया जा सकता। हमारे देश में संसाधन नहीं हैं, पैसे नहीं हैं। यह जो विज्ञान है सम्पन्न देशों का विज्ञान है।” तो किसी भी प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के लिए यह एक प्रमुख चुनौती है कि आप जो भी प्रयोग दें उन्हें बच्चे कर सकें और उनके लिए आवश्यक सामग्री या तो स्थानीय स्तर पर उपलब्ध हो या बाहर से पहुंचाने का इन्तज़ाम किया जाए। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में इस चुनौती का सामना कई स्तरों पर किया गया।

विज्ञान किट की बात सुनते ही लोगों के मन में जो छवि उभरती है वह चमचमाते कांच के उपकरणों, टिमटिमाती बत्तियों वाले डिजिटल उपकरणों वगैरह की होती है। सबसे पहला कदम तो यह था कि इस छवि को बदला जाए क्योंकि विज्ञान के नफीस प्रयोग करने के लिए हमेशा महंगे उपकरणों की ज़रूरत नहीं पड़ती। इस बात को स्थापित करने की पुरज़ोर कोशिश हो.वि.शि.का. ने की है। वैसे इस कार्यक्रम के लिए किट की प्रकृति तो बम्बई नगर निगम के कार्यक्रम के दौरान ही तय हो गई थी। यश पाल के शब्दों में, बम्बई नगर निगम स्कूलों के शिक्षकों का “पहला शिक्षक उन्मुखीकरण शिविर 1970 के शुरू में आयोजित हुआ। संभवतः अधिकांश शिक्षकों को पहली बार उपकरणों से छेड़छाड़ करने का मौका मिला था, हालांकि उन्हें यह देखकर हैरत हुई थी कि हमने काफी मामूली किस्म की सामग्री वहां रखी थी।”

यानी यह सिद्धांत बन चुका था कि प्रयोग ऐसी सामग्री से किए जाएं जो बेगानामन पैदा न करे, जिसका उपयोग करते डर न लगे। यह बात खास तौर से तब ज़रूरी हो जाती है जब सारे प्रयोग बच्चों को खुद करना है।

लाल वैज्ञानिक के हिसाब से जो किट दिया गया था उसमें कई सारी चीज़ें ऐसी थीं जिन्हें ‘प्रयोगशाला टाइप’ कहा जा सकता है। जैसे ब्यूरोट, पिपेट, गोल पेंडे वाला फ्लास्क वगैरह। उस समय से शुरू करके किट का लगातार विकास होता गया है और इस विकास में शिक्षकों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया है।

शुरू से ही तय किया गया था कि हो.वि.शि.का. की कक्षा में बच्चे 4-4 की टोलियों में काम करेंगे। इसलिए किट सामग्री की ज़रूरत की गणना करते वक्त हमेशा टोली को इकाई माना जाता है। (वैसे यह नहीं कहा जा सकता कि टोली में काम करने की व्यवस्था का विचार किट सामग्री की ज़रूरत को कम करने के लिए किया गया था। टोली के गठन के पीछे कई अन्य विचार काम कर रहे थे; देखें ‘सीखना मिलकर होता है’) इसका मतलब यह है कि 40 बच्चों की किसी कक्षा में 10 टोलियां बनेंगी और सामग्री 10 टोलियों के लिए दी जाएगी। बताते हैं कि शुरुआती दौर में तीनों कक्षाओं (120 बच्चे, 30 टोलियां) के लिए किट की कीमत करीब 1200 रुपए थी। 1978 में ज़िला स्तरीय प्रसार से समय प्रति स्कूल किट की कीमत 800 रुपए और दुलाई का खर्च 200 रुपए था। इन कीमतों में आलमारी का खर्च शामिल नहीं है। इन वर्षों में किट की कीमत कम होने के दो प्रमुख कारण थे। एक तो कई चीज़ों को किट में से हटा दिया गया था क्योंकि उनके सर्ते विकल्प खोज लिए गए थे। दूसरा कारण यह था कि शुरुआती दौर में सामान किशोर भारती और फ्रेंड्स रूरल सेंटर द्वारा खरीदा जाता था जबकि बाद में इसे सरकारी प्रक्रिया से खरीदा जाने लगा जिसमें न्यूनतम निविदा का नियम लागू होता है। वैसे भी बड़े पैमाने पर खरीदने से कीमत में थोड़ी गिरावट तो आती ही है।

उस समय एक गणना की गई थी जिससे पता चला था कि पूरे प्रदेश (तत्कालीन मध्य प्रदेश) में ऐसा किट उपलब्ध कराने की लागत 19 करोड़ रुपए होगी। इसमें आलमारी भी शामिल है।

लिहाज़ा महंगेपन के तर्क को तो प्रारंभिक वर्षों में ही ध्वस्त कर दिया गया था।

इस किट के बारे में एक बात और उल्लेखनीय है। इसमें शुरू से ही मानकर चला गया था कि यह एकमुश्त दिया जाने वाला किट नहीं है। तीनों कक्षाओं के लिए दिए गए किट में लगभग 125 चीज़ें हैं। इनमें से कई चीज़ें (खासकर रसायन) ऐसी हैं जो प्रयोग करने पर खर्च होंगी। इसके अलावा कई चीज़ें ऐसी हैं जिनमें टूट-फूट होगी। चोरी होना या अन्य कारणों से चीज़ों का नष्ट होना भी टाला नहीं जा सकता। यदि इस सामान की क्षतिपूर्ति का इन्तज़ाम नहीं है तो जल्दी ही यह व्यवस्था चरमरा जाएगी। इसलिए शुरू से ही हो वि.शि.का. में वार्षिक क्षतिपूर्ति का प्रावधान रखा गया था। बताते हैं कि प्रति छात्र क्षतिपूर्ति की लागत सवा रुपए थी। वैसे यदि यह खर्च थोड़ा अधिक भी हो, तो अच्छी विज्ञान शिक्षा के लिए ज़रूरी मानकर इसका इन्तज़ाम किया जाना चाहिए।

1972-77 के बीच कार्यक्रम का संचालन पूरी तरह दो स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। किट उपलब्ध कराना व क्षतिपूर्ति भी उनकी ही ज़िम्मेदारी थी। उस समय व्यवस्था आसान थी। प्रशिक्षण के बाद शिक्षकों को किट सामग्री सौंप दी जाती थी। इसके बाद स्रोत दल द्वारा किए जाने वाले अनुवर्तन के दौरान शिक्षक अपनी ज़रूरतें उन्हें बता देते थे और अगले अनुवर्तन के समय यह सामग्री पहुंचा दी जाती थी। सामग्री हमेशा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहती थी।

किट के विषय में एक बात और है जिसका ज़िक्र लाज़मी है। ज़िला स्तरीय प्रसार के समय तीनों बाल वैज्ञानिकों में कुल 59 अध्याय थे। इनमें से 12 अध्याय ऐसे थे जिनमें किसी किट सामग्री की ज़रूरत नहीं थी। 14 अध्याय ऐसे थे जिनमें सारी सामग्री स्थानीय स्तर पर जुटाई जा सकती थी। यानी बाहर से किट प्रदाय का सवाल करीब 50 प्रतिशत अध्यायों के लिए ही था। इसी गणना को एक अलग तरह से करके देखा गया था कि बाल वैज्ञानिक में एक-तिहाई अध्याय ही ऐसे थे जिनमें ऐसी किट सामग्री की ज़रूरत थी जो स्थानीय बाज़ारों में नहीं मिलती। कई अध्यायों में ऐसी थोड़ी-सी सामग्री लगती है। इसका मतलब है कि मिडिल स्कूल स्तर पर प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण में किट का इन्तज़ाम कोई होवा नहीं है।

एक चिमनी की तलाश

इतने वर्षों से अच्छी चिमनी की तलाश जारी है। कई सारी गतिविधियों के लिए, खासकर रसायन शास्त्र की गतिविधियों के लिए एक अच्छे ऊष्मा स्रोत की ज़रूरत पड़ती है। ‘अच्छे ऊष्मा स्रोत’ का मतलब है कि इस पर एक उफननली में पानी को उबाला जा सके और वह काली न पड़े ताकि अवलोकन किए जा सकें। यह सस्ता होना चाहिए और गांवों में उपलब्ध ईंधन से चलना चाहिए। जाहिर है भरोसेमंद स्पिरिट लैंप नहीं चल सकता क्योंकि स्पिरिट (मिथाइल अल्कोहल) सस्ता नहीं होता और इसे प्राप्त करने के लिए लायसेंस की ज़रूरत होती है। मिट्टी का तेल (केरोसीन) एकमात्र हायड्रोकार्बन है जो आसानी से मिल जाता है।

इसी आधार पर चिमनी का उपयोग ऊष्मा स्रोत के रूप में करना तय हुआ। मगर इनकी लौ में खूब काला-काल धुआं निकलता है और बर्तन जल्दी ही काला हो जाता है। इसके अलावा यदि एक कमरे में 8-10 चिमनियां जल रही हों तो दम घुटने लगता है।

कई वर्षों से कोशिश हो रही है कि इन चिमनियों की लौ को नीला व धुआंरहित बनाया जा सके। कई विचार आज़माए गए हैं, शोध पत्रिकाओं की खाक छानी गई है, इंजीनियरों और स्थानीय कारीगरों ने दिमाग लगाया है, हवा, ईंधन और ऊष्मा के मानकों को घटाया-बढ़ाया गया है मगर कोई चमत्कार नहीं हुआ है। वैसे इसकी कई डिज़ाइन्स बनी हैं मगर एक भी ऐसी नहीं जिसे स्कूल में आसानी से बनाया व उपयोग किया जा सके।

इस सम्बंध में हमें नाइजीरिया जैसे अन्य देशों में किए गए प्रयास भी देखने का मौका मिला। ऐसा लगता है कि भारत ही नहीं सारे विकासशील देशों में ग्रामीण स्कूल में विज्ञान शिक्षा को एक केरोसीन चिमनी की दरकार है जो सस्ती हो और धुआं पैदा न करे।

फिर भी इसका इन्तज़ाम एक मुश्किल काम रहा है। कई बार स्कूलों में ऐसी परिस्थिति निर्मित हुई है कि किट के अभाव में शिक्षण कार्य प्रभावित हुआ है।

1982-85 में तो हालत यह हो गई थी कि शिक्षकों के साथ संगम केंद्र स्तर पर होने वाली मासिक गोष्ठियों में किट का अभाव ही प्रमुख मुद्दा रहता था। ज़िला रत्तीय प्रसार के समय हो.वि.शि.का. स्कूलों में किट प्रदाय की ज़िम्मेदारी एन.सी.ई.आर.टी. ने ली थी। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के तत्त्वावधान में पहले तीन वर्षों (1978-80) तक किट का वितरण संभागीय शिक्षा अधीक्षक के माध्यम से हुआ। उस समय इसे खरीदने व वितरित करने के ढांचे विकसित किए गए। मगर इसके बाद क्षतिपूर्ति पर गाड़ी अटक गई। क्षतिपूर्ति का काम म.प्र. शासन को करना था। म.प्र. शासन को धकेलकर यह काम करवाना काफी श्रमसाध्य साबित हुआ; सिर्फ धन राशि के आवंटन की दृष्टि से नहीं अपितु प्रक्रियाओं की दृष्टि से भी।

इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रक्रियाएं स्थापित की गई हैं। एक तो किट को तीन भागों में बांटा गया है। एक भाग वह है जो स्थानीय स्तर पर जुटाया जा सकता है (खरीदने की ज़रूरत नहीं है)। दूसरा भाग वह है जो स्थानीय स्तर पर उपलब्ध है और स्कूलों को इस खरीदने का अधिकार दिया जा सकता है। इसके बाद 20-25 चीज़ें ऐसी बचती हैं जिनकी खरीद बाहर से करके वितरित करने की ज़रूरत पड़ती है। इसमें शासन ने एक महत्वपूर्ण कदम यह उठाया कि मिडिल स्कूलों को यह अधिकार दिया कि वे अपने गतिविधि कोश (ए.एफ.) में से विज्ञान किट सामग्री खरीद सकते हैं। आगे चलकर मिडिल स्कूल में प्रति छात्र 50 पैसे विज्ञान शुल्क भी लागू किया गया और इसे खर्च करने का अधिकार स्कूल को दिया गया।

एक पैरा में लिखी यह प्रक्रिया लागू करवाने के 10-15 सालों तक अथक परिश्रम करना पड़ा था। स्कूलों में किट रखने के लिए अलमारी का इन्तज़ाम टेढ़ी खीर साबेत हुआ। मगर ये सारी मुश्किलें सिर्फ पैसे की कमी का परिणाम नहीं थीं।

इस संदर्भ में कई विकल्पों पर विचार किया गया था। जैसे एक विचार यह था कि किट सम्बंधी कुछ समस्याओं का हल तो तभी निकल सकता है जब सम्बंधित अध्याय का अवधारणात्मक ढांचा बदल दिया जाए। जैसे शरीर रचना के अध्ययन में विच्छेदित चूहे का अवलोकन एक महत्वपूर्ण गतिविधि है। विच्छेदित चूहे पहुंचाना एक दिक्कत का काम है। मगर इसे किट से तभी हटाया जा सकता है जब अध्याय में भारी फेरबदल किए जाएं। इसी प्रकार से प्रकाश संश्लेषण के अध्ययन हेतु पत्तियों का हरा रंग हटाने हेतु अल्कोहल लगता है। इस प्रयोग को हटा दें तो समस्या हल हो जाएगी। मगर स्वीकार्य नहीं था।

इस बारे में भी विचार हुआ था कि क्या किट प्रदाय की एक समांतर व्यवस्था खड़ी की जाए। इस मामले में कुछ पहल की गई थी जिसका सकारात्मक परिणाम भी मिला था। विज्ञान शुल्क लागू हो जाने के बाद स्कूलों के पास किट क्षतिपूर्ति के लिए पर्याप्त धन राशि उपलब्ध हो गई थी और वे किट सामग्री खरीदने को इच्छुक भी थे। मगर कुछ सामान ऐसा है जो स्थानीय बाज़ारों में नहीं मिल पाता और यदि एक-एक स्कूल जाकर यह सामग्री भोपाल या इन्दौर के बाज़ार से खरीदे तो काफी महंगी पड़ती है। इसके अलावा एक समस्या यह भी थी कि कुछ चीज़ें (जैसे रसायन) एक न्यूनतम मात्रा से कम नहीं खरीदी जा सकतीं जबकि एक-एक स्कूल को इनकी ज़रूरत अल्प मात्रा में ही होती है। इन दोनों दिक्कतों को देखते हुए एकलव्य ने तय किया कि वह अपनी ओर से यह सामग्री खरीदकर रखेगा और ज़रूरत के अनुसार स्कूल इसे खरीद सकते हैं। यह व्यवस्था काफी कारगर साबित हुई थी और स्कूलों ने इसका पूरा लाभ उठाया था।

मगर फिर भी शासन पर दबाव डालकर किट की आपूर्ति करवाना किट क्षतिपूर्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। 30 सालों के इतिहास में किट क्षतिपूर्ति के लिए किए गए प्रयासों पर एक पूरी किताब लिखी जा सकती है और शायद लिखी भी जानी चाहिए। मगर इसका एक दूसरा पक्ष भी है, जो शिक्षकों व बच्चों के नवाचारी रवैये से जुड़ा है। जब किट की क्षतिपूर्ति करवाने की जद्दोजहद चल रही थी, उस दौरान किट का विकास भी जारी रहा और अब हम उसी प्रक्रिया पर ध्यान देंगे।

हो.वि.शि.का. में भागीदार शिक्षकों में यह बात तो ज़ड़ पक़ड़ चुकी थी कि विज्ञान के अधिकांश नफीस प्रयोग भी काफी साधारण सामग्री से हो जाते हैं। हां, लेंस, सूक्ष्मदर्शी, चुम्बक, दिक्षुचक, उफन नलियों

जैसी कुछ विशिष्ट चीज़ें ज़रूर हैं। पिछले वर्षों में शिक्षकों व छात्रों ने कई चीज़ों के विकल्प खोजे हैं और इनमें से कई विकल्प आज बाल वैज्ञानिक के अंग हैं। विकल्प खोजने के दो पहलू हैं। एक तो यह है कि किसी प्रयोग में किसी चीज़ की जगह किसी अन्य चीज़ का उपयोग कर लेना और दूसरा यह है कि पूरे प्रयोग की डिज़ाइन को इस तरह बदलना कि उन चीज़ों की ज़रूरत ही न पड़े। दोनों प्रक्रियाओं में प्रयोग के उद्देश्य की समझ और जुगाड़ करने की प्रवृत्ति की झलक मिलती है। जो विकल्प खोजे गए वे या तो अपेक्षाकृत सर्ते हैं या स्थानीय रूप से उपलब्ध हैं।

एक उदाहरण बार-बार सामने आता है। फूलों के विच्छेदन में सुई की ज़रूरत पड़ती थी। एक बच्चे ने देखा कि बबूलें का कांटा भी बढ़िया काम करता है। जल्दी ही यह बात चारों ओर फैल गई और धीरे-धीरे बाल वैज्ञानिक में सुई का स्थान बबूल के कांटे न ले लिया। और सबसे बड़ी बात तो यह रही कि बबूल का कांटा बेहतर साबित हुआ। आगे चलकर बबूल का कांटा कई जगहों पर प्रयुक्त होने लगा। वाल्व ट्यूब के साथ जोड़कर इसका एक डिवाइडर भी बनाया गया।

इसी प्रकार का एक उदाहरण फिनॉफथेलीन का है। इसका उपयोग अम्ल-क्षार के सूचक के रूप में किया जाता है। कभी किसी शिक्षक को पता चला कि वैक्यूलक्स और पर्गॉलक्स जैसी जुलाब की गोलियों में शुद्ध फिनॉफथेलीन ही होता है; बन गया काम। बाद में औषधि विशेषज्ञों ने पाया कि फिनॉफथेलीन अच्छी दवा नहीं है और इस पर प्रतिबंध लग गया। मगर किसी अन्य शिक्षक को पता चला कि एलोपैथी में तो फिनॉफथेलीन पर प्रतिबंध लगा है किन्तु आयुर्वेदिक औषधि विरेचनी में फिनॉफथेलीन का उपयोग होता है और उस पर प्रतिबंध नहीं है; तो गाड़ी चल गई।

इस तरह के ढेरों उदाहरण मिलते हैं। एक समय पर ऐसे विकल्पों को लेकर हो.वि.शि.का. में एक पुस्तिका प्रकाशित की गई थी - 'जब स्कूल में किट नहीं पहुंचा'। इसमें ऐसे कई उदाहरण बताए गए थे। परखनली की बजाय इंजेक्शन की शीशियां, डिलीवरी ट्यूब और कॉर्क की बजाय बॉल पेन की खाली रिफिल और वाल्व ट्यूब और पता नहीं क्या-क्या।

किट में एक और तरह का नवाचार यह हुआ कि एक ही चीज़ से कई-कई काम किए जाते हैं। इसका एक उदाहरण प्लास्टिक के घनाकार गुटकों का है। ये गुटके 1 घन से.मी. आयतन के हैं और मूलतः इनका उपयोग आयतन की इकाई के रूप में किया जाता था। मगर किसी को लगा कि इनकी प्रत्येक सतह 1 वर्ग से.मी. की है और इनका उपयोग क्षेत्रफल की इकाई के रूप में सतहों को ढंकने के लिए भी किया जा सकता है। फिर कभी देखा गया कि इनका वज़न लगभग 1 ग्राम है, तो ये बांट का काम देने लगे और जब संयोग और संभाविता का अध्याय विकसित हुआ तो यही गुटके पांसे बने।

इस तरह के नवाचारों के लिए जिस माहौल की ज़रूरत होती है, वह हो.वि.शि.का. ने उपलब्ध कराया था। ऐसा नहीं है कि ये शिक्षक जुगाड़ नहीं थे। हुआ यह कि जब उनके जुगाड़ों को स्वीकृति व मान्यता मिली तो यह प्रेरणा का स्रोत बन गई।

इसी क्रम में माचिस से बने सूक्ष्मदर्शी का ज़िक्र मुनासिब है। बाल वैज्ञानिक के प्रथम संस्करण में माचिस के खोके से सूक्ष्मदर्शी बनाने की एक विधि दी गई थी। आज माचिस के सूक्ष्मदर्शी के कई मॉडल्स उपलब्ध हैं। दरअसल इस जुगाड़ सूक्ष्मदर्शी का बुखार तो कुछ ऐसा चढ़ा कि एक शिक्षक ने तो अनगिनत मॉडल्स बना-बनाकर एक किताब ही तैयार कर दी, जिसे एकलव्य ने प्रकाशित भी किया है।

टूटी उफननली से हैण्डपंप बनाना हो या विद्युत मोटर की डिज़ाइन में सुधार की बात हो, यह हो.वि.शि.का. समूह के लिए अत्यंत संतोष का विषय है क्योंकि इसमें कार्यक्रम की सफलता का संकेत छिपा है।

शिक्षक निर्देशिका

जैसा कि पहले भी कहा गया है बाल वैज्ञानिक अपने आप में संपूर्ण नहीं है। इसमें मूलतः प्रयोग करने के निर्देश दिए गए हैं और कुछ प्रश्न दिए गए हैं। ये प्रश्न इस तरह बनाए गए हैं कि प्रयोग के बाद ये उठेंगे ही यानी उठने चाहिए। कुछ प्रश्न बच्चों का ध्यान प्रयोग के अवलोकनों की ओर आकर्षित करने के लिए हैं और कुछ प्रश्न इन अवलोकनों का विश्लेषण करने में मदद देने के लिए हैं। एक मायने में यदि एक अच्छा शिक्षक मौजूद हो, तो ये प्रश्न व प्रश्नों के आधार पर चलने वाली प्रक्रिया स्वतः चलेगी और बच्चे काफी कुछ सीख पाएंगे। और उस प्रक्रिया में एक बात यह भी होगी कि प्रश्नों की प्रकृति बच्चों व शिक्षक की आपसी समझ से निर्धारित होगी। वह कहीं ज्यादा सार्थक हो सकता है। मगर कक्षा में शिक्षक यह स्वतः स्फूर्त भूमिका निभाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। यह असमर्थता कई बजहों से हो सकती है। एक तो विषयवस्तु की पूरी समझ न होने के कारण हो सकती है। या इसका कारण यह भी हो सकता है कि प्रयोग करने के बाद की प्रक्रिया पर अपनी पकड़ कमज़ोर है या आत्म विश्वास नहीं है। प्रयोग वगैरह करने के हुनर की भी दिक्कत हो सकती है। सारे शिक्षक औपचारिक रूप से विज्ञान पढ़े भी नहीं हैं।

एक समस्या यह भी आती है कि आम तौर पर शिक्षकों को पूरे अध्याय का अवधारणात्मक ढांचा स्पष्ट नहीं होता। एक-एक प्रयोग से उभरे प्रश्नों को तो वे हल करवा लेते हैं मगर इन सबको एक निष्कर्ष में गुंथना उनके लिए कठिन होता है। विभिन्न अध्यायों के परस्पर सम्बन्ध समझते हुए आगे बढ़ना तो और भी मुश्किल है। उस समय पढ़ाई जा रही अवधारणा की जो कड़ियां कई अन्य अवधारणाओं या परिघटनाओं से होती हैं, उनसे शिक्षक प्रायः अनभिज्ञ होते हैं।

कुछ हद तक तो इन कमियों को तीन-तीन सप्ताह के सालाना प्रशिक्षण के दौरान संबोधित किया जाता है। मगर एक बार के इस प्रशिक्षण से बात नहीं बनती। इसलिए शिक्षक के साथ सतत अंतर्क्रिया के लिए अनुवर्तन व मासिक गोष्ठियों की व्यवस्था बनाई गई थी। चाहे प्रशिक्षण हो या मासिक गोष्ठी, इनमें शिक्षक बहुत रुचि से भाग लेते थे मगर अंत में उनके पास (बहुत हुआ तो) अपने नोट्स ही रह जाते थे। यानी पढ़ाते समय यदि कोई दिक्कत आए तो उनके पास कोई फौरी संदर्भ नहीं होता था। अनुवर्तन और मासिक गोष्ठियों की बात प्रशिक्षण के खंड में की जाएगी।

शिक्षकों की तैयारी की इस कमी को पूरा करने के लिए शिक्षक निर्देशिका एक आवश्यक चीज़ है। हो.वि.शि.का. में शिक्षक निर्देशिका तैयार करने व उपयोग करने का अनुभव काफी मिला-जुला रहा है। शुरुआती दौर में जब अध्याय तैयार किए जा रहे थे, जब बाल वैज्ञानिक का पहला संस्करण संकलित किया जा रहा था, तब से ही शिक्षक निर्देशिकाएं बनाने का काम भी शुरू हो गया था।

शिक्षक निर्देशिका को लेकर एक डर शुरू से ही व्याप्त रहा था। डर यह था कि कहीं ये शिक्षक निर्देशिकाएं बाल वैज्ञानिक की कुंजी न बन जाएं - यानी कहीं ऐसा न हो कि इनमें सारे प्रश्नों के उत्तर सिलसिलेवार मिल जाएं और खोज की प्रक्रिया कमज़ोर हो जाए। आखिर बाल वैज्ञानिक जैसी पुस्तक की शिक्षक निर्देशिका कैसी हो?

इस सवाल का जवाब हमें मिलता है शिक्षक निर्देशिका के लिए तैयार किए गए दिशानिर्देशों में।

शिक्षक निर्देशिका के लिए दिशा निर्देश

- इनमें बाल वैज्ञानिक के हरेक प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए। शि.नि. कोई कुंजी नहीं है। प्रश्नों के जवाब मुहैया करने से यह सुनिश्चित हो जाएगा कि कक्षा में प्रयोग या स्वतंत्र चिंतन नहीं होगा।

- शि.नि. में सबसे पहले अध्याय के शैक्षणिक व वैज्ञानिक उद्देश्य स्पष्ट कर दिए जाने चाहिए।

शैक्षणिक उद्देश्य शामिल करना ज़रुरी है क्योंकि शिक्षक आम तौर पर इनकी उपेक्षा करते हैं।

3. प्रयोगों की सफलता के लिए ज़रुरी सावधानियां और सुरक्षा के उपायों के बारे में सोचकर उनका उल्लेख किया जाना चाहिए।

4. किसी भी प्रयोग की उसी अध्याय के अन्य प्रयोगों से व अन्य अध्यायों से संभावित कड़ियों का उल्लेख किया जाना चाहिए ताकि शिक्षक को चर्चा करवाने में मदद मिले। अनुभव बताता है कि कक्षाओं में इस तरह की कड़ियों की पूरी तरह उपेक्षा हुई है।

5. जहां कहीं भी ज़रुरी हो यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि वहां बच्चों से यह कहा जाना चाहिए कि उन्होंने जो कुछ भी सीखा है, उसका निचोड़ अपने शब्दों में व्यक्त करें।

6. हर प्रयोग या प्रयोगों के एक समूह के बाद चर्चा के तरीके की रूपरेखा शिक्षक को बताई जानी चाहिए।

7. अवधारणाएं समझने की बच्चों की क्षमता के लिहाज से अध्याय के विभिन्न चरणों की जटिलता का उल्लेख भी शि.नि. में होना चाहिए। इससे शिक्षक को अपने विवेक से अध्याय को पुनर्व्यवस्थित करने में मदद मिलेगी।

8. यह अपेक्षित है कि कई बार प्रयोगों से ऐसे आंकड़े सामने आएंगे जिनकी व्याख्या मुश्किल होगी। ऐसी जगहों पर अतिरिक्त प्रयोगों के सुझाव दिए जाने चाहिए।

9. यदि यह लगता है कि कोई प्रयोग खुले परिणामों वाला (open ended) है, तो शि.नि. में ऐसे वैकल्पिक प्रयोग सुझाए जाने चाहिए जिनकी मदद से आगे खोजबीन की जा सके।

10. ग्रामीण पर्यावरण के भरपूर उपयोग के सुझाव दिए जाने चाहिए। प्रयोगों में स्थानीय सामग्री का उपयोग, परिभ्रमण और एकीकृत प्रोजेक्ट वगैरह के सुझाव दिए जा सकते हैं।

11. ऐसे अवसर इंगित करना ज़रुरी है जब बच्चे चित्र बना सकते हैं क्योंकि चित्रों से समझ व अभिव्यक्ति बढ़ती है। इस तरह के दिशानिर्देश के अभाव में चित्रात्मक प्रस्तुतीकरण के अच्छे मौके गंवा दिए जाते हैं।

बहरहाल, लगभग सारे अध्यायों की शिक्षक निर्देशिकाएं तैयार की गई थीं। लेकिन अंततः अंतिम चरण (यानी मुद्रण व शिक्षकों के बीच वितरण) तक सिर्फ कक्षा 8 की चंद निर्देशिकाएं ही पहुंची। इनका प्रकाशन प्रायोगिक संस्करण के रूप में किया गया था और इन्हें शिक्षकों को वितरित किया गया था। उम्मीद यह थी कि शिक्षकों से मिले फीडबैक के आधार पर इन्हें संशोधित करके पुरस्तक रूप में प्रकाशित किया जाएगा।

मगर संभवतः अधिकांश शिक्षकों ने इनका उपयोग किया ही नहीं। कारण? एक कारण तो यही लगता है कि हमारे स्कूलों में कक्षा से पहले तैयारी करने की कोई धारणा ही नहीं है। आम तौर पर तो शिक्षक कक्षा में पहुंचने के बाद ही सोचना शुरू करते हैं कि आज क्या करना है। अक्सर कक्षा में पहुंचने के बाद वे बच्चों से पूछते हैं कि क्या चल रहा था। यहां तक कि बाल वैज्ञानिक की कक्षा होने पर भी अधिकांश शिक्षक ऐसा ही करते थे। इसलिए बच्चे पूरे समय भाग-भागकर सामग्री लाते रहते थे। एक दिन पहले अध्याय के बारे में सोचना तो अनसुनी बात थी। इसलिए पहले से यह सोचना कि किसी अध्याय को कैसे करना है, कौन-से सवाल उठेंगे, किस प्रयोग को करने के लिए किस तरह की तैयारी कर लेना ज़रुरी होगी, वगैरह होता ही नहीं था। कक्षा पूरी होने के बाद यह सोचना भी अक्सर नहीं होता था कि कौन से सवाल अनुत्तरित रह गए थे या कौन-सी बात स्पष्ट नहीं हो पाई थी, या किस प्रयोग में क्या दिक्कत आई थी। ऐसी स्थिति में शिक्षक निर्देशिका देखने की नौबत ही नहीं आती थी। वार्तव में एक शिक्षक ने इस बारे में बताया:

द्वितीय प्रारूप

“अनुभवी शिक्षक को निर्देशिका की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। यदि किसी शिक्षक ने प्रशिक्षण न लिया हो, तो उसे ज़रूर मदद मिल सकती है।”

कहने का मतलब है कि अनुभव से वे सारी बातों का पूर्वानुमान कर सकते हैं और विषय वस्तु में तो वे पारंगत हो ही गए हैं।

लिहाज़ा शिक्षक निर्देशिका पर फीडबैक कभी प्राप्त नहीं हुआ और आगे के काम का जोश भी ठंडा पड़ गया। कक्षा 8 की इन चंद शिक्षक निर्देशिकाओं के बाद कोई और शिक्षक निर्देशिका शिक्षकों तक नहीं पहुंची हालांकि अन्य अध्यायों की निर्देशिकाएं भी तैयार की गई थीं।

जब अगला संस्करण बन रहा था तब भी स्थिति यह रही कि कुछ अध्यायों की निर्देशिकाएं तैयार तो की गई मगर प्रक्रिया वहीं थम गई। इसे हो.वि.शि.का. क्रियांवयन की एक खामी ही माना जाएगा कि शिक्षकों को प्रक्रिया के इस पहलू के प्रति जागरूक न बनाया जा सका।

सवालीराम

जब होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की कल्पना की गई थी, तो यह तो स्पष्ट ही था कि जब बच्चे खोज पद्धति का अभ्यास करेंगे, तो कई सवाल उभरेंगे क्योंकि यह कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो एक पिटी पिटाई लीक पर चलती रहे। यह भी स्पष्ट था कि पूरा शिक्षण बच्चों की जिज्ञासाओं और परिवेश से शुरू होता है या होना चाहिए और शिक्षण प्रक्रिया का उद्देश्य बच्चों की जिज्ञासा को समाप्त करना नहीं बल्कि बढ़ाने का होना चाहिए। बच्चों की जिज्ञासा कोई बंधी हुई चीज़ नहीं है। वह किसी पाठ्यक्रम की मोहताज नहीं है, न ही उसे किसी पाठ्यक्रम के ढांचे का रूप दिया जा सकता है। शिक्षा का कोई भी कार्यक्रम मात्र इतना कर सकता है कि बच्चों के किसी भी सवाल को अवैध न माने और इतना लचीलापन रखे कि बच्चों के सवालों को उचित स्थान मिल सके। इसका अर्थ यह भी है कि कक्षा में बच्चों के सवालों की छानबीन की गुंजाइश हो और शिक्षक इसके लिए तैयार हो, शैक्षिक दृष्टि से भी और सांस्कृतिक दृष्टि से भी। इसका एक तरीका यह भी है कि पाठ्यक्रम को काफी हद तक बच्चों के आम सवालों के धरातल पर बुना जाए।

मगर ऐसा तो हो नहीं सकता कि आप बच्चों के सारे अपेक्षित सवालों का पूर्वानुमान कर लें या जो सवाल उभरें उन सबके जवाब या जवाब पाने के तरीके शिक्षक के पास उपलब्ध हों। यह भी हो सकता है कि बच्चों के कई सवाल उस समय कक्षा की विषयवस्तु से थोड़े अलग हों और शिक्षक तत्काल उनको लेने से बचना चाहें क्योंकि वह ‘अनावश्यक’ भटकाव हो सकता है। बच्चे ऐसे सवालों को लेकर कहां जाएं? क्या बच्चों को मन मारकर बैठ जाना होगा?

बच्चों के ऐसे सवालों को संबोधित करने के लिए होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम में सवालीराम की कल्पना की गई थी। यह एक काल्पनिक पात्र था जिसे बच्चे पत्र लिखते थे, अपने प्रश्न पूछते थे, पाठ्यक्रम संबंधी समस्याएं बताते थे, कभी-कभी शिक्षक की शिकायत भी करते थे। ‘सवालीराम, द्वारा ज़िला शिक्षा अधिकारी, होशंगाबाद 461 001’ होशंगाबाद, हरदा व 13 अन्य ज़िलों के कई बच्चों के लिए एक जानापहचाना नाम व पता था। यहां तक कि होशंगाबाद विज्ञान के कई भूतपूर्व छात्र निरंतर सवालीराम के संपर्क में रहे।

यह ज़रूरी नहीं है कि बच्चों के सारे सवाल कक्षा के दौरान ही उभरें - आखिर यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि बच्चे सिर्फ कक्षा में आकर ही सीखने का काम करते हैं। उनका सीखना तो लगातार चलता रहता है। आम तौर पर बच्चे इन सवालों को अपने तक ही सीमित रखते हैं क्योंकि कोई ऐसी जगह नहीं होती जहां इन्हें पूछा जा सके। परंपरागत कक्षा में तो इन सवालों को वैसे भी ‘फालतू’ माना जाता है। मगर एक नई पद्धति जिसमें शिक्षा को उनके पर्यावरण से जोड़ने की बात हो रही हो, कैसे किसी भी सवाल को फालतू मान सकती है? यही बात बाल वैज्ञानिक के प्रथम संस्करण (1978) में प्रकाशित सवालीराम की चिट्ठी में भी कही गई थी:

“जब कभी भी तुम्हारे मन में सवाल उठे, तो गुरुजी से पूछना और अपने साथियों से चर्चा करना। कोई भी सवाल बेकार नहीं होता। शायद कुछ सवालों के उत्तर तुरंत न मिलें। तब उन सवालों को अपनी कॉपी में लिखकर रख लो। मौका मिलने पर किसी और से पूछने पर उत्तर मिल सकते हैं। शायद बाद में तुम्हें उनके उत्तर या कोई नए प्रयोग समझ में आ जाएं।अपने नए-नए सवाल मुझे लिखना।”

अगली कक्षाओं में सवालीराम बच्चों से विज्ञान शिक्षा के कई मुद्दों पर संवाद स्थापित करने का प्रयास करता है।

कक्षा में उठने वाले सवालों से लेकर बच्चों के अपने जीवन के तमाम सवाल पोस्ट कार्डों के माध्यम से सवालीराम तक पहुंचते थे।

बच्चों के सवाल सिर्फ बाल वैज्ञानिक से उभरे सवाल नहीं होते थे।

बच्चों के बीच यह धारणा थी कि सवालीराम नाम का कोई हाड़-मांस का व्यक्ति है जो उनके सवालों के जवाब लिख भेजता है। इसलिए वे सवालीराम को कभी सवालीराम चाचा, तो कभी सवालीराम भैया कहकर भी संबोधित करते थे। कक्षा में जब ठीक से प्रयोग नहीं होते, तो बच्चे बाल वैज्ञानिक लिखने के लिए सवालीराम को कोसते भी थे। बाल वैज्ञानिक में कतिपय विषयवस्तु (जैसे अणु, परमाणु) के अभाव और उसके कारण कक्षा 9 में होने वाली कथित समस्या को लेकर भी सवालीराम के साथ बच्चों का संवाद चलता था। चूंकि बच्चे सवालीराम को एक सचमुच का इन्सान समझते थे, इसलिए उसके फोटो की मांग भी अक्सर करते थे। इससे एक शिक्षक इतने प्रेरित हुए कि उन्होंने सवालीराम से पूछे गए सवालों को जोड़-जोड़कर एक चित्र बना डाला था। वैसे इसका एक बुरा प्रभाव भी हुआ था जिसका ज़िक्र अभी थोड़ी देर में किया जाएगा।

सवालीराम को मिलने वाले पत्रों का एक विश्लेषण किया गया था कि बच्चों के सवाल मुख्यतः किस तरह के हैं।

1. बाल वैज्ञानिक से पूछे गए सवाल - ये सवाल बच्चे सीधे बाल वैज्ञानिक से उतारकर भेज देते थे। वास्तव में इनके जवाब उन्हें प्रयोग करके स्वयं खोजना चाहिए। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह हो सकता है कि स्कूल में प्रयोग वगैरह न कराए जा रहे हों और इसलिए बच्चों को प्रश्नों के उत्तर खोजने में दिक्कत आ रही हो। यह भी हो सकता है कि प्रयोग करने के बाद भी वे उत्तर न समझ पाए हों। या यह भी हो सकता है कि चिट्ठी लिखने की इच्छा हो रही है मगर सवाल नहीं सूझा रहा। बहरहाल, सवालीराम आम तौर पर इन सवालों के जवाब में यही लिखता था कि इन सवालों के जवाब बच्चे को खुद खोजना है और यदि कोई दिक्कत आ रही हो, तो लिखें ताकि कोई तरीका सुझाया जा सके।

2. बच्चों के अपने सवाल जिनका सम्बंध कक्षा से है। ये ऐसे सवाल होते थे जो कक्षा में उठते थे मगर वहाँ इनका जवाब नहीं मिल पाता था। इस मामले में सवालीराम की नीति यह होती थी कि बच्चे को कोई प्रयोग या अन्य कोई तरीका सुझा दे जिससे उस सवाल का जवाब पाने में मदद मिलेगी। कभी-कभी सीधे जवाब दे भी दिया जाता था।

3. बच्चों के आम अनुभव से उपजे सवाल - इनके बारे में भी नीति वही होती थी जो कक्षा सम्बंधी सवालों के बारे में थी। अंतर सिर्फ इतना होता था कि यह बताना होता था कि उसके सवाल का सम्बंध किस अवधारणा या प्रयोग से है।

4. सवालीराम के चित्र से निकले सवाल - सवालीराम का उपरोक्त चित्र बाल वैज्ञानिक के दूसरे संस्करण (1987) के पिछले आवरण पर छापा गया था। यह चित्र छपने के बाद काफी संख्या में ऐसे प्रश्न आने लगे थे।

4. शिकायतें - बहुत कम ऐसे पत्र होते थे जिनमें बच्चे शिकायतें करते थे।

सवालीराम को प्राप्त प्रश्नों का विभाजन

बच्चे की कक्षा	मौलिक सवाल	बाल वैज्ञानिक के सवाल	सवालीराम चित्र के सवाल
6	67%	8%	25%
7	60%	16%	24%
8	79%	12%	9%

जब स्कूल खुले होते थे तो प्रति माह 25 पत्र आना सहज बात थी। मगर जब सवालीराम नियमित रूप से जवाब देता, तो पत्रों की संख्या प्रति माह 150 तक पहुंच जाती थी। यह बताना लाज़मी है कि हर पत्र

में एक से ज्यादा सवाल होते थे और अधिकतम 20 प्रश्नों वाले पत्र आए हैं। अलबत्ता परीक्षा के दौरान पत्र कम हो जाते थे। शायद कई बच्चों को पत्र लिखने की प्रेरणा अपने सवाल से नहीं मिलती थी बल्कि जवाब पाने की इच्छा से मिलती थी। ज़रा कल्पना कीजिए, दूर दराज के किसी गांव में 11-14 साल के किसी बच्चे के अपने नाम से चिट्ठी आए। जहां चिट्ठी आना ही इतनी बड़ी घटना होती है, वहां एक बच्चे के नाम चिट्ठी आना कितना रोमांचक होता होगा।

बहरहाल, जिस भी कारण से हो बच्चे सवालीराम को खूब पत्र लिखते थे। यह कहना गलत न होगा कि सब बच्चों को ऐसा एक पात्र उपलब्ध हो, तो बहुत अच्छा होगा।

इसके बाद यह बात करना भी ज़रूरी है कि इन पत्रों के जवाब देने की व्यवस्था क्या थी।

सवालों के जवाब

संभवतः यह सोचा गया था कि हो.वि.शि.का. के संचालन के लिए संभागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय में स्थापित की गई विज्ञान इकाई इस कार्यक्रम की सारी शैक्षणिक जिम्मेदारियां संभाल लेंगी। दरअसल ज़िला स्तरीय प्रसार के समय यह प्रमुख विचार था कि कार्यक्रम मुख्यधारा का अंग बन जाएगा, क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय प्रशिक्षण की जिम्मेदारी निभाएगा, संभागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय सतत प्रशिक्षण, मूल्यांकन वगैरह का दायित्व उठा लेगा। सवालीराम का पता भी मार्फत संभागीय शिक्षा अधीक्षक ही था। मगर यह इकाई कार्यक्रम की चुनौतीपूर्ण शैक्षिक जिम्मेदारी उठाने में पूरी तरह नाकाम रही। उनकी बात तो अलग से करेंगे मगर यहां प्रासंगिक बात यह है कि सवालीराम के पत्रों के जवाब देने का काम पहले किशोर भारती और आगे चलकर एकलव्य को उठाना पड़ा था। किशोर भारती के पास इतने कार्यकर्ता कभी न रहे कि वह इस काम को सही ढंग से अंजाम दे पाए। एकलव्य में भी कार्यक्रम के अन्य कामों की भागमभाग के चलते सवालीराम कभी एक प्राथमिकता नहीं बना। इसलिए होता यह था कि बीच-बीच में अचानक जब बच्चों के ढेर सारे पत्र इकट्ठे हो जाते थे, तो एक अभियान के रूप में उनके जवाब दिए जाते थे। बीच में एक समय ज़रूर ऐसा आया था जब एकलव्य में कोई न कोई कार्यकर्ता नियमित रूप से इस काम को करने के लिए नियुक्त किया गया था। उस समय पत्रों के जवाब नियमित रूप से जाने का परिणाम यह हुआ था कि पत्रों की बाढ़ आ गई थी जिसकी वजह से यह काम और मुश्किल हो गया।

एक अकेले कार्यकर्ता द्वारा सवालीराम के पत्रों के जवाब देने से नियमितता तो आई मगर साथ ही जवाबों में बोझिलता भी आती गई। यह गौरतलब है कि सवालीराम की चिट्ठियों का जवाब देना एक सृजनात्मक काम है। इसे एक व्यक्ति लगातार (रोजाना 10-12 सवालों की दर से) करे तो उसकी शारीरिक, मानसिक व सृजनात्मक क्षमता जवाब दे जाती है। इसके अलावा एक समस्या यह भी आती है कि बच्चों के सवाल किसी विषय से तो बंधे नहीं होते। कई सवाल ऐसे होते थे जिनका सम्बंध एक से अधिक विषयों से होता था। ऐसे सवालों के जवाब देना एक अकेले व्यक्ति के लिए मुश्किल था। वास्तव में इसे एक टीम द्वारा किया जाना चाहिए जो कभी संभव न हो सका। यह कोशिश ज़रूर हुई थी कि नियमित रूप से इन सवालों पर एक बड़ा समूह चर्चा करे और फिर एक व्यक्ति इसके आधार पर जवाब दे मगर यह बहुत व्यवस्थित ढंग से हो नहीं पाया।

सवालों में जितनी विविधता होती थी, जवाबों में भी उसी पैमाने की विविधता दरकार थी। कभी आप प्रश्न का सीधे जवाब दे रहे हैं, तो कभी बच्चे को कह रहे हैं कि प्रश्न को और स्पष्ट करे। कभी उत्तर पाने के लिए कोई प्रयोग सुझा रहे हैं, तो कभी सवाल का जवाब सवाल के रूप में ही दे रहे हैं। कभी-कभी उटपटांग सवाल पूछने के लिए डांट भी रहे हैं और कभी उनकी शिकायत दूर करने के लिए अन्य लोगों से संपर्क का आश्वासन दे रहे हैं। मुख्य बात यह है कि यह बच्चों के साथ एक जीवंत संपर्क होता था और इसमें उसी जीवंतता के साथ एक शैक्षिक विमर्श को भी चलाना होता था। एक व्यक्ति के लिए यह सब थोड़ा ज्यादा ही साबित होता था।

एक बच्चे ने पूछा था: □मैंने देखा है कि जंगल में लताएं एक ही दिशा में पेढ़ से लिपटती हैं। कृपया बताएं कि क्या मेरा अवलोकन सही है? और यदि सही है तो बताएं कि ऐसा क्यों होता है? □

इस चिट्ठी से हड्कंप मच गया क्योंकि किसी को जवाब मालूम नहीं था। सवाल इंदौर में जीव विज्ञान के दो प्राध्यापकों को और हैदराबाद के सेंटर फॉर सेल्यूलर एण्ड मॉलीक्यूलर बायोलॉजी के एक वैज्ञानिक को भेजा गया। जब एक-एक करके जवाब आए तो काफी उत्साह पैदा हुआ और बहसबाज़ी चलती रही। दो लोगों ने बच्चे के अवलोकन की पुष्टि की और स्पष्ट किया कि उत्तरी गोलार्ध में लताएं एक दिशा में तथा दक्षिणी गोलार्ध में विपरीत दिशा में लिपटती हैं। इस समय एक भौतिक शास्त्री भी बहस में शरीक हो गए और बताया कि इसका कारण कोरियोलिस प्रभाव है जो पृथ्वी के घूर्णन के कारण पैदा होता है। उन्होंने बताया कि आइन्स्टाइन ने भी बेसिन में पानी में भंवर पैदा होने के बारे में यही लिखा था। लगभग इसी समय एक और जवाब आया जो बिलकुल उलट था - इसमें बताया गया था कि लताओं का घूमना प्रजाति पर निर्भर है - कुछ घड़ी की दिशा में और कुछ घड़ी से विपरीत दिशा में लिपटती हैं। तीसरा जवाब आया कि यह मसला भौतिक शास्त्र और जीव विज्ञान दोनों में अग्रणी शोध का विषय है। दोनों तरफ घूमने की संभावना बराबर होती होती है। सवालीराम क्या करे - उसने इन सारे जवाबों का सार बच्चे को लिखा और जोड़ा कि ऐसे ही अवलोकन करके, परिकल्पना बनाकर और उनकी जांच करके विज्ञान आगे बढ़ता है।

इन परेशानियों को देखते हुए कई तरह के समाधान खोजने की कोशिशें होती रहीं। इनमें से एक कोशिश थी सवालीराम कार्यशालाएं। इनमें कोशिश यह होती थी कि हो.वि.शि.का. से जुड़े स्रोत व्यक्तियों के साथ-साथ महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के अध्यापक व छात्र मिलकर तीन-चार दिनों में देर सारे पत्रों के जवाब लिख डालें। बैकलॉग निपटाने में यह प्रक्रिया काफी सहायक रही। इस तरह की कई कार्यशालाएं आयोजित की गई थीं जिनमें से एक का जिक्र यहां किया जा सकता है क्योंकि इसमें न सिर्फ सवालीराम चिट्ठियों का बैकलॉग निपटाने का प्रयास हुआ था बल्कि एक व्यवस्था बनाने का भी प्रयास हुआ था।

विक्रम विश्वविद्यालय के पर्यावरण प्रबंध एवं पादप विज्ञान संस्थान में सन 2000 में आयोजित इस तीन दिवसीय कार्यशाला में विक्रम विश्वविद्यालय के वनस्पति, रसायन व भौतिकी विभाग के अध्यापकों व छात्रों ने बड़ी संख्या में भाग लिया था। इस कार्यशाला में बच्चों के सवालों पर चर्चा के दौरान कई सारी बातें उभरकर आई। इनमें से एक प्रमुख बात यह थी कि बच्चों के पर्यावरण से उठने वाले सवाल सरल नहीं होते - जैसे लोहा चुंबक से क्यों चिपकता है, लकड़ी क्यों नहीं चिपकती। मजेदार बात थी कि वहां उपस्थित भौतिक शास्त्री स्वयं चकित थे कि इतने सरल से सवाल का जवाब हमारे पास नहीं है। ‘आज हमारे पास चुंबकत्व का जो मॉडल है वह बहुत पहले गलत साबित हो गया था। मगर हमारी पाठ्य पुस्तकों में वही बात बार-बार दोहराकर इसे सही साबित करने की कोशिश की जाती है।’ इस प्रश्न पर अंततः यही समझ बनी कि ‘चुंबकत्व की धारणा हम बच्चों को (शायद खुद को भी) नहीं समझा सकते और इसलिए हम बच्चे को यही जवाब देंगे कि लोहा चुंबक से चिपकता है क्योंकि यह लोहे का गुण है, लकड़ी में यह गुण नहीं पाया जाता, इसलिए वह चुंबक से नहीं चिपकती।’

इस प्रकार की बहसें कई प्रश्नों के बारे में हुईं और यह साफ उभरकर आया कि बच्चों की जिज्ञासाओं का जवाब देने में उच्च विज्ञान और अवधारणाओं की गहरी समझ की ज़रूरत है। यह भी समझ में आया कि हम प्रायः पारिभाषिक शब्दों को ही उत्तर मान बैठते हैं, जो ठीक नहीं है। कार्यशाला के दौरान करीब 80-85 सवालों के जवाब तैयार हुए और यह आश्वासन मिला कि सभी सहभागी नियमित रूप से इस कार्य में शरीक होने को तैयार हैं। अलबत्ता यह पहल काफी देर से हुई थी (2002 में तो कार्यक्रम बंद ही कर दिया गया था) और व्यवस्थित समन्वय के अभाव में ज्यादा आगे नहीं बढ़ी।

इस तरह के कई प्रयास सवालीराम को एक जीवंत संस्था बनाने की दिशा में किए गए थे। कई मर्तबा बच्चों के सवाल अन्य स्रोत व्यक्तियों को भेजे भी जाते थे। यहां एक समस्या यह आती थी कि जो उत्तर

ये लोग लिखकर भेजते थे वे प्रायः बच्चों के स्तर पर नहीं होते थे और इनमें काफी संपादने की ज़रूरत होती थी।

कुल मिलाकर अनुभव यह रहा कि सवालीराम एक उपयोगी मंच बना मगर इस पर कभी इतना समय न लगाया जा सका कि इसकी पूरी गुंजाइश का लाभ मिल सके।

यह देखने का प्रयास करेंगे हम आगे के एक अध्याय में करेंगे कि हो.वि.शि.का. कक्षाओं में क्या रूप लेता था। फिलहाल अगले अध्याय में हम यह चर्चा करेंगे कि इस पाठ्यक्रम को स्कूलों में लागू करने के लिए शिक्षकों की तैयारी के क्या प्रयास किए गए थे।

नवाचार और शिक्षकों की भागीदारी की तैयारी

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत शिक्षकों की भूमिका केंद्रीय रही है। बच्चों द्वारा खोज पर आधारित शिक्षण पद्धति में यह अपेक्षित भी है। कारण यह है कि इस तरह के शिक्षण में काफी खुलापन होता है और हरेक कक्षा में वही अध्याय काफी अलग-अलग रूप ले सकता है। पूरी प्रक्रिया और बच्चों के हर सवाल का पूर्वानुमान भी नहीं किया जा सकता। हर कदम पर शिक्षक की एक सक्रिय भूमिका दरकार होती है ताकि बच्चों के प्रश्नों को शिक्षण प्रक्रिया का अंग बनाया जा सके और यह प्रक्रिया पटरी से भी न उत्तरे।

आम स्कूली शिक्षा में शिक्षक की भूमिका काफी सीमित होती है। उसे अधिक से अधिक इतना करना होता है कि पाठ्य पुस्तक में लिखी बातें बच्चों को समझा दे। बहुत हुआ तो शिक्षक इसके लिए कुछ उदाहरणों व रूपकों का उपयोग कर लेते हैं। अन्यथा सामान्य तौर पर तो शिक्षक कक्षा में पाठ्य पुस्तक के वाचन को ही अध्यापन मान लेते हैं। अध्याय के अंत में प्रश्नों के उत्तर लिखवा देना ही अध्यापन की मंज़िल होती है।

मगर जब बात होती है कि बच्चे स्वयं प्रयोग करेंगे, प्रयोग के अवलोकनों पर विचार विमर्श करेंगे, निष्कर्ष निकालेंगे, निष्कर्षों की समूहिक छानबीन होगी और अंत में बच्चों को अपने शब्दों में इन बातों को लिखना है, तो ज़ाहिर है कि यह ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो एक लीक पर चले। यदि सब कुछ ठीक ठाक चला तो भी बच्चों को स्वयं निष्कर्ष तक पहुंचने में मदद करना काफी कुशलता की मांग करता है। यह कुशलता सिर्फ पढ़ाई जा रही विषय वस्तु में नहीं बल्कि कई अन्य बातों में होनी चाहिए।

इसके अलावा बच्चों को निष्कर्षों तक खुद पहुंचने देने में काफी धैर्य की भी ज़रूरत होती है। अधीर होकर जवाब बता देने से पूरी प्रक्रिया नाकाम हो जाएगी हालांकि वह सरल मार्ग होगा। इसी प्रकार से इस प्रक्रिया को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए शिक्षक में बच्चों की क्षमता को लेकर काफी भरोसा भी होना चाहिए। आम तौर पर हमारी शिक्षा व्यवस्था बच्चों पर तो क्या शिक्षकों पर भी भरोसा नहीं करती। इस अविश्वास के चलते जो पाठ्य पुस्तकें तैयार होती हैं उनमें कोई चीज़ शिक्षक के भरोसे नहीं छोड़ी जाती। देखा यह भी गया है कि शिक्षकों का अपनी क्षमता पर भी बहुत कम भरोसा होता है। दरअसल मुख्य धारा में शिक्षा एक उत्पाद के रूप में देखी जाती है जबकि हो.वि.शि.का. में शिक्षा एक प्रक्रिया है।

शिक्षकों ने कई बार एक शिकायत की है कि हो.वि.शि.का. में बच्चों के अनुपस्थित रहने के कारण बहुत समस्या आती है। दरअसल यह बच्चों की सक्रियता पर आधारित खोज पद्धति की खूबी है कि इसमें बच्चे को भाग लेना पड़ता है, जबकि अन्य कार्यक्रमों में मात्र पाठ्य पुस्तक को पढ़कर (रटकर) काम चलाया जा सकता है। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो छात्र 'स्वाध्यायी छात्र' के रूप में अध्ययन करते होंगे उनकी क्या स्थिति होती होगी।

खोज पद्धति बाल केंद्रित भी है। पारंपरिक कक्षा पाठ्य पुस्तक केंद्रित होती है। इसमें प्रायः इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि अलग-अलग बच्चे क्या करते हैं या क्या सोचते हैं। हां, ऐसी कक्षा में बच्चे आगे-पीछे हो सकते हैं (वैसे आम कक्षा संचालन में तो इस बात का भी ध्यान नहीं रखा जाता है) मगर वे अलग-अलग रास्तों पर नहीं चल सकते। किन्तु बाल केंद्रित पद्धति का एक प्रमुख आयाम यह होता है कि एक ही अनुभव से बच्चे अलग-अलग सवालों तक पहुंचते हैं, अलग-अलग उत्तरों तक पहुंचते हैं। इतना तो प्रायः होता है कि कई बच्चे एक ही उत्तर तक अलग-अलग ढंग से पहुंचते हैं।

इसलिए हो.वि.शि.का. में शिक्षक से कई अपेक्षाएँ हैं: उसे विषयवस्तु का ज्ञान होना चाहिए, उसे खोज प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान होना चाहिए और उन पर भरोसा होना चाहिए, उसे बच्चों पर भरोसा होना चाहिए कि वे खुद खोज कर पाएंगे, गलत-सही का निर्णय कर पाएंगे, उसे इस बात का भी भान होना चाहिए कि स्वयं उसके समेत कोई भी सर्वज्ञाता नहीं है और बच्चों के सामने यह कहने में कोई अपमान

की बात नहीं है कि मुझे नहीं आता, आओ पता करें। शिक्षक में यह समझ भी होना चाहिए कि पाठ्य पुस्तक ज्ञान का एकमात्र या अंतिम स्रोत नहीं है। उसके पास पाठ्य पुस्तक में दी गई गतिविधियां करवाने के अलावा नई-नई गतिविधियां व प्रयोग डिज़ाइन करने की क्षमता भी होनी चाहिए। शिक्षकों को स्वयं अवधारणाएं इतनी रूप्त्व नहीं होतीं कि वे उसे नई परिस्थिति में लागू कर सकें। और सबसे बड़ी बात तो यह होनी चाहिए कि वह कक्षा में विविधता के प्रति संवेदनशील हो।

हो.वि.शि.का. के पाठ्यक्रम को यथासंभव पर्यावरण आधारित बनाने का प्रयास किया गया है। इसके कारण शिक्षक पर यह भी अतिरिक्त ज़िम्मेदारी आ जाती है कि वह कक्षा में सीखी जा रही बातों को बच्चों के परिवेश से जोड़ते चलें।

यानी इस कार्यक्रम के लिए शिक्षकों को तैयार करने में विषयवस्तु का प्रशिक्षण तो आवश्यक होता ही है, इसके अलावा खोज पद्धति व उससे सम्बंधित विविध पहलुओं के लिए उन्हें तैयार करना भी ज़रूरी होता है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का शिक्षक प्रशिक्षण इन दोनों चीजों को ध्यान में रखकर विकसित किया गया था। इसके अलावा चार अन्य बातों का ध्यान रखना ज़रूरी था।

एक बात है कि शिक्षा की कोई भी प्रक्रिया मात्र एक विषय का अध्यापन करने का नाम नहीं है। यह एक समूची विश्व दृष्टि से अंतर्किया का नाम है। यह एक सांस्कृतिक पक्ष है जिस पर ध्यान दिए बगैर शिक्षण कारोबार को चलाते रहने से हम उस समस्या से दो-चार होते हैं जो रोज़ प्रकट होती है। शिक्षक व बच्चे दो तरह के ज्ञान के साथ जीना सीख लेते हैं। एक किताबी या स्कूली ज्ञान और दूसरा रोज़मर्सा का व्यावहारिक ज्ञान। मुख्य धारा की शिक्षा लोगों के सांस्कृतिक मूल्यों, पारंपरिक धारणाओं के साथ संवाद की ज़रूरत को स्वीकार करना तो दूर, उनके अस्तित्व को ही नकारती है। तब किताब में पृथ्वी घूमती रहती है, जीवन में वह नहीं घूमती।

दूसरी बात यह है कि आम तौर पर यह माना जाता है कि एक बार प्रशिक्षण हो गया तो शिक्षक हमेशा के लिए तैयार हो गया। यह धारणा गलत है। एक तो कक्षा में बच्चों के साथ वास्तविक शिक्षण करते हुए शिक्षक के सामने कई सवाल आते हैं, कई समस्याएं आती हैं। इनके संदर्भ में विचार-विमर्श का कोई मंच उपलब्ध नहीं होता और शिक्षक बढ़ते क्रम में पाठ्य पुस्तक की सुरक्षित जिल्द में कैद होता जाता है। मूलतः पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षण में यह करना संभव है हालांकि वांछनीय नहीं है। मगर एक खोज आधारित पद्धति में तो यह सर्वथा हानिकारक होगा।

तीसरी बात यह है कि जब कक्षा में नए ढंग से कुछ करने का प्रयास किया जाएगा तो शिक्षक को लगातार समर्थन की, विचार-विमर्श की ज़रूरत होगी। अन्यथा उसके अलग-थलग पड़ जाने का, अकेले पड़ जाने का खतरा बना रहेगा। आम तौर पर शिक्षक इस अकेलेपन से ग्रस्त रहते हैं और इसके कारण कुछ भी नया आजमाने के उनके उत्साह पर प्रतिकूल असर पड़ता है। 1972 के प्रस्ताव में जो यह कहा गया था कि प्रत्येक स्कूल से दो शिक्षकों को शामिल किया जाएगा, उसके पीछे समझ यही थी कि अकेले शिक्षक के हताश होने का ज़ोखिम बहुत अधिक होता है।

चौथी और अंतिम बात यह है कि आम तौर पर प्रशिक्षण, और खासकर किसी विषय विशेष के प्रशिक्षण की प्रक्रिया में शिक्षकों के साथ इस सम्बंध में कोई वार्तालाप नहीं होता कि वे किन परिस्थितियों में काम करते हैं। स्कूल इमारत की हालत क्या है, कितने बच्चे हैं, सामान रखने के लिए अलमारी है कि नहीं, प्रयोग सामग्री की क्या स्थिति है, प्रशिक्षण में रहने की व्यवस्था कैसी है, प्रशिक्षण में आने या विभिन्न शैक्षणिक कामों में शारीक होने के लिए यात्रा भत्ता व दैनिक भत्ता मिला या नहीं वगैरह कभी प्रशिक्षण के अंग नहीं बनते हालांकि इन सबका गहरा असर शिक्षण पर होता है।

पता नहीं यह सब इसी रूप में शुरू से ही सोचा गया था या नहीं मगर इतना साफ है कि पहले प्रशिक्षण शिविर से ही ये सारे तत्व मौजूद थे। हो.वि.शि.का. में शिक्षक प्रशिक्षण वास्तव में शिक्षकों के साथ खुले

संवाद की प्रक्रिया थी जिसमें उक्त सारे मुद्दों पर दो तरफा विनिमय होता था। इस लिहाज़ से पूरे उद्यम को प्रशिक्षण न कहकर शिक्षकों के साथ अंतर्क्रिया कहना उपयुक्त होगा। पूरी अंतर्क्रिया शिक्षकों को कार्यक्रम के हर पहलू में भागीदार बनाने का उद्यम रही।

हो.वि.शि.का. में शुरू से ही शिक्षकों की भागीदारी कक्षा संचालन तक सीमित नहीं मानी गई थी। सोच तो यह रहा कि शिक्षक इस कार्यक्रम के हर पहलू के विकास में सहभागी होंगे। इनमें पाठ्य सामग्री का निर्माण, बच्चों के मूल्यांकन की प्रणाली का विकास वगैरह शामिल हैं। खास तौर से पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री के निर्माण में शिक्षकों की भागीदारी एक पेचीदा मसला है। इस काम में शिक्षकों की भागीदारी का मतलब मात्र यह नहीं हो सकता कि एक-दो शिक्षकों को पाठ्य पुस्तक लेखन दल में शामिल कर दिया। सबसे पहले यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान परिस्थिति में अधिकांश शिक्षक पाठ्य सामग्री निर्माण में संभवतः कोई योगदान नहीं दे पाएंगे। अनुभव बताता है कि यदि अपने भरोसे छोड़ दिया जाए, तो फिलहाल अधिकांश शिक्षक उसी तरह की सामग्री (या उसके थोड़े घटिया संस्करण) का निर्माण करेंगे जो प्रचलन में है। इसलिए हो.वि.शि.का. में शिक्षकों को पाठ्य सामग्री के निर्माण में सहभागी बनाना भी उनके लिए सीखने के और सीखकर कुछ सृजन करने के अवसर के रूप में सोचा व क्रियावित किया गया।

शिक्षक प्रशिक्षण: पहला शिविर (1972)

22 मई 1972 के दिन होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का पहला शिविर मित्र मंडल केंद्र रसूलिया के परिसर में शुरू हुआ था। यह पहला शिविर इस मायने में निर्णायक महत्व रखता है कि इसने हो.वि.शि.का. समूह के सामने ग्रामीण क्षेत्र में विज्ञान शिक्षा के सारे प्रमुख मुद्दों को खोलकर रख दिया था।

इस शिविर में किसी पाठ्य या कार्य पुस्तक का उपयोग नहीं किया गया था (लाल वैज्ञानिक का प्रकाशन तो सितंबर 1972 में हुआ था)। भौतिकी अध्ययन दल द्वारा तैयार की गई पुस्तक के कुछ अध्याय व प्रयोग और जीव विज्ञान के कुछ प्रयोग व अवधारणाएं लेकर इस शिविर का संचालन किया गया था। इस मायने में यह सचमुच खुला शिविर था। दरअसल इस शिविर में पहली बार इस सामग्री का परीक्षण हुआ था और आगे सामग्री निर्माण की दिशाएं स्पष्ट हुई थीं।

हो.वि.शि.का. समूह द्वारा 1977 के एक लेख (साइन्स टुडे, दिसंबर 1977) में इस प्रक्रिया के कई उदाहरण दिए गए हैं:

“एक सत्र में एक शिक्षक ने सवाल उठाया, “क्या सजीवों में विविधता होती है?” एक जीव वैज्ञानिक ने शिक्षकों को चुनौती दी कि वे दो एक जैसी पत्तियां ले आएं। खोज शुरू हो गई। कई बार शिक्षकों को लगता था कि उन्हें एक-सी पत्तियां मिल गई हैं मगर जल्दी ही समझ में आ जाता था कि बारीक अवलोकन करने पर उनमें अंतर हैं। उंगलियों की तुलना ने इस बात की पुष्टि कर दी कि विविधता चारों तरफ है। स्रोत दल उत्साहित था। उसके पास एक नए अध्याय का मसाला था। इस अध्याय का नामकरण शिक्षकों ने ही किया - जीवजगत में विविधता।”

...शिक्षकों का भाग्य में बहुत भरोसा दिखता था। यह तार्किक विश्लेषण में बाधक था और यह बच्चों पर भी असर डालता था। जब दो एक-से दिखने वाले खेतों में अलग-अलग उपज की बात प्रस्तुत की गई तो उन्होंने इसका श्रेय खेत के मालिकों के भाग्य को दे दिया। मिट्टी की. किस्म, बीज बोने की दर, उर्वरकों का उपयोग जैसे कारकों की पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई। तार्किकता का यह अभाव चर्चा को संभालने की उनकी क्षमता पर गंभीर असर डालता था। लिहाज़ा, एक भौतिक शास्त्री ने संयोग और संभाविता का एक अनोखा अध्याय तैयार किया।

...खोज पद्धति के बुनियादी मुद्दे जल्दी ही उभरने लगे। उदाहरण के लिए वनस्पतियों के जीवन पर एक सत्र के दौरान किसी शिक्षक ने पूछा: “उर्वरक मिट्टी से पत्तियों तक कैसे पहुंच जाते हैं?” फौरन एक प्रयोग तैयार किया गया। एक टहनी काटकर लाल स्याही के धोल में रख दी गई। आधे

घण्टे बाद पत्ती की शिराएं लाल हो चुकी थीं। निष्कर्ष साफ था। मगर एक शिक्षक ने शंका ज़ाहिर की: “हम पक्का कैसे कह सकते हैं? हो सकता है कि शिराएं इसलिए लाल हो गई हैं क्योंकि हमने टहनी को काट दिया है। मैंने देखा है कि काटने पर सेब कत्थर्ड हो जाते हैं।”

“हालांकि हमें यह सवाल काफी मामूली लगा मगर इसे अनदेखा भी नहीं किया जा सकता था। ऐसे सवाल ही तो खोज पद्धति की रीढ़ हैं जिनसे आगे प्रयोग करने के लिए कड़ियां बनती हैं। गर्मागरम बहस शुरू हो गई। तय किया गया कि इस प्रयोग में एक और टहनी होनी चाहिए जिसे सादे पानी में रखा जाए। ‘तुलना के प्रावधान’ यानी *experimental control* की अवधारणा का जन्म हो चुका था।”

“फिर सवाल आया: “यदि हम नीली स्याही का उपयोग करें, तो क्या होगा?” सारी आंखें स्रोत दल के जीव वैज्ञानिक पर जम गई। उन्होंने कंधे उचका दिए, “मुझे नहीं मालूम।” शिक्षक हैरान रह गए। उन्होंने अविश्वास से पूछा: “यदि आपको इतनी सरल सी बात नहीं मालूम तो आपको डॉक्टर की डिग्री कैसे मिल गई?” इस बात ने उनके (शिक्षक के) मूल्यों को झकझोर दिया था। उनके लिए डॉक्टरेट सारे ज्ञान का अंतिम बिंदु था। और स्रोत दल के लिए यह एक अवसर था खोज पद्धति के खुलेपन को प्रदर्शित करने का। प्रयोग को अलग-अलग स्याहियों के साथ दोहराया गया। पौधों द्वारा अलग-अलग रसायनों का चुनिंदा अवशोषण स्पष्ट रूप से सामने आया। इसके साथ ही खोज पद्धति के पूरे निहितार्थ शिक्षकों ने पहचाने। उन्हें यह भी समझ में आया कि कि उन्हें भी कई मर्तबा ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ेगा जहां उन्हें स्वीकार करना होगा कि “मैं नहीं जानता, आओ पता करें।” यह शिक्षक की पारंपरिक सर्वज्ञता छवि के एकदम विपरीत था।”

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के पहले शिक्षक उन्मुखीकरण शिविर की एक रिपोर्ट में दून स्कूल के चंद्रकांत दीक्षित उस माहोल को बखूबी पकड़ते हैं जो बाद में इन शिविरों की प्रकृति बना। दीक्षित अपनी रिपोर्ट में कहते हैं:¹

“जब स्रोत दल के सदस्य और सहभागी शिक्षक साथ-साथ काम करते, तर्क-वितर्क करते, साथ बैठकर भोजन करते और साथ-साथ विश्राम करते तो लगता था जैसे इस शिविर में शहरी व ग्रामीण विचारधाराओं का एक अनोखा संगम हो रहा था। हम सबका साझा मकसद यह था कि ग्रामीण बच्चों के लिए विज्ञान शिक्षा की प्रयोग आधारित, खुले जवाबों वाली (*open ended*) पद्धति की व्यावहारिकता की खोजबीन करें।

काम कठिन था। एक ओर तो भीषण गर्भी और पानी का संकट तथा दूसरी ओर सारी प्रशासनिक, मनोवैज्ञानिक व सांस्कृतिक बाधाओं को पार करना ताकि फलदायी संवाद स्थापित हो सके। हकीकत यह है कि शिविर शुरू होने से पहले हमें अंदाज़ तक नहीं था कि हमें किन समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किन मिथ्यों से जूझना पड़ेगा। ग्रामीण स्कूलों में शिक्षक जिन खराब हालात में काम करते हैं, उसने कुछ भी नया करने के उनके उत्साह पर पानी फेर दिया है। एक कारण यह भी है कि कोई भी नया सिलेबस आज़माने के लिए खुद की क्षमता पर उन्हें यकीन नहीं है। वे स्कूल में उपकरण बगैर हर रखने में हिचकते हैं क्योंकि कक्षाओं में दरवाज़े ही नहीं हैं जहां चीज़ों को सुरक्षित रखा जा सके। समस्या यह भी है कि बारिश के दिनों में नदी नाले पूर आ जाते हैं, बच्चे स्कूल पहुंच नहीं पाते, तो पाठ्यक्रम कैसे पूरा करें। उन्हें यह भी डर था कि विज्ञान पढ़ाने में अपारंपरिक तरीका अपनाया गया तो उसमें समस्याएं आना स्वाभाविक है। तब अधिकारी उन्हें यहां वहां फेंकते रहेंगे।

शिविर में काम और गतिविधियों की योजना इस तरह बनाई गई थी कि शिक्षकों को स्रोत दल के

¹ चंद्रकांत दीक्षित, टुडे'स एडुकेशन फॉर दी नीड्स ऑफ टुमारे, दिसंबर 1872, फिजिक्स स्टडी प्रूप (चंद्रकांत दीक्षित द्वान स्कूल के उन शिक्षकों में से एक थे जिन्होंने ‘फिजिक्स थू एक्सपरिमेंट्स’ तैयार की थी)

साथ विचारों के उन्मुक्त आदान-प्रदान का पर्याप्त अवसर मिले। शुरू में स्रोत दल और शिक्षकों के रवैयों में स्पष्ट अंतर था। ये रवैये विज्ञान, धार्मिक व सांस्कृतिक रीति रिवाजों और तर्क को लेकर उनके अलग-अलग नज़रियों पर टिके थे। इसकी वजह से कई मुद्दों पर खबूल बहस हुई, ऐसे मतभेद हर शैक्षणिक सत्र में उभर ही आते थे।

पहले प्रायोगिक सत्र के शुरू में बी.जी. कुलकर्णी² को प्रायोगिक प्रमाण के महत्व को रेखांकित करना ज़रूरी लगा। उन्होंने मीमांसा दर्शन से उद्भरण देकर स्पष्ट किया कि प्रत्यक्ष से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने बताया कि प्रत्यक्ष प्रमाण की अनुपस्थिति में हम तर्क और अनुमान का सहारा लेते हैं। श्रुति प्रमाण सबसे अंत में आता है। प्रयोग निजी अनुभव प्रदान करते हैं क्योंकि ये प्रत्यक्ष अवलोकन पर आधारित होते हैं। षट दर्शन के इस उल्लेख के ज़रिए कुलकर्णी ने विज्ञान की खोज पद्धति के पक्ष में पहला तर्क दिया। कई अन्य मामलों में सांस्कृतिक व धार्मिक परंपराओं ने वैज्ञानिक व्याख्या और प्रेक्षित तथ्यों को समझने में मदद की।

ग्रामीण पर्यावरण का संदर्भ लेकर भी कई वैज्ञानिक अवधारणाएं स्पष्ट करने में मदद मिली। जैसे बंबई में ध्रुवीय निर्देशांकों की बात करने में बी.जी. पित्रे³ ने क्रिकेट का उदाहरण लिया था - बल्लेबाज़ को मूल बिंदु मानकर और पिच को संदर्भ रेखा मानकर खिलाड़ियों की स्थिति बताना काफी आसान था। मगर रसूलिया में उन्हें लगा कि यह उदाहरण काम नहीं करेगा। तो उन्होंने गोफन का उदाहरण लेकर बात समझाई। यह उदाहरण अभागियों को बहुत भाया। बाद में जब उन्होंने कार्तीय निर्देशांकों की बात की तो सहभागियों ने इसे खेतों में फैली छोटी-बड़ी नहरों के ताने-बाने से जोड़ लिया।

खुले आकाश के नीचे देर रात के एक सत्र में यश पाल⁴ ने सूरज का ज़िक्र काफी साधारण ढंग से किया तो एक शिक्षक ने साहस जुटाकर पूछा कि क्या आप सूरज को भगवान नहीं मानते? यश पाल ने स्पष्ट किया कि हम सूरज के बहुत ऋणी हैं। करोड़ों वर्षों से जो प्रकाश और गर्मी हमें सूरज से मिल रही है उसने धरती पर जीवन का निर्वाह किया है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि जीवन के इस स्रोत के प्रति इस आभार की अभिव्यक्ति सूर्य पूजा के रूप में होती है। इस तरह से धर्म में अपनी आस्था के प्रति थोड़े आश्वस्त होकर गुरुजी थोड़े नरम पड़े और विज्ञान के प्रति उनका नज़रिया ज्यादा सकारात्मक हो गया। यश पाल ने आरंभिक खगोल शास्त्र पर अपना व्याख्यान जारी रखा।

एक मौके पर अनिल सद्गोपाल सजीव जगत को जन्म के आधार पर दो मुख्य समूहों में बांटने का प्रयास कर रहे थे - अण्डज (अण्डे से पैदा होने वाले) और पिण्डज (शरीर से पैदा होने वाले)। कुछ सहभागियों ने जोड़ा कि पुराणों में एक तीसरे समूह स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) का भी उल्लेख है। इस समूह में जूं और पिरसू को रखते हैं। एक शिक्षक ने खड़े होकर एक दोहा सुनाया जिसमें धरती के सारे जीवों को चार समूहों में बांटा गया है : अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज। पहले तीन समूह जंतुओं के हैं और अंतिम समूह में पौधे आते हैं। अनिल सद्गोपाल को यह बात समझाने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ी थी कि पसीना जीव की उत्पत्ति के लिए अनुकूल पर्यावरण तो उपलब्ध करा सकता है मगर यह इन जीवों का स्रोत नहीं है।

सुबह के एक सत्र में जब आवर्त सारणी के तत्वों के लिए शब्द 'तत्व' का उपयोग हुआ तो एक सहभागी शिक्षक को यह जानकर बहुत हैरत हुई कि तत्व तो सैकड़ा में हैं। उनको लगता था कि

2 बी.जी. कुलकर्णी टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक थे और मुंबई नगर निगम के कार्यक्रम के सक्रिय स्रोत व्यक्ति थे। आगे चलकर आप होमी भाभा सेंटर फॉर साइन्स एड्यूकेशन के निदेशक रहे।

3 बी.जी. पित्रे दून स्कूल के उन शिक्षकों में से एक थे जिन्होंने 'फिजिक्स थू एक्सपरिमेंट्स' तैयार की थी।

4 यश पाल उस समय टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक थे और मुंबई नगर निगम के कार्यक्रम के सक्रिय स्रोत व्यक्ति थे।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पंच तत्व हैं। इन्हीं से पूरा ब्रह्मांड बना है। मैंने (दीक्षित ने) सांख्य दर्शन के अपने ज्ञान का उपयोग किया जिसके मुताबिक ब्रह्म विश्व से अंतर्क्रिया से हमें जो उद्धीपन मिलते हैं उन्हें हम पांच इन्द्रियों से महसूस करते हैं। जल तत्व उन सब चीज़ों में होता है जो हमारी जीभ पर असर डालते हैं। इसी प्रकार से जो वस्तुएं हमारी ग्राण अनुभूति को उकसाती हैं उनमें पृथ्वी तत्व होता है। इस विचार विमर्श के बाद ही आवर्त सारणी के तत्वों के लिए 'तत्व' शब्द का उपयोग स्वीकार हुआ।

शिविर की समाप्ति तक यह स्पष्ट था कि शिक्षकों के मन में तार्किक दृष्टिकोण का बीज पड़ गया है।"

पहले शिविर के सबक

यश पाल ने इस शिविर के बारे में अपने एक आलेख में कई बातों की ओर ध्यान दिलाया है:

1. सामग्री तैयार करने के लिए स्कूली शिक्षकों और विश्वविद्यालयों व शोध संस्थानों के लोगों को मिलकर काम करना होगा।

2. यदि हम चाहते हैं कि विज्ञान उस धरती में जड़ें जमाए जिसमें आस्थाओं, मिथकों और अनुभवों के बीज पड़े हैं, तो खोज पद्धति को ही अपनाना होगा क्योंकि विज्ञान शिक्षा के पारंपरिक तरीके में इन चीज़ों का उपयोग करने की बात तो दूर, इन्हें स्पर्श तक नहीं किया जाता।

3. हमने यह भी देखा कि पाठ्य सामग्री का निर्माण करते वक्त यह सोच घातक साबित होगा कि शहरी बच्चे और शिक्षक, उपकरणों व टेक्नॉलॉजी से ज्यादा संपर्क के बलते, ज्यादा उच्च स्तर का विज्ञान समझ सकते हैं। इसके विपरीत, ग्रामीण शिक्षकों व बच्चों का अनुभव कहीं अधिक समृद्ध है, फर्क सिर्फ इतना है कि पारंपरिक पाठ्यक्रम इस अनुभव का लाभ ही नहीं उठाता। इसलिए सामग्री उस पर्यावरण से उपजनी चाहिए जहां इसका उपयोग किया जाना है।

4. हमने देखा कि नए तरीके से विज्ञान पढ़ाने में नैतिक व सामाजिक मूल्यों के साथ निरंतर टकराव की स्थिति होती है। इस मायने में, भारत जैसे देश में विज्ञान शिक्षा को बेहतर बनाने का राष्ट्रीय प्रयास मात्र विज्ञान शिक्षण से अधिक व्यापक होगा। यह लोगों के जीवन में एक बड़ी क्रांति होगी। एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि यह बात स्वीकार हो पाए कि विज्ञान की दुनिया लोगों के दैनिक जीवन और विश्वासों से बाहर नहीं है। इसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि लोगों के 'अवैज्ञानिक' विश्वासों को गलत साबित किया जाए बल्कि यह दर्शाना होगा कि ये विश्वास बने कैसे होंगे। आप उन सवालों को अनुसुना नहीं कर सकते जो छात्र व शिक्षक पूछते हैं।

5. हम इस काम की विशालता से हतप्रभ हैं मगर यह भी लगता है कि यदि सारे प्रयास केंद्रीकृत न हों तो समस्या अगम्य भी नहीं है।

6. अन्य कई कार्यक्रमों की तरह हमें भी लगता है कि पारंपरिक तौर-तरीकों में फिसलने से बचने के लिए शिक्षकों व स्कूलों के साथ सतत अंतर्क्रिया ज़रूरी है। एक समस्या यह है कि उनका अपना ज्ञान का भंडार और दैनिक जीवन इस कार्यक्रम की खुली प्रकृति का निर्वाह करने के लिए पर्याप्त उत्साह प्रदान नहीं करते।

शिक्षकों के साथ काम का ढांचा

हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के साथ काम को शिक्षक प्रशिक्षण का नाम देकर सीमित बनाना अनुचित होगा। जैसा कि पिपरिया क्षेत्र के शिक्षकों के साथ एक बैठक में एक शिक्षक ने कहा,

"मेरे अनुभव में ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं चला है जिसमें पाठ्यक्रम निर्माण से लेकर परीक्षा प्रणाली के

निर्माण तक में शिक्षकों की इतनी भागीदारी रही हो।”

दरअसल हो.वि.शि.का. में शिक्षक बराबर के भागीदार रहे हैं।

हो.वि.शि.का. समूह की प्रमुख कोशिश यह रही कि शिक्षकों को कक्षा व अन्यत्र अपनी इस नई भूमिका के लिए तैयार करने में कोई कसर न छोड़े। चाहे कक्षा संचालन हो, बच्चों का मूल्यांकन हो, स्कूलों में अनुवर्तन हो, साथी शिक्षकों की मदद करना हो, पाठ्य पुस्तक व अन्य पाठ्य सामग्री विकसित करना हो, किट सामग्री का विकास हो, हर पहलू में शिक्षकों की भागीदारी रही है और हर भागीदारी प्रशिक्षण व उन्मुखीकरण का साधन बनी है।

सुविधा की दृष्टि से शिक्षकों के विकास के प्रयासों को तीन हिस्सों में बांट सकते हैं:

1. तीन वर्षों में 9 सप्ताह का सेवाकालीन प्रशिक्षण
2. सतत अनुवर्तन तथा अनुवर्तन गोष्ठियां ((मासिक गोष्ठियां), शिक्षक निर्देशिकाएं, होशंगाबाद विज्ञान बुलेटिन का प्रकाशन
3. कार्यक्रम के अन्य पहलुओं में भागीदारी

सेवाकालीन प्रशिक्षण

जैसा कि ऊपर कहा गया स्रोत दल का एक प्रमुख कार्य शिक्षकों को कक्षा में उनकी नई भूमिका के लिए तैयार करना रहा है। जब कार्यक्रम शुरू हुआ था तब अधिकांश शिक्षक विज्ञान पृष्ठभूमि के नहीं थे। ज्यादातर दसवीं-बारहवीं उत्तीर्ण थे। बमुश्किल एक-दो स्नातक रहे होंगे। पाठ्य पुस्तक वाचन पद्धति से शिक्षण में यह कोई बड़ी बाधा शायद न बनती हो मगर नई पद्धति की मांग थी कि शिक्षक विषय वस्तु से न सिर्फ परिचित हों बल्कि उसे भलीभांति समझते भी हों। वैसे यह एक रोचक अध्ययन का विषय हो सकता है कि आज भी माध्यमिक शालाओं में शिक्षकों का शैक्षणिक प्रोफाइल क्या है। एक रोचक तथ्य यह भी रहा है कि कई बार शिक्षक की पूर्व की विज्ञान शिक्षा इस कार्यक्रम की खुली प्रकृति में उनकी भूमिका के निर्वाह में अड़चन भी बनी है।

नई पद्धति का एक बड़ा हिस्सा यह था कि बच्चे स्वयं प्रयोग करेंगे। इसलिए यह भी ज़रूरी था कि शिक्षक स्वयं इन प्रयोगों को करने में दक्ष हों।

कुछ शब्दों का स्पष्टीकरण

स्रोत दल: कार्यक्रम को दिशा देने वाला समूह जिसके सदस्य किशोर भारती, मित्र मंडल केंद्र, विभिन्न विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों और शोध संस्थानों से आते थे। ज़िला स्तरीय प्रसार से पहले प्रशिक्षण की ज़िम्मेदारी इसी समूह की थी।

अनुवर्तन दल या कार्यकारी दल: उच्च व उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों का समूह जो इस कार्यक्रम में सतत अनुवर्तन के लिए ज़िम्मेदार था। इस दल का गठन ज़िला स्तरीय प्रसार के समय कार्यक्रम की ज़रूरतों को देखते हुए किया गया था।

स्रोत शिक्षक: ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद कार्यक्रम लगभग 250 शालाओं में लागू हुआ। इस पैमाने पर प्रशिक्षण करना स्रोत दल के लिए असंभव ही था। इसलिए प्रशिक्षित शिक्षकों में से उन शिक्षकों को चुना गया जो इस कार्यक्रम की मूल भावना को आत्मसात कर चुके थे और अब अन्य लोगों के साथ प्रशिक्षण व उन्मुखीकरण की ज़िम्मेदारी उठा सकते थे। इन्हें स्रोत शिक्षक कहा गया। शुरुआत में यह 20-25 शिक्षकों का समूह था जो आगे चलकर 200 से ज्यादा शिक्षकों का दल बना। आगे चलकर स्रोत शिक्षकों ने अन्य प्रदेशों में भी शिक्षक प्रशिक्षण का संचालन किया और कार्यक्रम में कई तरह से भागीदारी निभाई।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कक्षा में शिक्षक से यह अपेक्षा नहीं थी कि वे बच्चों के लिए अवलोकनों की व्याख्या कर देंगे। अपेक्षा तो यह थी कि वे बच्चों की मदद करेंगे कि वे स्वयं अपने अवलोकनों की व्याख्या करें और निष्कर्ष तक पहुंचे तथा गलत-सही के फैसले करें। इस प्रक्रिया को संचालित करने के लिए ज़रूरी था कि शिक्षक इसका अभ्यास कर चुके हों। उन्हें यह भी अंदाज़ होना चाहिए कि पुस्तक में दिए गए प्रयोग किस तरह के अवलोकन दे सकते हैं, गलतियों के स्रोत कहाँ-कहाँ हैं, वैकल्पिक तरीके क्या हो सकते हैं वगैरह। उन्हें यह भी अंदाज़ होना चाहिए कि अवलोकनों में किस तरह की विधिधता हो सकती है। इसके अलावा उनमें प्रयोग व प्रयोग के उद्देश्य की इतनी समझ होनी चाहिए कि वे वैकल्पिक प्रयोग सोच सकें, दिए गए प्रयोग में फेरबदल कर सकें।

इस सबके लिए यह भी ज़रूरी था कि सम्बन्धित विषय की उनकी समझ भी पुख्ता हो क्योंकि प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों को जांचने-परखने के लिए ज़रूरी है कि आपको उस निष्कर्ष की पृष्ठभूमि तथा अन्य चीज़ों से उसके सम्बन्धों का ज्ञान हो।

यह भी आवश्यक था कि शिक्षकों का परिचय एक प्रजातांत्रिक कक्षा से हो ताकि वे यह देख व महसूस कर सकें कि सीखने वालों की भागीदारी पर आधारित तथा ज्ञान की किसी निरंकुश व अंतिम सत्ता से मुक्त कक्षा कैसी होती है जहाँ निर्णय तर्क व प्रमाण के आधार पर लिए जाते हैं। यह एक मुश्किल काम है क्योंकि कक्षा में खोज पद्धति एक शैक्षणिक विधि के रूप में अपनाई जा रही है। निष्कर्ष शिक्षक को पहले से पता हैं मगर ये निष्कर्ष बच्चों पर थोपना नहीं है। अपेक्षा यह है कि शिक्षक बच्चों को ऐसे अनुभव दे पाएंगे और तर्कों की ऐसी शृंखला निर्मित कर पाएंगे जिनसे ये निष्कर्ष उभरते जाएं।

तो प्रशिक्षण की योजना इस तरह बनाई जाना थी कि उसमें शिक्षकों को प्रायोगिक हुनर हासिल करने का अवसर मिले, विषय की समझ बनाने में मदद मिले और नई शिक्षण पद्धति के लिए आवश्यक हुनर विकसित भी हों और उन पर विश्वास भी बने।

पता नहीं यह सोचा समझा फैसला था या सहज तर्क से यही मॉडल निकला कि शिक्षक उन्मुखीकरण का तरीका मूलतः रोल प्ले पर आधारित होगा। अर्थात् प्रशिक्षण सत्रों में शिक्षकों से ठीक वैसी ही अंतर्क्रिया की जाएगी जैसी कक्षा में उनसे अपेक्षित है। पारंपरिक प्रशिक्षण में तो शिक्षकों को हर विषय पर भाषण पिलाए जाएंगे। उनसे कहा जाएगा कि बच्चों से प्रयोग करवाएं, चर्चा करवाएं, और बताया जाएगा कि विज्ञान सिखाने की इस पद्धति को ‘खोज पद्धति’ या ‘करके सीखो’ पद्धति कहते हैं ताकि मौका आने पर वे इस पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिख सकें।

मगर हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में शुरू से ही सोचा गया कि शिक्षकों को स्वयं इस प्रक्रिया में से गुज़रना चाहिए। वे अपने हाथों से प्रयोग करें, अवलोकन लें, उन्हें चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करें, अवलोकनों की व्याख्या करें, चर्चा करें, व सिद्धांतों तक पहुंचे। इस दौरान स्रोत दल के सदस्यों के व्यवहार से उन्हें यह भी एहसास मिलता है कि शिक्षक की भूमिका एक उद्देलक की है, मददगार की है। पद्धति व विषय वस्तु के सारे सवाल इस ठोस संदर्भ में से निकलते हैं। इस मायने में यह प्रशिक्षण विषयवस्तु की समझ को पुख्ता करने व पद्धति की बानगी प्रस्तुत करने का मिला-जुला प्रयास था।

प्रत्येक शिक्षक को तीन साल तक प्रशिक्षण में भागीदारी करनी होती थी। लगभग हर साल गर्मियों में प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए जाते थे। प्रत्येक शिक्षक क्रमशः पहले साल कक्षा 6, दूसरे साल कक्षा 7 और तीसरे साल कक्षा 8 की विषय वस्तु से सम्बन्धित प्रशिक्षण प्राप्त करता था। हर प्रशिक्षण सत्र लगभग तीन सप्ताह का होता था, यानी प्रत्येक शिक्षक को करीब 9 सप्ताह का प्रशिक्षण दिया जाता था। ये शिविर आवासीय होते थे। एक अनुमान के मुताबिक इन तीन-तीन सप्ताह के सेवाकालीन प्रशिक्षण शिविरों में कुल मिलाकर करीब 3000 शिक्षकों ने भाग लिया था।

प्रशिक्षण के लिए शिक्षकों का कोई चयन नहीं होता था। स्कूल स्वयं तय करते थे कि वे किन शिक्षकों

को प्रशिक्षण के लिए भेजेंगे। नियम सिर्फ़ इस बात को लेकर थे कि किसी स्कूल में छात्र संख्या के आधार पर कितने प्रशिक्षित शिक्षक होने चाहिए।

प्रशिक्षण शिविर में पहले ही दिन शिक्षकों को उनकी कक्षा के अनुसार किसी न किसी वर्ग में पंजीकृत करके 4-4 की टोलियों में बांट दिया जाता था। पूरे शिविर के दौरान उन्हें इन्हीं टोलियों में काम करना है। गौरतलब है कि उनसे भी अपेक्षा की जाती है कि वे स्कूल में छात्रों की टोलियां बनवाएंगे। प्रत्येक वर्ग में करीब 40 शिक्षक होते थे।

प्रतिदिन शिक्षकों को पांच घण्टे कक्षा में बिताने होते थे। यानी एक प्रशिक्षण शिविर में 90 घण्टे का औपचारिक शिक्षण होता था। इस दौरान उनके साथ बाल वैज्ञानिक के विभिन्न अध्याय किए जाते थे। इसके अलावा कार्यक्रम के अन्य पहलुओं पर भी काम होता था। जैसे मूल्यांकन व परीक्षा, किट का रख रखाव, अनुवर्तन वगैरह।

शिविर दर शिविर

1972 में कार्यक्रम शुरू होने से लेकर एक साल छोड़कर हर साल प्रशिक्षण शिविर आयोजित होते रहे हैं। 1983 के बाद जब कार्यक्रम अन्य 13 ज़िलों के एक-एक शाला संकुल में फैला तो प्रति वर्ष दो शिविर भी आयोजित किए गए हैं। एक नर्मदा संभाग (ज़िला होशंगाबाद, नरसिंहपुर, बैतूल, खंडवा और छिंदवाड़ा) के लिए और दूसरा मालवा क्षेत्र के लिए (इंदौर संभाग - ज़िला इंदौर, देवास, धार, झाबुआ, और मंडलेश्वर तथा उज्जैन संभाग - ज़िला उज्जैन, शाजापुर, मंदसौर और रंतलाम) के लिए। ये शाला संकुल काफी बड़े भौगोलिक क्षेत्र में फैले हुए थे (देखें मानचित्र)।

इतने बड़े पैमाने पर लगातार साल दर साल प्रशिक्षण की ज़रूरत कई कारणों से पड़ती थी। कार्यक्रम के फैलाव के कारण, नए स्कूल खुलने के कारण, शिक्षकों के रिटायर होने या पदोन्नति होने या तबादले होने के कारण प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी लगातार बनी रहती थी। निजी स्कूल भी तेज़ी से फैलने लगे थे। निजी स्कूलों के प्रसार ने होशंगाबाद में कुछ नई समस्याएं खड़ी कीं। जैसे आम तौर पर निजी स्कूल अपने शिक्षकों के सेवाकालीन प्रशिक्षण पर निवेश करने को उत्सुक नहीं होते। शिक्षकों को यह प्रशिक्षण अपने खर्च पर पूरा करना होता है। इसी से जुड़ी हुई समस्या है कि निजी स्कूलों में प्रायः गर्भी की छुट्टियों में कोई शिक्षक नियुक्त नहीं होते। अतः उनके सामने सवाल यह भी होता है कि ग्रीष्मकालीन शिविर में भेजें तो किसे भेजें। इस समस्या से निपटने के लिए प्रशिक्षण के आयोजन में दो प्रमुख बदलाव करने पड़े थे। पहला परिवर्तन यह किया गया था कि संभाग स्तर पर एक बड़ा प्रशिक्षण शिविर आयोजित करने की बजाय कई सारे छोटे-छोटे शिविर आयोजित किए जाने लगे। ये शिविर दो-तीन विकास खंडों (करीब 150 स्कूल) के शिक्षकों के लिए होते थे। इसका फायदा यह था कि शिविर रिहायशी नहीं होते थे। अधिकांश शिक्षक घर रहकर ही प्रशिक्षण में सहभागी हो जाते थे। इसके कई नुकसान भी हुए। जैसे संभाग स्तर के शिविर में अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण स्थल पर ही रहते थे और उनके साथ औपचारिक कक्षा के अलावा भी काफी अंतर्क्रिया के मौके होते थे। प्रशिक्षण के नए विकेंट्रित मॉडल में यह संभावना गुम हो गई। एक और नुकसान यह था कि शिविरों की संख्या बढ़ जाने के कारण स्रोत दल काफी बंट जाता था। संभाग स्तरीय शिविर में स्रोत दल एक जगह उपस्थित होता था और इसका अपना एक असर होता था, शैक्षणिक क्रियाकलाप एक उच्चतर स्तर पर हो पाते थे और सबसे बड़ी बात यह होती थी कि कार्यक्रम के कई पहलुओं पर स्रोत दल, नए आए वालंटियर्स, स्रोत शिक्षकों के बीच विचार विमर्श हो पाता था। शिक्षकों को भी स्रोत दल से गहन अंतर्क्रिया के भरपूर अवसर मिलते थे। नई-नई चीज़ें आज़माने के लिए भी यह अच्छा अवसर होता था।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि शिविरों का आयोजन स्कूल सत्र के दौरान किया जाने लगा था। इसका असर यह होता था कि इतने दिन सम्बंधित शिक्षक स्कूलों से अनुपस्थित रहते थे और अध्यापन के काम

पर ज़रूर असर पड़ता होगा। इससे जुड़ी एक समस्या यह भी थी कि यही वे दिन होते हैं जब विश्वविद्यालय, महाविद्यालय वगैरह भी चालू होते थे। इसलिए इन संस्थाओं से स्रोत व्यक्तियों का आना भी मुश्किल हो जाता था।

इन ‘विकेंट्रिट शिविरों’ ने व्यवस्था और प्रबंधन की कुछ समस्याएं हल कर दीं तो कई दृष्टि से काफी समस्यामूलक भी थे। एक तो हर शिविर में हर विषय के विशेषज्ञ स्रोत व्यक्तियों की उपलब्धता सुनिश्चित करना संभव नहीं हो पाता था। स्रोत व्यक्तियों के काफी पेचीदा कार्यक्रम बनते थे और उनकी उपस्थिति के आधार पर शिविरों की कार्य योजना बनाना भी खासा मुश्किल काम हो जाता था। यदि हर शिविर स्थल के आसपास के महाविद्यालयों से स्रोत व्यक्ति उपलब्ध हो पाते तो शायद यह समस्या सुलझ जाती मगर ऐसा संभव नहीं हो पाया था। फिर होता यह था कि किसी भी विषय से सम्बंधित अध्यायों को स्रोत व्यक्तियों की उपलब्धता के आधार पर रखा जाता था। इसके कारण कई बार तार्किक कड़ियां नहीं बन पाती थीं। चूंकि प्रशिक्षण शिविरों का माहौल काफी खुला होता है, इसलिए शिक्षकों के सवाल किसी योजना के मोहताज़ नहीं होते। मगर समस्या यह होती थी कि छोटे-छोटे शिविरों में इन सवालों पर खुली चर्चा या प्रयोग करने की गुंजाइश नहीं होती थी।

व्यवस्था का एक पक्ष यह था कि हर शिविर स्थल पर किट सामग्री का इन्तज़ाम करना होता था। एक या दो संभाग स्तरीय शिविरों में ही इस काम में काफी मेहनत हो जाती थी। एक साथ यदि 5-6 शिविर करना हो तो कल्पना की जा सकती है।

इन समस्याओं को विस्तार में बताने का एक मकसद है। यह समझने की ज़रूरत है कि क्रियांवयन में शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण व सतत समर्थन के मज़बूत ढांचे बनाना ज़रूरी होगा, और इन ढांचों में जान फूंकने के लिए उत्कृष्ट गुणवत्ता के संसाधनों व स्रोत व्यक्तियों की ज़रूरत होगी। प्रशिक्षण के संदर्भ में यह एक सीमा के रूप में उभरता है कि प्रक्रिया का कितना विकेंट्रिकरण हो सकता है। इस सवाल का जवाब शायद नकारात्मक ही होगा कि क्या हम विकास खंड के स्तर पर इस तरह के संसाधन व स्रोत व्यक्ति उपलब्ध करवा पाएंगे। या शायद कोशिश करें तो हो भी सकता है।

मगर इन विकास खंड स्तरीय शिविरों से शिक्षकों, खासकर निजी स्कूलों के शिक्षकों की संख्या पर सकारात्मक असर हुआ। इन्तज़ाम के कई पक्षों में राहत भी मिली। जैसे तीन-चार सौ शिक्षकों के रिहायशी शिविर के लिए शिक्षकों व स्रोत दल के आवास की व्यवस्था करना, भोजन का इन्तज़ाम करना अपने आप में बहुत भारी काम होता था। छोटे गैर-रिहायशी शिविरों में इस समस्या से मुक्ति मिली। और भी कई छोटी-मोटी व्यवस्थागत चीज़ों से निजात मिली थी।

अलबत्ता हो.वि.शि.का. समूह में यह बात लगातार होती रहती थी कि ‘बड़े शिविर’ का माहौल बहुत महत्व रखता है। इसका अर्थ शायद यहीं लगाया जा सकता है कि प्रशिक्षण शिविर के दौरान कक्षों में बैठाकर शिक्षकों कों ‘पढ़ाने’ के अलावा जो गतिविधियां होती थीं वे कार्यक्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं। ऐसी गतिविधियों में शाम के समय शिक्षकों के लिए विभिन्न चीज़ें सीखने के अवसर, पुस्तकालय, दीवार पत्रिका, विभिन्न विषयों पर फिल्म शो और व्याख्यान आदि होते थे।

स्वयं स्रोत दल के लिहाज़ से देखें तो इन ‘बड़े’ शिविरों में तैयारी, फ़िडबैक, अध्यायों पर चर्चा, अवधारणाओं पर चर्चा वगैरह औपचारिक-अनौपचारिक दोनों स्तरों पर चलते थे। छोटे शिविरों में स्रोत दल का क्रिटिकल मास कभी इतना नहीं हो पाता था कि ये चीज़ें संभव हो पाएं। फिर शिविर में मौजूद लोगों को वरिष्ठ स्रोत दल से कार्यक्रम के अन्य पहलुओं को समझने का मौका मिलता था। कई बार वरिष्ठ स्रोत दल सदस्यों की आपसी बहस में कार्यक्रम सम्बंधी कई पहलुओं पर स्पष्टता आती थी। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पूरी प्रक्रिया में एक गहनता के लिए भी यह समागम ज़रूरी लगता था।

इसलिए विकेंट्रिट मॉडल अपना लेने के बाद भी बीच-बीच में जिला या संभाग स्तर पर एक बड़ा

प्रशिक्षण शिविर आयोजित करना जारी रखा गया था।

खैर, जैसे भी हो, प्रशिक्षण शिविर और उसकी तैयारी का वर्णन अपने आप में रोचक होगा क्योंकि इससे इस बात का अंदाज़ मिलेगा कि इस समूह ने शिक्षक प्रशिक्षण पर कितना ध्यान दिया है।

प्रशिक्षण का मॉडल

हो.वि.शि.का. में शिक्षक प्रशिक्षण का मॉडल मूलतः इस बात पर आधारित था कि यदि शिक्षक स्वयं सीखने की प्रक्रिया में संलग्न हैं तो वे बच्चों को भी इस प्रक्रिया में सार्थक ढंग से जोड़ पाएंगे। दूसरे शब्दों में जिन व्यक्तियों की अपनी सीखने की प्रक्रिया बाधित हो चुकी है वे विद्यार्थियों को सीखने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते।

यह बहुत संतोष की बात है कि हो.वि.शि.का. में सहभागी शिक्षकों में यह बात सहजता से रखीकार हुई थी। कार्यक्रम बंद हो जाने के बाद पिपरिया क्षेत्र के शिक्षकों के साथ एक बैठक (20 अगस्त 2006) में यह साफ उभरा कि शिक्षक स्वयं के सीखने की प्रक्रिया और बच्चों के सीखने की प्रक्रिया को जोड़कर देखते हैं। जब पूछा गया कि आपके ख्याल से इस कार्यक्रम में बच्चे क्या सीखते थे तो बच्चों की बात बताते-बताते शिक्षक सहजता से खुद की बात भी करने लगते थे। कई बार तो यह समझ पाना भी मुश्किल होता था कि वे अपनी कक्षा की बात बता रहे हैं या प्रशिक्षण की। जैसे अब सेवा निवृत्त हो चुकीं एक शिक्षिका की बात सुनिएः “प्रजनन अध्याय (वे शायद जंतुओं का जीवन चक्र अध्याय की बात कर रही थीं) में मैंने किशोर भारती के पास दूधी नदी से, नालों से मेंढक के बच्चे (टैडपोल) इकट्ठे किए, उन्हें पानी में रखा, मेंढक बने। जैसे मक्खी वाला प्रयोग करते थे और मक्खी उसमें से निकलती थी तो बच्चे चीख मारते थे।”

यह एक सकारात्मक रवैया माना जाना चाहिए कि शिक्षक बच्चों के विकास और अपने विकास को परस्पर सम्बंधित प्रक्रिया मानते हैं।

दूसरी समझ यह थी कि एक शिक्षक के लिए यह ज़रूरी है कि उसे विषयवस्तु का गहरा ज्ञान हो। गहरे ज्ञान से तात्पर्य ढेर सारे शब्द, परिभाषाएं, सूत्र याद होने से नहीं है। उसे उस विषय के तार्किक क्रम का, विभिन्न विषयों के साथ उसके सम्बंध का, उस विषय में ज्ञान हासिल करने व समझने की विधियों का अंदाज़ होना चाहिए।

तीसरी समझ यह थी कि उसे अपने आप में और बच्चों की क्षमताओं में विश्वास होना चाहिए।

प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों को इस पद्धति के विभिन्न पहलुओं व क्रियांवयन की समझ भी हासिल होनी चाहिए। खास तौर से हो.वि.शि.का. की कक्षा में शिक्षक की एक नई भूमिका और शिक्षण प्रक्रिया के खुलेपन, खोज के रोमांच जैसी चीजों में उन्मुखीकरण ज़रूरी था।

और अंतिम समझ यह थी कि शिक्षक को कक्षा में जो कुछ करना है, उसका अच्छा अभ्यास होना चाहिए।

प्रशिक्षण का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष एक माहौल था जिसमें धीरे-धीरे शिक्षकों को यह महसूस होता था कि ‘नहीं आता’ कहने से शर्मिंदा नहीं होना पड़ेगा, बल्कि यह सीखने की दिशा में एक कदम होगा। शिक्षकों को यह भी विश्वास होने लगता था कि यहां गलती करना कोई अपराध नहीं है, गलती करने पर मखौल नहीं होगा, मदद मिलेगी। पिपरिया में शिक्षक गोष्ठी के दौरान शिक्षकों ने इस बात को इस रूप में कहा कि इससे शिक्षक की सर्वज्ञाता छवि को तोड़ने में काफी सफलता मिली थी और इसे वे एक सकारात्मक बात मानते थे। इसी कार्यक्रम ने उन्हें यह आत्मविश्वास दिया कि बच्चों के सामने कह सकें कि ‘मुझे पता नहीं है, करके देखते हैं, शायद पता चल जाए।’ इसके अलावा यह भी सामने आया कि हो.वि.शि.का. प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों की आंखें खुल जाती हैं कि प्रयोगों के अवलोकन उनकी सैद्धांतिक सोच या समझ के अनुसार नहीं आते।

हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में इन सारे मुद्दों को एक साथ संबोधित करने का प्रयास किया गया था।

एक सामान्य कक्षा का खाका खींचने से इसे समझने में मदद मिलेगी। मगर उससे पहले प्रतिदिन की तैयारी का एक चित्र प्रस्तुत करना ठीक होगा।

शिक्षक प्रशिक्षण शुरू होने से तीन दिन पहले स्रोत दल प्रशिक्षण स्थल पर पहुंच जाता था और प्रशिक्षण की तैयारी शुरू हो जाती थी। इस तैयारी में कई काम होते थे और इनसे एक आभास मिलता है कि हो.वि.शि.का. स्रोत दल में श्रम विभाजन जैसे कोई चीज़ नहीं थी। प्रशिक्षण की तैयारी में स्रोत शिक्षकों व प्रशिक्षु शिक्षकों के आवास की व्यवस्था मुकम्मल करना, लाइट पंखे लगाना, पीने के पानी की व्यवस्था करवाना, भोजन व्यवस्था बनाना, कक्षा के लिए दरियों का इन्तज़ाम करवाना, किट सामग्री को व्यवस्थित जमाना, तीन सप्ताह का टाइम टेबल बनाना, स्रोत दल की टोलियों बनाकर उन्हें अध्याय आवंटित करना, स्रोत दल द्वारा अपने-अपने अध्यायों की तैयारी करना वगैरह शामिल थे। ये सारे काम स्रोत दल द्वारा मिल-जुलकर निपटाए जाते थे। दरअसल कई बारी इनमें से वे काम ज्यादा अहमियत अद्वितीय रूप से जिन्हें □प्रशासनिक□ या □व्यवस्थागत□ काम कहा जाता है।

अलबत्ता यहां हम शैक्षणिक तैयारी की ही बात करेंगे। शुरू के तीन दिनों के दौरान कोशिश यह होती थी कि स्रोत दल की टोली को मिले सारे अध्यायों का एक मोटा-मोटा खाका तैयार कर लिया जाए। इसी दौरान किट सामग्री की जांच कर लेने का काम भी होता था। प्रत्येक अध्याय के लिए ज़रूरी किट सूची बनाना भी तैयारी का एक बड़ा काम था क्योंकि किट कक्ष को पता होना चाहिए कि किस दिन किस कक्ष में किस अध्याय के लिए किट की आवश्यकता है। यदि टोली कोई नया प्रयोग सोचे तो इसकी सूचना भी किट कक्ष को होनी चाहिए। प्रशिक्षण के दौरान यह किट कक्ष एक क्लीयरिंग हाउस जैसा बन जाता था।

इन्हीं तीन दिनों में उन प्रयोगों की व्यवस्था भी कर लेना होती थी जो लंबी अवधि के हैं और जिनकी तैयारी काफी पहले से करनी होती है। जैसे पौधों में प्रजनन में कृत्रिम परागण का प्रयोग करवाने के लिए स्रोत दल को पहले से किसी बाड़ी में जाकर मालिक से बात करके अनुमति ले लेना होती थी। इसी प्रकार से परिवर्धन अध्याय में एक प्रयोग था जिसमें अलग-अलग अवधि तक विकसित अंडे एक ही दिन चाहिए। इनका इन्तज़ाम भी पहले से करना होता था। और भी कई प्रयोग थे जिनके बारे में कई दिन पहले से सोचना होता था। प्रशिक्षण के लिए इन प्रयोगों की एक चेक लिस्ट तैयार कर दी गई थी। इस पक्ष की एक कमज़ोरी यह कही जा सकती है कि इस तैयारी में प्रशिक्षु शिक्षक कभी शामिल नहीं हो पाए जबकि अपने स्कूल में उन्हें यह सारी तैयारी खुद करना होती थी।

इसके बाद एक-एक अध्याय की विस्तृत तैयारी का नम्बर आता था। स्रोत दल की प्रत्येक टोली से यह अपेक्षा होती थी कि वह उस अध्याय के सारे प्रयोग किट कक्ष में उपलब्ध सामग्री से करके देखे। यह अपेक्षा थोड़ी ज्यादती लग सकती है क्योंकि बाल वैज्ञानिक के सारे प्रयोग इतनी बार इतने लोग कर चुके थे कि उनकी ‘सफलता’ पर कोई संदेह नहीं था। मगर फिर भी यह आग्रह दो कारणों से ज़रूरी था। एक तो प्रत्येक टोली में हर बार नए सदस्य होते थे। उनके लिए तो ज़रूरी था कि वे प्रत्येक प्रयोग के विभिन्न आयामों के प्रति आश्वस्त हो जाएं। दूसरी बात यह थी कि अनुभव से यह समझ बनी थी कि किट कक्ष द्वारा प्रदान की गई सामग्री या अन्य स्थानीय सामग्री से उस प्रयोग को करके देख लेना आवश्यक होता है क्योंकि परिस्थितियां बदलने पर कई बातें बदल जाती हैं।

तैयारी का एक पहलू यह भी होता था कि टोली को यह तय करना होता था कि कक्ष में वह अध्याय को किस तरह से प्रस्तुत करने जा रही है। इसमें अध्याय की भूमिका, नए प्रयोग, प्रश्नों की प्रकृति वगैरह बातों पर ध्यान दिया जाता था। तैयारी के ही दौरान यह भी तय करना होता था कि अध्याय हो जाने के बाद मूल्यांकन के लिए किस तरह के सवाल दिए जाएंगे।

तैयारी में एक पक्ष तब जुड़ा जब स्रोत शिक्षकों को प्रशिक्षण की प्रमुख भूमिका सौंपी गई। प्रत्येक टोली अपनी तैयारी करने के बाद एक खाका पूरे स्रोत समूह के सामने पेश करती थी और वहां चर्चा के आधार पर उसमें संशोधन वगैरह कर लेती थी।

इस तैयारी को लेकर स्रोत दल की टोली प्रतिदिन कक्षा में पहुंचती थी। किट कक्ष द्वारा दिया गया सामान साथ होता था।

प्रतिदिन पांच घण्टे

प्रशिक्षण शिविर में एक आम कक्षा करीब 40-50 शिक्षकों की होती थी। पहले ही दिन 4-4 शिक्षकों की टोलियां बना दी जाती थीं। आगे का अधिकांश काम टोलियों में ही करना होता था। प्रत्येक शिक्षक को सम्बंधित कक्षा की बाल वैज्ञानिक व अन्य ज़रूरी सामग्री दे दी जाती थी। पिछले दिन की कक्षा की गतिविधि का प्रतिवेदन रोज़ कक्ष में पढ़ना एक परंपरा-सी थी। पिछले सारे वर्षों के अधिकांश प्रतिवेदन सुरक्षित रखे गए हैं। वैसे बाल वैज्ञानिक संशोधन के समय ये भी फीड बैक का एक स्रोत भी रहे हैं।

आम तौर पर प्रशिक्षण सत्र सुबह सात-साढ़े सात बजे शुरू होकर एक-डेढ़ बजे तक चलता था; बीच में आधे घंटे की छुट्टी।

जिस तरह से शिक्षकों की टोलियां होती थीं, उसी तरह से स्रोत दल भी टोलियों में पहुंचता था। स्रोत दल की एक टोली में 4-5 स्रोत व्यक्ति होते थे। इनमें से कोई एक कक्षा में नेतृत्व व संचालन की भूमिका निभाता था। यह सदस्य अध्याय का थोड़ा परिचय वगैरह देकर कार्यवाही शुरू करता था। यह परिचय अलग-अलग रूप में होता था। जैसे कोई टोली सीधे किसी धमाकेदार प्रयोग से शुरू करना चाहती थी, तो कोई टोली शिक्षकों के पास पहले से उपलब्ध समझ के आधार पर आगे बढ़ती थी। कभी-कभी स्रोत दल किसी ऐसे प्रश्न से भी शुरू करता था जो उस अध्याय का मूलभूत सवाल है।

अब प्रयोगों का सिलसिला शुरू होता था। स्रोत दल के सदस्य शिक्षकों की विभिन्न टोलियों में बंटकर उन्हें प्रयोग करने में मदद करते क्योंकि कोशिश यह थी कि प्रत्येक शिक्षक प्रयोग करने की विधि भलीभांति सीख जाए। प्रयोग करके अवलोकन लिख लेने के बाद पहले तो टोली में ही उन पर चर्चा होती थी और उसके बाद पूरी कक्षा में। इस चर्चा का एक आधार (शायद प्रमुख आधार) तो बाल वैज्ञानिक में उस प्रयोग से सम्बंधित सवाल होते हैं मगर स्रोत दल की कोशिश होती थी कि चर्चा के दौरान अन्य संदर्भित सवाल जुड़ते जाएं।

इस तरह काम करने में शुरुआत में काफी दिक्कत होती थी क्योंकि प्रायः शिक्षक यह मानकर चलते हैं कि उन्हें आता ही है या वे सिर्फ पढ़कर या सुनकर समझ सकते हैं। अन्य प्रशिक्षणों में यही होता भी है। शुरुआत में कई शिक्षक प्रयोग करने को लेकर झिझकते थे, टालमटोल करते थे। जैसे पहले ही शिविर (1972) में शिक्षकों से एक मेज़ की लंबाई नापने को कहा गया, तो उनका जवाब था, “अरे यह तो बच्चों का खेल है। कोई गंभीर काम बताइए।” जब यश पाल ने उन्हें ठेलते हुए कहा, “अरे यार करके तो देखो” तब उन्होंने यह प्रयोग किया और भौंचके रह गए कि उन्हें नापना तक नहीं आता।

वैसे भी हाथ से काम करने, इसे सीखने का एक तरीका मानने में उन्हें थोड़ी अड़चन होती है। पुस्तकों में संचित ज्ञान को ही वे आदर्श पढ़ाई मानकर चलते हैं। ज्ञान की खोज वगैरह में उनकी इतनी रुचि दिखाई नहीं पड़ती। यह बात औपचारिक रूप से विज्ञान पढ़ चुके (बी.एससी., एम.एससी.) शिक्षकों में तो और भी ज्यादा नज़र आती है। वे इस प्रक्रिया से पूरी तरह अनभिज्ञ होते हैं और उनका इस तरह के खुले दायरे में ज्ञान अर्जित करने का कोई अनुभव नहीं होता। इसलिए प्रयोग करने, स्वयं सोचने, अपने अवलोकन पर ध्यान देकर उस पर विश्वास करने के लिए तैयार होने में उन्हें थोड़ा समय लगता है। उनको एक दिक्कत यह होती थी कि अधिकांश प्रयोग इतने आसान हैं कि उन्हें लगता था कि वे जानते हैं कि

अवलोकन क्या होंगे। इसलिए इन्हें करना, उन्हें समय की बरबादी लगती होगी। जैसे पानी का क्वथनांक ही लें। बच्चा-बच्चा जानता है कि पानी 100° सेल्सियस पर उबलता है। मगर करके तो देखिए। हो.वि.शि.का. के तीस सालों के इतिहास में एक बार भी पानी 100° सेल्सियस पर नहीं उबला। जब ना नुकर करते हुए शिक्षक इसे कर लेते तो उत्साह देखते बनता था। क्योंकि इसके बाद यह समझने की बारी आती थी कि अखिर पानी ‘ठीक’ तरह से व्यवहार कर्यों नहीं कर रहा है। जब बात निकलती तो उन्हें याद आने लगता कि पानी के क्वथनांक के साथ कुछ शर्तें थीं - वह क्वथनांक ‘सामान्य दाब’ पर था और ‘शुद्ध पानी’ का था।

इसी प्रकार के अनुभव तब भी होते थे जब कोई ऐसा चुंबक हाथ में आ जाता जिसके दोनों सिरों पर उत्तर ध्रुव होते।

वैसे देखा गया है कि प्रशिक्षण आगे बढ़ने के साथ अधिकांश शिक्षक प्रयोग करने लगते थे - अधिकांश रुचि से, कुछ ठेलने से। कई बार तो प्रयोग सामग्री हाथ में आने के बाद उन्हें रोकना मुश्किल हो जाता था। नए-नए विचार उभरने लगते थे, नए-नए प्रयोग होने लगते थे। उम्मीद तो यह होती थी कि वे अपनी कक्षा में भी इसकी गुंजाइश रखेंगे। मगर यह बताना भी ज़रूरी है कि अंततः पूरे माहौल के बावजूद कुछ शिक्षक तो बच ही जाते थे।

प्रयोग करने में रुचि के अलावा एक दिक्कत और होती थी। वह दिक्कत थी कौशल की। अधिकांश शिक्षकों ने या तो कभी प्रयोग किए ही नहीं हैं या बहुत पहले कभी किए होंगे। और संभवतः उन्होंने अपनी पढ़ाई के दौरान जो प्रयोग किए थे वे बिलकुल अलग मकसद से किए थे। उनमें अपेक्षित उत्तर लाना ही प्रमुख लक्ष्य होता था - वे प्रयोग सत्यापन के लिए किए जाते थे (पानी का क्वथनांक 100° सेल्सियस निकालने के लिए)। अनुभव यह रहा है कि बड़ी संख्या में शिक्षकों को अत्यंत साधारण प्रयोग करने के हुनर का भी अभाव होता है। अतः प्रशिक्षण में यह एक प्रमुख सरोकार होता था कि हर शिक्षक प्रयोग खुद करके देख ले।

प्रयोग कर लेने के बाद बारी आती थी अवलोकन रिकॉर्ड करने की। जो देखा उसे सीधे-सादे शब्दों में कहना और लिखना, तालिकाबद्ध करना, चित्र के माध्यम से दर्शाना वगैरह इस प्रक्रिया के प्रमुख अंग थे। खास तौर से चित्र बनाने में अधिकांश शिक्षकों को काफी मशक्कत करनी पड़ती थी। जो देखा है उसे चित्र रूप में उतारने की आदत ही नहीं है। खास तौर से जीव विज्ञान वाले हिस्से में परेशानी का सामना करना पड़ता था। जैसे बीज का अध्ययन करते हुए चित्र बना रहे हैं, तो चित्र ठीक उतना बड़ा बनेगा जितना बड़ा बीज था और यदि बड़ा करके बनाया तो अनुपात गड़बड़ा जाएंगे। सूक्ष्मदर्शी तो कई तरह से एक विशेष अनुभव होता ही था। यहां प्रशिक्षण का एक प्रमुख पक्ष उभरता था। आम तौर पर हम सबकी आदत होती है कि जो देख रहे हैं, उसे प्रस्तुत करते समय (चाहे चित्र के माध्यम से या शब्दों में) हम वह कहते या बनाते हैं जो हमारे मन में पहले से बैठा है - सामने पत्ती कोई भी हो, हम वही प्रारूपिक पत्ती बना देंगे। इस बात पर काफी ज़ोर देना होता था कि अवलोकन रिकॉर्ड करने का मतलब क्या होता है।

इसके बाद का हिस्सा और भी समस्यामूलक होता था। सामूहिक चर्चा के ज़रिए निष्कर्ष निकालना। इसमें प्रशिक्षक का काम आदर्श रूप में चर्चा सुनिश्चित करने वाले व्यक्ति यानी facilitator का होता था। शिक्षकों से अपेक्षा होती थी कि वे अपने अवलोकनों की व्याख्या करते हुए क्रमिक रूप से एक सामूहिक निष्कर्ष पर पहुंचें। परंतु शिक्षकों की मांग होती थी कि उन्हें सही निष्कर्ष बता दिया, ताकि वे उसे नोट कर लें (कक्षा में बच्चों को भी तो बताना है!)। सामूहिक चर्चा, एक-दूसरे की व्याख्या को सुनना व समझना, उन्हें तर्क व अवलोकन की कसौटी पर परखना, नए अवलोकनों व तर्कों के परिप्रेक्ष्य में खुद के मत की समीक्षा करना, उसमें संशोधन करना, निष्कर्ष निकल आने पर उसकी पुष्टि के तरीकों पर विचार करना, आदि-प्रक्रियाएं तो काफी अजनबी रसी होती थीं और श्रमसाध्य भी। इसीलिए संचित ज्ञान का शॉर्टकट अपनाने को लगातार मन करता था। (यह कहना लाजमी है कि कई स्रोत व्यक्तियों का भी यही मन करता

सामूहिक चर्चा की जिम्मेदारी आम तौर पर स्रोत दल टोली में से कोई एक व्यक्ति संभालता था। प्रयोग के अवलोकनों को बोर्ड पर क्रम से लिखना, सामान्य से अलग अवलोकनों को छांटना, उन पर चर्चा करके असामान्यता के कारण ढूँढना, ज़रुरी हो, तो प्रयोग को दोहराना, इत्यादि पहले दौर के काम होते थे।

यह हो जाने के बाद अवलोकनों की व्याख्या बहुत आसान होती थी और साफ दिखाई भी पड़ती थी। कुछ मामलों में एक से ज्यादा व्याख्याएं संभव होती थीं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्याख्या की छानबीन की जाती। इन व्याख्याओं को किसी अन्य परिस्थिति में लागू करके सवाल पूछे जाते। जैसे यदि यह व्याख्या सही है, तो अमुक परिस्थिति में क्या होगा? कई बार ये प्रश्न सैद्धांतिक या मानसिक प्रयोग होते थे। मगर कभी-कभी ऐसे प्रयोग भी होते थे जिन्हें करके देखा जा सकता था। यह तरीका भी अपनाया जाता था कि प्रयोग करने के पहले ही पूछें कि प्रस्तावित व्याख्या के अनुसार क्या अवलोकन आएंगे और फिर प्रयोग करके उत्तर की जांच करें। इस तरह वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्वों में तैरते-उतराते, डगमगाते हुए कक्षा आगे बढ़ती थी।

यह हिस्सा काफी मुश्किलों से भरा होता है। प्रयोग कर लेने के बाद शिक्षक चाहते हैं कि उन्हें निष्कर्ष लिखवा दिए जाएं। यदि यह न हो सके तो कम से कम जब वे किसी निष्कर्ष पर पहुंचे तो तुरंत बता दिया जाए कि वह सही है या नहीं। ये दोनों पद्धतियां नहीं अपनाई जातीं। स्रोत दल अड़ा रहता कि सही-गलत का निर्णय भी उन्हें ही करना है। मगर शिक्षक आश्वस्त नहीं हो पाते। प्रशिक्षणों में कई बार शिक्षकों ने यह असंतोष ज़ाहिर किया है कि उनके सवालों के जवाब नहीं दिए जाते।

कक्षा की इस नई परिपाठी में कई बार एक कदम आगे, दो कदम पीछे चलना, विचलन होना, भटकना, बह जाना, वगैरह चलता रहता। जो लोग (पाठ्य पुस्तक द्वारा निर्धारित) एक सरल रेखा में शिक्षण के आदी हैं, उनको यह बहुत उबड़-खाबड़ लगता और समय की बरबादी भी लगती। परंतु आश्चर्य की बात है कि अधिकांश शिक्षकों को इसमें मज़ा आने लगता था और खोज का आनंद भी मिलता था। कई बार लगता था कि इतना आसान सा प्रयोग है, शिक्षकों को बिलकुल मज़ा नहीं आएगा, पर पता चलता कि वे तल्लीनता से उसे करने में लगे हैं।

मगर पूरी प्रक्रिया में एक संतुलन की ज़रूरत होती है। स्रोत दल को निर्णय करना होता है कि शिक्षकों का कोई समूह किस हद तक ‘खोज प्रक्रिया’ को आगे ले जा सकता है और किस मुकाम के बाद हताशा की स्थिति आ रही है। यह एक मुश्किल व परिस्थिति पर निर्भर फैसला है जो किसी भी शिक्षक को करना होता है। अपनी कक्षा में शिक्षकों को भी यह फैसला करना होता है। मगर ‘खोज’ की परतों को खुलने का पूरा मौका दिया जाना चाहिए।

कुछ और प्रक्रियाएं

प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाता था। यह मूल्यांकन करने का मक्सद उन्हें प्रशिक्षण के अंत में ग्रेड देना नहीं बल्कि यह होता था कि यह पता चल सके कि पाठ्यक्रम के कौन-से हिस्सों में उन्हें और मदद की ज़रूरत है। वैसे तो प्रतिदिन के अध्यापन के दौरान बीच-बीच में प्रश्नों के माध्यम से पता चलता रहता था कि बात कहां तक पहुंच रही है। मगर कुछ अवधारणाओं को लेकर विशेष तौर पर परीक्षण भी किया जाता था। इसके लिए समय-समय पर ‘लघु प्रश्न’ दिए जाते थे जिनके बारे में शिक्षकों ने कई बार कहा कि वे ‘अति-दीर्घ प्रश्न’ होते थे। ये प्रश्न इस तरह बनाए जाते थे कि उनमें किसी अध्याय की मूल बातों की जांच हो जाए। इन प्रश्नों को जांचने के बाद शिक्षकों से चर्चा के दौरान अध्याय के कुछ हिस्सों की पुनरावृत्ति की जाती थी। विभिन्न प्रशिक्षणों में दिए गए ‘लघु प्रश्न’ फाइलों में मिल जाएंगे।

प्रशिक्षण के अंत में एक प्रायोगिक परीक्षा भी ली जाती थी। इसके दो मक्सद थे। एक तो कुछ अंदाज़ लगता था कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों की प्रायोगिक कुशलता का कितना विकास हो पाया है। दूसरा मक्सद यह था कि शिक्षकों को प्रायोगिक परीक्षा का एक एहसास मिल जाए क्योंकि हो.वि.शि.का. में वार्षिक परीक्षा में 40 प्रतिशत अंक प्रायोगिक परीक्षा के लिए रखे गए थे।

चूंकि प्रशिक्षण के दौरान कक्षाओं में काफी खुलापन होता था, इसलिए शिक्षकों की ओर से ऐसे कई सवाल उठते थे, जो तत्काल विषय से सम्बंधित नहीं होते थे या यह डर होता था कि उन पर चर्चा शुरू हुई तो कक्षा में उस समय चल रही प्रक्रिया पूरी तरह पटरी से उतर जाएगी। कभी-कभी कार्यक्रम या पद्धति वगैरह से सम्बंधित सवाल भी होते थे। ऐसे सवालों को उस समय तो मुल्तवी कर दिया जाता था मगर हर सप्ताह के अंत में इनके लिए समय रखा जाता था जिसे ‘शंका समाधान सत्र’ कहते थे।

चूंकि हो.वि.शि.का. में परीक्षा का मक्सद व तरीका एकदम अलग है, इसलिए यह भी ज़रूरी समझा था कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों को परीक्षा सम्बंधी विभिन्न पहलुओं से भी परिचित करवाया जाना चाहिए। हो.वि.शि.का. की परीक्षा में पूछे जाने वाले सवालों की प्रकृति का कुछ अंदाज़ तो उन्हें ‘लघु प्रश्नों’ व प्रायोगिक परीक्षा से मिल जाता था मगर प्रशिक्षण के दौरान कुछ सत्र खास तौर से प्रश्न पत्र बनाने के लिए भी रखे जाते थे। इन सत्रों में शिक्षकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे विभिन्न अध्यायों व अवधारणाओं, कुशलताओं वगैरह से सम्बंधित ऐसे प्रश्न बनाएं जो खुली किताब परीक्षा के लिए उपयुक्त हों तथा मात्र रटी हुई जानकारी को उगलवाने वाले न हों। हरेक टोली अलग-अलग प्रश्न बनाती थी और फिर उन पर पूरी कक्षा में खुली चर्चा होती थी। इसके अलावा परीक्षा के उद्देश्य, प्रश्न पत्र में संतुलन, अंकों के पुनर्निर्धारण वगैरह को लेकर चर्चा भी इन्हीं सत्रों में की जाती थी।

कक्षा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा प्रतिदिन पिछले दिन का प्रतिवेदन पढ़ने का होता था। बासी-बारी से प्रत्येक शिक्षक टोली प्रतिवेदन लिखकर प्रस्तुत करती थी। उम्मीद यह की जाती थी कि पांच घण्टे के प्रशिक्षण कार्य पर शिक्षकों के फीडबैक का माध्यम बनेगी यह परिपाठी। ऐसा हुआ भी था। कई बार प्रतिवेदनों में स्रोत दल के कक्षा संचालन पर टिप्पणियां की जाती थीं, अनुत्तरित सवाल लिखे जाते थे, साथी शिक्षकों पर टिप्पणियां भी होती थीं, कार्यक्रम के सम्बंध में राय व्यक्त की जाती थी। मगर अधिकांश शिक्षक पिछले दिन का विवरण देने और स्रोत शिक्षकों के बारे में अच्छी-अच्छी बातें कहने से आगे नहीं जाते थे। यह संभव है कि वे सचमुच वही महसूस करते हों, मगर ज्यादा संभव यह लगता है कि आलोचना या समीक्षा को निंदा का पर्याय मानकर वे किसी भी तरह की समीक्षा से परहेज़ करते थे। वेसे प्रतिवेदन लिखने में शिक्षकों की साहित्यिक रचनात्मकता काफी कुलांचे भरती थीं। आपको पद्ध में लिखे गए प्रतिवेदन मिल जाएंगे, उपमाओं और अलंकारों से भरपूर प्रतिवेदन मिल जाएंगे किन्तु एक फीडबैक की स्वस्थ परंपरा के रूप में यह बखूबी विकसित नहीं हो पाया। वैसे कई प्रशिक्षणों के कक्षा प्रतिवेदन सुरक्षित रखे हैं।

फीडबैक बैठक

हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में एक और स्वस्थ परिपाठी विकसित हुई थी। प्रतिदिन प्रशिक्षण सत्र के बाद स्रोत दल द्वारा उस दिन के क्रियाकलापों की समीक्षा करना प्रशिक्षण कार्यक्रम का अभिन्न अंग बन गया था। इसके लिए रोज़ दोपहर में फीडबैक बैठक आयोजित होती थी। कक्षाएं दोपहर करीब 1 बजे समाप्त होती थीं। दोपहर 2 बजे तक भोजन वगैरह करके थोड़ी फुरसत मिल ही पाती थी कि फीडबैक बैठक की पुकार लग जाया करती थी। मई-जून में होशंगाबाद में दोपहर का तापमान 40 से ऊपर ही होता है। ऐसे में 3 बजे फीडबैक बैठक एक त्रास के रूप में भी महसूस होती थी मगर होती ज़रूर थी। प्रशिक्षु शिक्षक चाहें तो इस बैठक में आ सकते थे।

प्रत्येक कक्षा का फीडबैक प्रस्तुत करने के लिए एक व्यक्ति नियुक्त किया जाता था जो प्रायः कोई

वालंटियर होता था या होती थी। उससे उम्मीद होती थी कि वह कक्षा की सामान्य कार्यवाही के विवरण के अलावा उसकी एक समीक्षा प्रस्तुत करे। यह समीक्षा स्रोत दल की भूमिका को भी समेटती थी। इसके अलावा कक्षा में उठे प्रमुख सवाल भी सामने रखे जाते थे। इस फीडबैक रिपोर्ट के आधार पर सामूहिक चर्चा होती थी। यह चर्चा कई बार स्रोत दल बनाम फीडबैक रिपोर्टर का रूप ले लेती थी। मगर कुल मिलाकर यह पूरे प्रशिक्षण को समृद्ध करने का काम करती थी। इसके आधार पर स्रोत दल अपने आगे के नियोजन में सुधार करता, कई अवधारणाओं की सफाई होती थी, कई नए विचार उभरते थे। दरअसल यह सुबह के प्रशिक्षण का ही विस्तार कहा जा सकता है जहां एक अर्थ में स्रोत दल स्वयं अपना प्रशिक्षण कर रहा होता था।

इस व्यवस्था के अनुभव काफी मिले-जुले रहे हैं। एक तो मानवीय पक्ष है। जैसे ही कोई फीडबैक रिपोर्टर स्रोत दल की भूमिका पर सवाल खड़े करता/ती, वैसे ही स्रोत दल की पूरी टोली अपना बचाव करने में जुट जाती। बात कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेप तक पहुंच जाती। कई बार ऐसा होता था कि एक ही कक्षा को लेकर काफी अलग-अलग एहसास होते थे, प्रक्रियाओं को लेकर अलग-अलग आकलन होते थे। दूसरी समस्या यह भी आती थी कि कई बार फीडबैक रिपोर्टर को बिलकुल अंदाज़ नहीं होता था कि स्रोत दल क्या करने की कोशिश कर रहा था। चूंकि फीडबैक रिपोर्टर को उद्देश्य पता नहीं होता था इसलिए उसकी राय में स्रोत दल की भूमिका निरुद्देश्य हो जाती थी। स्रोत दल के बचाव की मुद्रा अखित्यार करने की बात तब ज्यादा होने लगी जब स्रोत शिक्षकों ने कक्षा संचालन की प्रमुख ज़िम्मेदारी संभाली। इसका कारण उनके अपने आत्म विश्वास से जुड़ा था।

फीडबैक रिपोर्टिंग को लेकर एक समस्या बड़ी भारी थी। एक प्रशिक्षण शिविर में 6-7 से लेकर 8-10 कक्षाएं होना आम बात थी। इसका मतलब होता था कि 3 बजे शुरू हुई बैठक चलती ही चली जाएगी। यदि आप एक कक्षा को आधे घंटे का समय दे दें तो बैठक 3 से लेकर 5 घंटे तक चलेगी। इसके बाद स्रोत दल को अगले दिन की तैयारी भी करनी है। तो ये अंतहीन बैठकें एक समस्या बन गई। फीडबैक रिपोर्टरों को प्रशिक्षण देना एक काम बन गया - कैसे आप समझाएंगे कि किसी कक्षा की रिपोर्टिंग में किन बातों पर ध्यान केंद्रित किया जाए, कौन-सी बातें छोड़ी जा सकती हैं। और यह भी तब जब अधिकांश फीडबैक रिपोर्टर्स नए उत्साही वालंटियर्स होते थे। और उम्मीद यह होती थी कि वे अपनी रिपोर्ट लिखकर लाएंगे। यानी उन्हें दोपहर के भोजन और फीडबैक बैठक के बीच मिले एक घंटे में बैठकर रिपोर्ट लिखना होती थी। इतनी लगन से लिखी गई रिपोर्ट की अधिकांश बातों को अनावश्यक कहा जाएगा तो दिल पर क्या गुज़रेगी।

तो एक कोशिश शुरू हुई कि फीडबैक का थोड़ा मॉडरेशन किया जाए - फीडबैक बैठक से पहले सारे फीडबैक रिपोर्टर्स की एक बैठक होती थी जिसमें एक मॉडरेटर के साथ वे उन मुद्रों को चुन लेते थे जो मुख्य बैठक में प्रस्तुत किए जाएंगे। हालांकि इससे फीडबैक बैठक में थोड़ी चुरती आई भगव अधिकांश लोगों को लंगा कि □मज़ा□ नहीं रहा। एक कोशिश और की गई थी - फीडबैक रिपोर्टर को स्रोत दल टोली का सदस्य बना दिया गया और उम्मीद की गई कि वे पहले अपनी एक बैठक कर लें और फिर आपस में चर्चा के आधार पर सामूहिक फीडबैक बैठक में अपनी बात कहें।

इतनी तरह-तरह की कोशिशों से एक बात स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया को बहुत महत्वपूर्ण माना गया था और पूरी कोशिश थी कि यह उद्देश्यपूर्ण ढंग से और सकारात्मक माहौल में चल पाए।

तो करीब 5-6 बजे तक फीडबैक बैठक पूरी करके स्रोत दल को अगले दिन की चिंता सताने लगती थी। इस तरह से 18 दिनों के प्रशिक्षण में स्रोत दल प्रतिदिन करीब 11-12 घंटे काम करता था। कार्यक्रम से जुड़े शिक्षक गर्व से इस बात को याद करते हैं। शुरुआती वर्षों में तो रविवार अवकाश भी नहीं होता था।

फैलता कार्यक्रम, बदलता प्रशिक्षण

जब कार्यक्रम 16 स्कूलों में चलता था तब प्रशिक्षण में स्रोत व्यक्तियों के रूप में विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों के अध्यापक और विभिन्न प्रयोगशालाओं के वैज्ञानिक हुआ करते थे। इन दिनों प्रशिक्षणों की एक खूबी यह थी कि प्रशिक्षण सत्र के दौरान विषयों की परतें खुलती जाती थीं, प्रश्न प्रति प्रश्न होते रहते थे, नए-नए प्रयोग ऐन मौके पर ही डिज़ाइन हो जाते थे, और विषयों की आपसी कड़ियां भी बनती चलती थीं। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद भी प्रशिक्षण की मुख्य ज़िम्मेदारी इसी समूह ने उठाई थी। साथ में सहयोगी के रूप में कुछ उत्साही शिक्षकों को स्रोत शिक्षक के रूप में शामिल किया गया था। मगर प्रशिक्षण के दौरान इनकी भूमिका कक्षा के संचालन में सहयोगी की ही थी। ये टोलियों को प्रयोग करवाने में, टोलियों में उठ रहे प्रश्नों पर चर्चा करवाने में, या टोली द्वारा अपनी बात को सामूहिक चर्चा के दौरान प्रस्तुत करने में मदद करते थे। यह एक महत्वपूर्ण भूमिका थी मगर कक्षा की बागड़ोर स्रोत व्यक्तियों के हाथ में ही रहती थी।

वैसे तो हो.वि.शि.का. में आगे बढ़ने के विषय में सोच-विचार एक निरंतर प्रक्रिया थी मगर एकलव्य के गठन के बाद 1982-83 में आगे बढ़ने का एक मॉडल उभरा था। इसके अंतर्गत विचार यह था कि पहले इस कार्यक्रम को प्रदेश के तीन संभागों - होशंगाबाद, उज्जैन व इन्दौर - के समस्त ज़िलों के एक-एक शाला संकुल में रोपा जाएगा और फिर वहां विकसित संसाधनों की बुनियाद पर आगे बढ़ाया जाएगा। इसका मतलब यह होता कि कुछ ही वर्षों में यह कार्यक्रम 14 ज़िलों के सब स्कूलों में फैलाने की स्थिति आ जाती। आगे भी इसी तरह बढ़ने का प्रस्ताव था। इस योजना की व्यावहारिकता का एक मोटा-मोटा आकलन भी किया गया था। इस विचार-विमर्श में एक प्रमुख पक्ष शिक्षक प्रशिक्षण की ज़रूरत का था।

यह तो स्पष्ट था कि यदि इतने बड़े पैमाने पर कार्यक्रम को फैलाना है तो बड़ी संख्या में शिक्षकों का प्रशिक्षण छोटी-सी अवधि में करना ज़रूरी होगा। एक मोटे अनुमान के मुताबिक इन 14 ज़िलों में 3 वर्षों की अवधि में प्रति वर्ष करीब 20,000 शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की ज़रूरत होती। यह काम तत्कालीन स्रोत दल के लिए कदापि संभव न होता। इसलिए यह सोचा गया था कि यह काम स्रोत शिक्षकों को सौंपा जाना चाहिए। शिक्षक प्रशिक्षण का यह मॉडल कितना कारगर होता, इस बारे में अटकलें ही लगाई जा सकती हैं। इस दृष्टि से देखें तो शिक्षक प्रशिक्षण किसी भी नवाचार के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करता है।

बहरहाल, 1987 में इन्दौर में आयोजित एक शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान स्रोत शिक्षकों की तैयारी को परखने, उनकी सीमाओं का अंदाज़ लगाने व इस मॉडल की संभावनाओं को टटोलने के लिए एक प्रयोग किया गया। इस प्रशिक्षण में पहली बार यह फैसला हुआ कि स्रोत शिक्षक कक्षा संचालन की बागड़ोर संभालें और 'विशेषज्ञ स्रोत व्यक्ति' उनकी मदद करें। मदद का मतलब यह माना गया था कि प्रशिक्षण कक्षा की तैयारी करते समय स्रोत व्यक्ति गहन चर्चाएं करवाएंगे, वैकल्पिक रणनीतियों पर विचार करेंगे और कक्षा में उपस्थित रहेंगे ताकि कोई भी जटिल परिस्थिति निर्मित होने पर मदद कर सकें।

इस शिविर व बाद में भी इस प्रक्रिया के अनुभवों का विश्लेषण इस दृष्टि से उचित होगा कि इसमें आगे बढ़ने की संभावनाओं के सूत्र छिपे हैं।

प्रशिक्षण कक्षाओं में स्रोत शिक्षकों के कामकाज में एक बात स्पष्ट थी। ये स्रोत शिक्षक बाल वैज्ञानिक को भलीभांति आत्मसात कर चुके थे और किसी भी अध्याय को व्यवस्थित ढंग से पूरा करवाने में सक्षम थे। बाल वैज्ञानिक का एक-एक प्रयोग करने में और करवाने में भी बहुत निपुण थे। प्रयोगों में किस ढंग की सावधानियां रखनी होंगी, किस तरह के अवलोकन आने की उम्मीद की जानी चाहिए, गलतियों के स्रोत कहाँ-कहाँ हैं वगैरह बातें भी ये शिक्षक बखूबी जानते थे। यानी प्रशिक्षण के दौरान बाल वैज्ञानिक का प्रशिक्षण देना इनके लिए कठिन काम नहीं था।

मगर इसके साथ एक बात चिंतित करने वाली थी। अधिकांश स्रोत शिक्षक बाल वैज्ञानिक को अत्यंत यांत्रिक ढंग से पूरा करते थे। यानी वे एक लीक पर चलेंगे - प्रयोग करवाए, किताब में दिए गए प्रश्नों पर सबके विचार लिए, सही उत्तर तक पहुंचे और फिर अगले प्रयोग पर चल दिए। कहीं भी भटकाव, विचलन, पगड़ंडियों से बचकर चलते थे स्रोत शिक्षक। इसके पीछे उनका तर्क यह होता था कि जो शिक्षक प्रशिक्षण में आए हैं, उन्हें स्कूल में अपनी शिक्षकीय भूमिका निभाने के लिए जरूरी है कि वे सारे प्रयोग कर लें और बाल वैज्ञानिक में दिए गए सारे प्रश्नों के उत्तर जान जाएं। बतौर शिक्षक यह उनके लिए जरूरी है। इसलिए 'फालतू' की बातों में समय जाया नहीं करना चाहिए। यानी कक्षा में जो कुछ करवाना है और शिक्षक प्रशिक्षण के बीच वे एक-एक की संगति बनाना चाहते थे। और उनका मानना था कि स्कूलों में बाल वैज्ञानिक करवाना (यानी उसके सारे प्रयोग करवा देना और सारे प्रश्नों के उत्तर 'उभरवा' देना) ही प्रमुख काम है।

दूसरी बात यह थी कि कक्षा में जब भी ऐसे सवाल उठते जो उन्हें गैर-ज़रूरी लगते मगर सम्बंधित शिक्षक जवाब पाने का आग्रह करते तो वे विशेषज्ञ को आगे कर देते थे। इसका कक्षा के समीकरण पर एक विचित्र असर होता था। जल्दी ही शिक्षक यह बात ताड़ लेते थे कि स्रोत शिक्षक सिर्फ बाल वैज्ञानिक के दायरे में रहना चाहते हैं, तो वे जानबूझकर ऐसे सवाल पूछा करते थे। मगर यह उतनी दिक्कत की बात नहीं थी। शिक्षक यह भी पकड़ लेते थे कि एक 'विशेषज्ञ' वहाँ मौजूद है जो समय-समय पर हस्तक्षेप करेंगे। लिहाज़ा होता यह था कि कोई भी विवाद होने पर शिक्षक विशेषज्ञ की ओर देखने लगते कि वह निपटारा करे। कई बार तो स्रोत शिक्षक स्वयं भी इसमें शामिल हो जाते थे। इस वजह से कक्षा में एक नए किस्म की अख्यरथ सत्ता रथापित हो जाती थी।

कई बार फीडबैक बैठकों में इस बात पर चर्चा होती थी कि स्रोत शिक्षक ने अच्छी-खासी चलती हुई चर्चा को रुकवा दिया, या वास्तव में प्रशिक्षु शिक्षक सही कह रहे थे मगर स्रोत शिक्षक ने उन्हें गलत ठहरा दिया, या चर्चा के दौरान सही उत्तर आते ही उन्होंने बातचीत को रोक दिया वगैरह। यह समस्या कुछ हद तक इस बात का परिणाम थी कि अधिकांश स्रोत शिक्षकों की □विज्ञान□ विषय की पकड़ काफी कमज़ोर थी। इसे संबोधित करने के लिए स्रोत शिक्षक प्रशिक्षण के जो प्रयास किए गए उनकी चर्चा आगे की जाएगी।

मासिक गोष्ठियां व अनुवर्तन

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के प्रशिक्षण को एक सतत प्रक्रिया माना गया था। ठोस रूप में यह सातत्य तीन प्रमुख रूपों में सामने आता है - अनुवर्तन (फॉलो-अप), मासिक गोष्ठियां और होशंगाबाद विज्ञान बुलेटिन।

अनुवर्तन

सबसे पहले तो स्कूलों में अनुवर्तन यानी फॉलो-अप की व्यवस्था की गई। अनुवर्तन की ज़रूरत दो कारणों से महसूस की गई थी। एक कारण यह था कि कक्षा में पढ़ाते समय शिक्षक को कई दिक्कतें आती हैं और उसे वहाँ मदद की ज़रूरत होती है। ये दिक्कतें कई तरह की हो सकती हैं। कार्यक्रम के संचालन के बारे में और सामग्री के बारे में फीडबैक एकत्रित करना अनुवर्तन का दूसरा मकसद था। शुरुआत में तो कार्यक्रम से जुड़े स्रोत दल के सदस्य नियमित रूप से अनुवर्तन का काम करते थे। इस दल में अधिकांश व्यक्ति विश्वविद्यालयों महाविद्यालयों के अध्यापक तथा शोध संस्थानों में कार्यरत वैज्ञानिक थे। आगे चलकर उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों, शाला निरीक्षकों, माध्यमिक शालाओं के प्रधान पाठकों को भी इस काम में जोड़ा गया था। इसे कार्यकारी दल (operational group) का नाम दिया गया था। आगे चलकर माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों को भी अनुवर्तन की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी और धीरे-धीरे अधिकांश अनुवर्तन कार्य माध्यमिक शालाओं के शिक्षक ही करने लगे थे। आगे हम बात करेंगे

कि इस परिवर्तन का कारण काफी विडंबनापूर्ण है। 1977-78 में गठित इस कार्यकारी दल से कार्यक्रम में विभिन्न भूमिकाएं निभाने की अपेक्षा थी। खास तौर से स्कूली अनुवर्तन तथा आगे चलकर शिक्षक प्रशिक्षण में इनकी प्रमुख भूमिका सोची गई थी। इस दल को कोई औपचारिक रूप नहीं दिया गया था। इसमें चुने जाने के लिए कोई स्पष्ट मापदंड भी नहीं थे। स्रोत दल के साथ विभिन्न अंतर्क्रियाओं के दौरान देखा जाता था कि वे कौन से शिक्षक हैं जो कार्यक्रम की मूल भावना को आत्मसात कर चुके हैं, हुनरमंद हैं और उत्साहित हैं तथा अन्य शिक्षकों को प्रशिक्षण दे सकते हैं।

हो.वि.शि.का. में कार्यक्रम के संचालन के विभिन्न ढांचे मूलतः कोठारी शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन से उभरे थे। इनमें एक प्रमुख विचार शाला संकुल व संगम केंद्र का था। अनुवर्तन कार्य की योजना बनाना और उसे क्रियान्वित करना संगम केंद्र की ज़िम्मेदारी थी। होशंगाबाद (व आगे चलकर हरदा) ज़िले में प्रत्येक विकास खंड में एक संगम केंद्र होता था और इससे लगभग 50-60 शालाएं सम्बद्ध होती थीं। अन्य ज़िलों में प्रत्येक संगम केंद्र 7-8 स्कूलों की ज़िम्मेदारी उठाता था। शाला संकुल की कल्पना मात्र एक प्रशासनिक इकाई के रूप में नहीं की गई थी; यह भी सोचा गया था कि उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षक माध्यमिक शालाओं में शैक्षणिक मार्गदर्शन का काम करेंगे। दरअसल हो.वि.शि.का. के प्रशासनिक व शैक्षणिक विकेंद्रीकरण में शाला संकुल व संगम केंद्र की भूमिका का अलग से आकलन किया जाना चाहिए। इसी सोच के तहत अनुवर्तन कार्य की ज़िम्मेदारी उन्हें सौंपी गई थी। शुरू में तो यह व्यवस्था थी कि ज़िला शिक्षा अधिकारी कार्यालय में स्थापित विज्ञान इकाई हर महीने अनुवर्तन रिपोर्ट्स का विश्लेषण करके मासिक गोष्ठी का अजेंडा तय करेगी मगर बाद में यह व्यवस्था अव्यावहारिक साबित हुई और यह काम भी संगम केंद्र को सौंप दिया गया। मगर उच्च व उच्चतर माध्यमिक शालाओं में इस विचार को कभी भी दिल से नहीं अपनाया गया। महीने में दो बार किसी शिक्षक का अनुवर्तन कार्य पर जाना वहां एक व्यवधान के रूप में ही देखा गया। इस वजह से अनुवर्तन कार्य खटाई में पड़ता लगा। दूसरी समस्या और भी अजीब थी।

हो.वि.शि.का. में अनुवर्तन को स्पष्ट रूप से निरीक्षण से अलग माना गया था। अनुवर्तन एक शैक्षणिक कार्य था और शिक्षक की मदद के लिए था और शैक्षणिक फ़िडबैक हासिल करने के लिए था। धीरे-धीरे कई शिक्षक यह शिकायत करने लगे थे कि उच्चतर माध्यमिक शालाओं से आने वाले अनुवर्तनकर्ता प्रायः हो.वि.शि.का. की कक्षा तथा पाठ्यक्रम की ज़रूरतों से अनभिज्ञ रहते हैं। लिहाज़ा वे कक्षा में उपस्थित होने वाली दिक्कतों के संदर्भ में कोई मदद नहीं कर पाते। इसी से सम्बंधित दूसरी शिकायत यह थी कि ये अनुवर्तनकर्ता अपने काम को निरीक्षण के रूप में लेते हैं और मददगार की बजाय अधिकारी के रूप में पेश आते हैं। इन दोनों कारणों से माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों को कार्यकारी दल में शामिल किया जाने लगा था। वैसे इसके अनुभव भी बहुत अच्छे नहीं कहे जा सकते। एक तो किसी शिक्षक के लिए यह बहुत मुश्किल होता था कि वह महीने में दो बार अपना स्कूल छोड़कर किसी अन्य स्कूल में मदद के लिए जाए। स्कूलों में शिक्षकों की कमी के चलते यह और भी मुश्किल होता था। इसलिए अनुवर्तन एक ऐसी व्यवस्था थी जो आवश्यक व उपयोगी लगते हुए भी सबसे पहले कमज़ोर पड़ी। इसके कमज़ोर पड़ने में स्कूलों में शिक्षकों की कमी के अलावा समय पर यात्रा भत्ता का भुगतान न हो पाना जैसी प्रशासनिक दिक्कतों की भी भूमिका थी।

वैसे अनुवर्तन के कमज़ोर पड़ने का एक कारण समझ की कमी भी रहा। हो.वि.शि.का. में पहली बार ऐसी व्यवस्था बनाई गई थी। एक ओर तो प्रशासन को यह एक अनावश्यक व्यवस्था लगती थी। प्रशासन की एक शिकायत यह थी कि एक बार जब प्रशिक्षण हो चुका है, तो हर महीने और मदद की क्या ज़रूरत है। दरअसल इस तर्क को इस रूप में रखा जाता था कि अनुवर्तन करते रहने का मतलब है कि प्रशिक्षण में कोई कमी है। अभी हाल तक हालत यह थी कि शासकीय शिक्षक एक बार प्रशिक्षण कोर्स पूरा करके नियुक्त होते थे, तो पीछे मुड़कर नहीं देखते थे। पाठ्यक्रम बदल जाए, पाठ्य पुस्तक बदल जाए, उनकी

बला से। दूसरी ओर स्वयं अनुवर्तनकर्ता भी प्रायः यह नहीं समझ पाते थे कि उनसे अपेक्षा क्या है। अनुवर्तन कार्य का प्रशिक्षण देने के भी प्रयास हुए थे। कार्यकारी दल के सदस्यों को न सिर्फ बाल वैज्ञानिक का पूरा प्रशिक्षण दिया जाता था, बल्कि उन्हें अनुवर्तन की बारीकियों से अवगत कराने हेतु अलग से प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था थी। एक समय पर अनुवर्तन रिपोर्ट लिखने के लिए एक प्रपत्र भी तैयार किया गया था मगर इससे भी बात नहीं बनी। यह भी कोशिश की गई थी कि अनुवर्तनकर्ताओं को कुछ स्पष्ट कार्य दिए जाएं। जैसे बच्चों के साथ कुछ परीक्षण करना वगैरह। मगर कुल मिलाकर अनुवर्तन का मकसद पूरा नहीं हो पाया।

मासिक गोष्ठियां

शिक्षकों के लिए सतत प्रशिक्षण व मदद के लिए दूसरा मंच मासिक गोष्ठियों का था। हर महीने हरेक संगम केंद्र पर शिक्षकों की एक गोष्ठी आयोजित की जाती थी। इस गोष्ठी (जिसे शुरू-शुरू में अनुवर्तन गोष्ठी कहते थे) में अनुवर्तनकर्ताओं की रिपोर्ट में से प्रमुख मुद्दे चुनकर उन पर विचार विमर्श होता था। विचार यह था कि इन गोष्ठियों में वे मुद्दे उठेंगे जिनका निराकरण स्कूल अनुवर्तन के दौरान नहीं हो पाया होगा या जिनका निराकरण तो हो गया होगा मगर उनका सम्बन्ध मात्र एक स्कूल से नहीं है और उन पर सबके बीच चर्चा करना उपयोगी होगा। यह भी सोचा गया था कि यदि किसी स्कूल से किसी नए प्रयोग, नए विचार आदि की जानकारी मिलती है, तो मासिक गोष्ठियां उसको प्रसारित करने का भी मंच बनेंगी। प्रत्येक गोष्ठी में सारे शिक्षक शामिल नहीं होते थे बल्कि स्कूल की परिस्थिति के अनुसार 1-2 शिक्षक भाग लेते थे।

हालांकि समय के साथ इन गोष्ठियों के स्वरूप में काफी बदलाव आया मगर अंत तक ये शिक्षकों के बीच तथा शिक्षकों व स्रोत दल के बीच परस्पर वार्तालाप का जीवंत मंच बनी रही थीं। कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद प्रति माह 11 गोष्ठियां तथा अन्य ज़िलों में प्रसार के बाद प्रति माह 23 गोष्ठियां नियमित रूप से होती रहीं और शिक्षकों के बीच शैक्षणिक वार्तालाप को संभव बनाती रहीं। शिक्षकों को एक शैक्षणिक समूह के रूप में विकसित करने की दिशा में यह एक सशक्त कदम रहा।

ज़ाहिर है कि जब अनुवर्तन प्रक्रिया कमज़ोर पड़ी तो मासिक गोष्ठियों का मूल स्वरूप बाधित हुआ। अनुवर्तन से शैक्षणिक मुद्दे आना कम होता गया। एक दौर आया था जब मासिक गोष्ठियों में या तो किट के अभाव की चर्चा होती थी या यात्रा भत्ता भुगतान की समस्याओं की। यह सही है कि ये मुद्दे भी महत्वपूर्ण हैं और मासिक गोष्ठियों में इन पर चर्चा होना भी महत्व रखता है मगर कक्षा के अनुभवों पर, बच्चों के सवालों पर, शैक्षणिक दिक्कतों पर या विषय सम्बन्धी चर्चा बिलकुल भी न होना चिंता का विषय बना। यह 1983-84 की बात है।

इस समय स्रोत दल में काफी चर्चाओं के बाद यह तय किया गया कि हर माह मासिक गोष्ठियां के अजेंडा में अनुवर्तन रिपोर्टों से उभरे मुद्दों के अलावा कुछ मुद्दे स्रोत दल द्वारा भी निर्धारित किए जाएंगे। ये मुद्दे बाल वैज्ञानिक के अध्यायों की पुनरावृत्ति के भी होते थे और बाल वैज्ञानिक के अध्यायों को ज़्यादा गहराई से समझने के भी होते थे। कभी-कभी शिक्षकों के साथ पाठ्यक्रम के विभिन्न पहलुओं को साझा करने के प्रयास भी किए गए। इस प्रयास के फलस्वरूप मासिक बैठकें एक बार फिर जीवंत हो उठी थीं। मगर इस व्यवस्था में नियोजन काफी केंद्रीकृत हो गया था और स्कूलों से उठे मुद्दे गौण होने लगे थे। इस समस्या को संबोधित करने के लिए एक और प्रयास किया गया।

इस प्रयास के तहत सारे संगम केंद्रों के प्रभारी शिक्षकों और संगम केंद्र के स्कूलों से जुड़े कार्यकारी दल के 1-2 शिक्षकों की एक तैयारी गोष्ठी करना शुरू किया गया। संगम केंद्र पर होने वाली मासिक अनुवर्तन गोष्ठी से पहले पूरे ज़िले से कार्यकारी दल के करीब 30-35 शिक्षक बैठकर मासिक गोष्ठी का अजेंडा तय करते और उसकी तैयारी करते। फिर अपने-अपने संगम केंद्र पर उसी के अनुसार मासिक

गोष्ठियों का संचालन करते। अब स्रोत दल के लोगों का प्रमुख काम तैयारी गोष्ठी में अच्छी तरह तैयारी करवाना हो गया। अलबत्ता, इसके बाद भी स्रोत दल के व्यक्ति मासिक गोष्ठी में उपस्थित रहते थे और लगभग वही भूमिका निभाते थे जो वे शिक्षक प्रशिक्षण के नए स्वरूप में निभाने लगे थे। वैसे मासिक गोष्ठी के इस नए संस्करण का एक फायदा यह हुआ कि गोष्ठियों में शैक्षणिक विचार-विमर्श में वृद्धि हुई और साथ ही स्थानीय मुद्दों के लिए भी गुजाइश बनी रही।

मासिक गोष्ठियों ने शिक्षकों के सतत प्रशिक्षण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका तो निभाई ही है, साथ ही इन मासिक गोष्ठियों ने शिक्षकों को कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं में जोड़ने में भी योगदान दिया है। मासिक गोष्ठियों की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों के बीच शैक्षणिक आदान-प्रदान के एक मंच के रूप में रही है। ये गोष्ठियां वह मंच भी बनीं जहां वे अपने समस्याएं उठा सकते थे।

शिक्षक निर्देशिका व बुलेटिन

सतत प्रशिक्षण का तीसरा ठोस स्वरूप एक पत्रिका के रूप में था - होशंगाबाद विज्ञान बुलेटिन। जिला स्तरीय प्रसार के साथ ही ऐसी एक पत्रिका की कल्पना की गई जो कार्यक्रम की आंतरिक पत्रिका हो और कार्यक्रम सम्बंधी विमर्श के लिए एक मंच प्रदान करे। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद 1980 में इस पत्रिका का प्रकाशन शुरू हो गया था और कमोबेश लगातार होता रहा था।

एक ओर तो बुलेटिन शिक्षकों तक कार्यक्रम सम्बंधी जानकारियां व सूचनाएं पहुंचाने का साधन था, वहीं दूसरी ओर इसके माध्यम से शिक्षा व अन्य विषयों पर विमर्श भी संभव होता था। इसके अलावा बुलेटिन शिक्षकों के लिए भी अभिव्यक्ति का एक माध्यम बना। इसमें शिक्षक कार्यक्रम को लेकर अपने विचार बेबाक ढंग से प्रकट करते थे। इसे संभव बनाने के लिए हो.वि.शि.का. समूह को विशेष प्रयास करना पड़ा था। आम तौर पर सरकारी कर्मचारियों को अपने विचार (खास तौर से आलोचनात्मक विचार) प्रकट करने की आज़ादी नहीं होती। इसलिए लोक शिक्षण आयुक्त को एक निर्देश प्रसारित करना पड़ा था कि होशंगाबाद विज्ञान बुलेटिन में शिक्षक अपने विचार खुलकर व्यक्त करें, उन पर कोई कार्यवाही नहीं होगी।

शिक्षक निर्देशिका तैयार करने व उनके उपयोग की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

स्रोत शिक्षकों का प्रशिक्षण

हो.वि.शि.का. जैसे बुनियादी नवाचार कार्यक्रम में शिक्षकों का उन्मुखीकरण एक प्रमुख चुनौती के रूप में उभरता है। शिक्षकों को न सिर्फ नई विधि से परिचित कराना है वरन् कक्षा के एक नए स्वरूप के प्रति भी जागरूक करना है और यह विश्वास पैदा करना है कि यह विधि बच्चों के सीखने में मददगार है। इसके अलावा शिक्षकों के साथ इस बात पर भी संवाद बनाना है कि सीखने से आशय क्या होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया पहले-पहल तो शिक्षकों के प्रशिक्षण व उन्मुखीकरण का काम विश्वविद्यालयों व शोध संस्थानों से आए स्रोत व्यक्तियों ने किया। इन लोगों के पास विषय की गहरी समझ और आत्म विश्वास था। ये प्रशिक्षण शिविरों और मासिक बैठकों में चर्चाओं को खुलेपन से करने में सक्षम थे। ये लोग ऐन मौके पर नई-नई गतिविधियां तैयार कर सकते थे और तर्क को आगे बढ़ा सकते थे। दरअसल 1972-77 के दौर में शिक्षक प्रशिक्षण का स्वरूप कुछ अलग था - इसमें न सिर्फ शिक्षकों को अध्यापन कार्य के लिए तैयार करने की कोशिश होती थी, बल्कि इन्हीं शिविरों में विषयवस्तु व सामग्री का निर्माण भी होता था, परीक्षा पद्धति विकसित करने के प्रयास भी होते थे और कार्यक्रम सम्बंधी विविध विचार-विमर्श भी होते थे। मगर जब कार्यक्रम का प्रसार हुआ तो यह विशेषज्ञ समूह काफी छोटा साबित होने लगा। इस समय शिक्षकों के कार्यकारी दल की कल्पना की गई।

शिक्षक प्रशिक्षण की बातचीत के दौरान हमने देखा कि जब इस समूह को प्रशिक्षण में सहायक की भूमिका से प्रमुख भूमिका में रखा गया तो किस तरह की समस्याएं उपस्थित हुई थीं। सबसे प्रमुख बात

यह थी कि अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान बाल वैज्ञानिक को यांत्रिक ढंग से पूरी करने में सक्षम थे और तत्पर भी थे। यानी ये बाल वैज्ञानिक के अध्याय विशेष में दिए गए प्रयोग निहायत सफाई से पूरे करवा देते थे, और प्रश्नों पर चर्चा भी करवा देते थे और निष्कर्ष निकलवा देते थे। मगर बाल वैज्ञानिक मात्र प्रयोग करवाने और निष्कर्ष निकालने तक सीमित रहे तो हो। वि.शि.का. का मकसद पूरा नहीं होता। यह एक प्रमुख समस्या के रूप में उभरा।

इस समस्या का एक पहलू तो यह है कि इस तरह यांत्रिक ढंग से करने पर शिक्षकों की पूरी तैयारी नहीं हो पाती। वे अपनी कक्षा में तो इसका और भी तनु स्वरूप लागू कर देते हैं। मगर समस्या का दूसरा पहलू भी उतना ही महत्वपूर्ण है। प्रशिक्षण का एकमात्र मकसद शिक्षकों को बाल वैज्ञानिक पढ़ाने के लिए तैयार करना नहीं था। कोशिश यह होती थी कि प्रशिक्षण में भाग लेने वाले शिक्षक कार्यक्रम की मूल भावना से भी परिचित हों और उससे भी आगे बढ़कर वे विज्ञान करने का रोमांच व आनंद महसूस कर पाएं। यह भी कोशिश होती थी कि शिक्षक बच्चों के सीखने की प्रक्रिया पर विचार करने को तैयार हों। कुल मिलाकर वे नवाचार को एक उत्पाद मानने की बजाय एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करें जिसमें वे स्वयं शरीक हैं।

मशीनी ढंग से बाल वैज्ञानिक करवा देना इस व्यापक मकसद की पूर्ति नहीं करता। इसलिए यह सोचा गया कि स्रोत शिक्षकों को इस नई भूमिका के लिए तैयार करना ज़रूरी है। इसी के साथ स्रोत दल प्रशिक्षण की बात उभरी। स्रोत दल प्रशिक्षण की योजना बनाते रामय यह विचार करना आवश्यक था कि खामी कहां है। क्यों स्रोत शिक्षक अपनी भूमिका को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं निभां पा रहे हैं। इस सम्बंध में कुछ स्रोत शिक्षकों का मत था कि मुख्य समस्या यह है कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षक तरह-तरह के सवाल उठाते रहते हैं। स्रोत शिक्षकों को इन सवालों के जवाब नहीं मालूम होते, इसलिए वे कोशिश करते हैं कि चर्चा ज्यादा ‘भटकने’ न पाए। परिणाम यह होता है कि चर्चाओं में ज्यादा खुलापन नहीं आ पाता। उनके मुताबिक इसका एक आसान सा समाधान हो सकता है। पिछले प्रशिक्षणों के प्रतिवेदनों को देखकर यह पता कर लिया जाए कि किस अध्याय में किस तरह के सवाल उठते हैं और स्रोत शिक्षकों को इनके जवाब अच्छी तरह समझा दिए जाएं। मगर दूसरा विचार यह था कि ऐसे तो सारे सवालों का पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता। हर बार नया सवाल उठने पर हम वहीं के वहीं रहेंगे। इसलिए बेहतर होगा कि जवाब पाने की प्रक्रिया पर ध्यान दिया जाए। इसी विचार में से यह विचार निकला कि प्रमुख समस्या यह है कि अधिकांश स्रोत शिक्षकों की विज्ञान की औपचारिक पढ़ाई बहुत कम हुई है और विषयवस्तु के लिहाज से वे बहुत संपन्न नहीं हैं। इसलिए विज्ञान के कुछ चुनिंदा विषयों पर उनका विधिवत अध्यापन होना चाहिए।

इस दूसरे विचार में से ही स्रोत दल प्रशिक्षण का एक मॉडल उभरा। मॉडल यह था कि विज्ञान की कुछ बुनियादी अवधारणाएं चुनी जाएं और उनको कोर्स का रूप दिया जाए। स्रोत शिक्षक प्रशिक्षण शिविर 1995 में शुरू हुए और उसके बाद कई शिविर आयोजित किए गए। इनमें अणु व परमाणु की अवधारणा, आयनीकरण, विद्युत व इलेक्ट्रॉनिक्स, बुनियादी जैविक प्रक्रियाएं व तंत्र, कोशिका संरचना व अनुवांशिकी, बल, दबाव, आदि कई विषयों पर कोर्सेस करवाए गए। इन शिविरों में लगभग 100 स्रोत शिक्षकों ने भाग लिया। इनमें से कुछ कोर्स की सामग्री को शिक्षकों के लिए मॉड्यूल्स के रूप में प्रकाशित करने का भी विचार है।

एक विचार यह भी था कि एक पत्राचार नुमा कोर्स भी चलाया जाना चाहिए मगर यह विचार आगे नहीं बढ़ा।

नवाचार की चुनौतियां

दरअसल शिक्षकों को नवाचार के लिए तैयार करना किसी भी ऐसे कार्यक्रम के लिए एक प्रमुख चुनौती रहेगी। यहां हमने बात की कि हो।वि.शि.का. में इस पक्ष पर किस तरह के प्रयास किए गए। खास तौर से

कार्यक्रम को फैलाने में यह बात बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है कि कार्यक्रम की भावना को बड़े पैमाने पर फैलाने के लिए किस ढंग की प्रक्रियाएं व किस तरह के ढांचे उपयोगी होंगे। हो.वि.शि.का. का अनुभव बताता है कि सबसे कारगर प्रक्रिया तो वह होती है जब विशेषज्ञों और शिक्षकों के बीच सीधा संवाद संभव होता है। इस संवाद से न सिर्फ शिक्षकों में नवाचार के प्रति विश्वास पैदा होता है बल्कि कार्यक्रम भी समृद्ध होता है। मगर यह प्रक्रिया किस स्तर तक संभव है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। फिलहाल मुख्य धारा की शिक्षक प्रशिक्षण प्रक्रिया में जिस मॉडल का उपयोग किया जा रहा है उसमें कार्यक्रम नियोजकों और शिक्षक के बीच चार मध्यस्थ होते हैं। हो.वि.शि.का. में शुरू में तो प्रत्यक्ष संवाद की स्थिति थी और उसके बाद कार्यकारी दल के रूप में एक अतिरिक्त कड़ी बनी मगर इसके बाद भी स्रोत दल स्वयं अधिकांश प्रशिक्षणों में उपस्थित तो होता ही था। इसलिए शिक्षक व ‘कार्यक्रम’ के बीच लगभग प्रत्यक्ष संवाद बना रहा।

शिक्षकों की तैयारी के एक पहलू पर हमने यहां बिलकुल बात नहीं की है। नवाचार के उस पहलू पर तो हमने काफी बात की जिसका सम्बन्ध विज्ञान की विषयवस्तु व पद्धति से है। मगर एक नवाचार मात्र इतना ही नहीं होता। इसमें दो और प्रमुख बातें होती हैं। इनमें से पहली बात है विज्ञान की अपनी प्रकृति की बात और शिक्षा के सामान्य संदर्भ की बात। संभवतः ये दोनों बातें हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षणों व अन्य अंतर्क्रियाओं में गुंथी हुई थीं मगर प्रत्यक्ष रूप से इस पहलू पर कोई व्यवस्थित काम नहीं हुआ।

एक महत्वपूर्ण बात का सम्बन्ध कार्यक्रम में शारीक विभिन्न लोगों के परस्पर सम्बंधों के विकास से है। अच्छी विज्ञान शिक्षा (या यों कहें कि अच्छी शिक्षा) का एक महत्वपूर्ण पहलू विभिन्न भागीदारों के बीच ज्यादा प्रजातांत्रिक व समानता के सम्बंधों का विकास है। इस दृष्टि से देखें तो हो.वि.शि.का. में एक संस्कृति विकसित हुई थी (की गई थी कहना ठीक नहीं होगा) जहां बच्चों और शिक्षकों के बीच, शिक्षकों के बीच, शिक्षकों व स्रोत दल के बीच, स्रोत दल व प्रशासन के बीच, शिक्षकों व प्रशासन के बीच गैर बराबरी को कम करने के प्रयास निहित थे। एक तरह से देखें तो हो.वि.शि.का. समूह के लिए यह संस्कृति कार्यक्रम का अभिन्न अंग ही थी। हर अंतर्क्रिया में यह संस्कृति झलकती थी। शिक्षकों ने इसे महसूस किया और अधिकांशतः सकारात्मक रूप से लिया।

अंततः सवाल यह उठता है कि शिक्षकों की तैयारी व उन्मुखीकरण पर इतना निवेश करने के बाद उपलब्धियां क्या हैं। इस संदर्भ में कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं किए गए हैं। जो कुछ भी कहा जा सकता है वह एहसास और प्रत्यक्ष अवलोकनों व अनुभवों के आधार पर ही कहा जा सकता है। उपलब्धियों को कई नज़रियों से देखा जा सकता है।

यदि विषयवस्तु और विज्ञान की समझ की बात करें, तो कुछ सीमित अध्ययनों से पता चलता है कि विज्ञान की बुनियादी अवधारणाओं की समझ में हो.वि.शि.का. में शामिल शिक्षक बेहतर साबित होते थे। कहना न होगा कि प्रयोग करने की कुशलता तथा वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्वों की समझ की दृष्टि से तो ये शिक्षक बेहतर स्थिति में थे ही।

जहां तक परस्पर सम्बंधों की बात है, तो मासिक गोष्ठियों में व अन्य मंचों पर शिक्षकों की बेझिज्ञक भागीदारी व तर्क क्षमता स्पष्ट नज़र आती थी। स्रोत दल के सदस्य हों या प्रशासनिक अधिकारी, दोनों के साथ ही ये शिक्षक काफी बेधङ्क बातचीत करने में सक्षम थे। कई बात तो यह आलोचना का बिंदु बनता था कि हो.वि.शि.का. के शिक्षक मुहफट हो गए हैं।

वैसे शुरुआत में जब माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों को प्रशिक्षण में स्रोत शिक्षक बनाया गया था तब अन्य शिक्षकों की कुछ प्रतिक्रिया हुई थी मगर उनकी दक्षता ने शिक्षकों को कायल कर दिया कि उनके समकक्ष लोग भी प्रशिक्षण में स्रोत व्यक्ति हो सकते हैं।

कार्यक्रम से शुरू से जुड़े एक शिक्षक का इस सम्बन्ध में अनुभव था कि “शुरुआत में कार्यकारी दल

द्वितीय प्रारूप

में शामिल हायर सेकंडरी व्याख्याता यह स्वीकार नहीं कर पाए कि मिडिल स्कूल का एल.डी.टी. उनके बराबर हो जाए। खास तौर से प्रशिक्षण में जब एल.डी.टी. को कक्षा संचालन का ज़िम्मा दिया जाता था और व्याख्याता को उनके सहायक के रूप में काम करना पड़ता था तो व्याख्याता इस बात को पचा नहीं पाते थे।”

आगे चलकर तो हो.वि.शि.का. को कार्यकारी दल के शिक्षकों ने अन्य राज्यों में जाकर शिक्षक प्रशिक्षण की ज़िम्मेदारी संभाली।

वास्तव में हो.वि.शि.का. में शिक्षक प्रशिक्षण के जितने सघन प्रयास किए गए, उनका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह कहा जा सकता है कि शिक्षकों का एक शैक्षणिक पेशेवर समूह उभरा। इस बात को पिपरिया में हुई शिक्षक गोष्ठी (अगस्त 2006) में सुश्री शशिकला सोनी ने इन शब्दों में रखा और लगभग सभी शिक्षक उनसे सहमत थे:

“हो.वि.शि.का. ने शिक्षकों के लिए एक मंच बनाया और उन्हें एक पहचान दी। आज भी जब हो.वि.शि.का. के शिक्षक मिलते हैं तो एक सूत्र उन्हें आपस में बांधता है।”

ऐसे समूह का विकास आगे की संभावनाओं को लेकर आशा जगाता है।

कक्षाओं के अनुभव

हमने अभी तक यह बात की कि हो.वि.शि.का. में किस तरह के इनपुट्स प्रदान किए गए - बाल वैज्ञानिक कार्य पुस्तक, शिक्षक प्रशिक्षण, किट, शिक्षक निर्देशिकाएं, सवालीराम, अनुवर्तन, मासिक गोष्ठियां वगैरह। इनका अलग-अलग विश्लेषण भी हमने किया। मगर ये सारे इनपुट्स जिनके लिए जुटाए गए थे उनकी बात अभी तक हमने नहीं की है यानी बच्चे। यह शायद खटक भी रहा होगा। इस खंड में हम हो.वि.शि.का. की एक कक्षा का खाका खींचने की कोशिश करेंगे। आदर्श रूप में कक्षा किस तरह की होगी यह तो संभवतः स्पष्ट हो ही गया होगा।

मोटे तौर पर कहें तो कक्षा में सारे बच्चे टोलियों में काम करेंगे। सबसे पहले शिक्षक बच्चों के साथ चर्चा के माध्यम से कुछ भूमिका बनाएंगे। या वे चाहें तो किसी प्रयोग या किसी आम अनुभव को भी भूमिका के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रत्येक टोली स्वतंत्र रूप से प्रयोग करेगी और अपने अवलोकन रिकॉर्ड करती चलेगी। कोई दिक्कत होने पर शिक्षक उनकी मदद करेंगे। यह दिक्कत प्रयोग करने में भी हो सकती है और अवलोकन करने में भी। बेहतर तो यह होगा कि शिक्षक टोलियों में कुछ सवाल वगैरह के माध्यम से बच्चों के बीच सोच प्रक्रिया शुरू करवाने का काम भी करेंगे। यह भी उम्मीद की जाती है कि जहां ज़रूरी होगा, बच्चे शिक्षक के साथ परिभ्रमण पर जाएंगे और अध्ययन के लिए सामग्री इकट्ठी करने के अलावा वहां उन चीजों का प्राकृतिक स्थिति में अध्ययन भी करेंगे।

कक्षा में प्रयोग हो जाने के बाद उम्मीद की जाती है कि शिक्षक विभिन्न टोलियों के अवलोकन बोर्ड पर लिखेंगे। इसके बाद सामूहिक चर्चा के ज़रिए गलत अवलोकनों पर ध्यान दिया जाएगा और ज़रूरी होने पर प्रयोग को दोहराया जाएगा। जब शिक्षक आश्वस्त हो जाएंगे तब अवलोकनों की सामूहिक व्याख्या होगी। हर बच्चे को मौका मिलेगा कि वह अपनी व्याख्या प्रस्तुत कर सके और अन्य छात्रों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या पर तर्क कर सके। धीरे-धीरे कक्षा किसी सामूहिक निष्कर्ष पर पहुंचेगी। उम्मीद की जाती है कि बच्चे अपनी नोट बुक में इस निष्कर्ष को ही नहीं, बल्कि चर्चा का सार भी लिखेंगे।

यहां शिक्षक कोशिश यह करेंगे कि बच्चे उस निष्कर्ष को आम जीवन के या किसी अन्य अनुभव से जोड़कर देख पाएं। इसी के आधार पर अगले प्रयोग की भूमिका भी बन जाएगी।

सवाल यह उठता है कि इस आदर्श के रूबरू हकीकत कहाँ बैठती है। मगर एक आदर्श या प्रारूपिक कक्षा से तुलना करके कक्षाओं को देखना थोड़ा समस्यामूलक है क्योंकि हो.वि.शि.का. में कक्षा को एक जीवंत मंच माना गया था जो पर्यावरण, पाठ्य पुस्तक, शिक्षक व बच्चों के मिले-जुले योगदान से संचालित होगी। इस सोच के तहत यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या हो.वि.शि.का. की 'सफलता' के लिए ज़रूरी है कि बाल वैज्ञानिक में दिए गए सारे प्रयोग किए ही जाएं, सारे प्रश्नों के उत्तर सिलसिलेवार उभर ही आएं। शायद नहीं। तो किर कक्षा को किस दृष्टि से देखा जाए? क्या यह देखना ज्यादा उपयोगी होगा कि हो.वि.शि.का. में सीखने के जो विभिन्न मानक रखे गए थे, वे किस हद तक हासिल हो पाए हैं? मगर स्वतंत्र सोच का विकास, प्रायोगिक कुशलता का विकास, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति, अन्य लोगों के मत सुनने की तैयारी, अमूर्त चिंतन वगैरह चीजों को क्या आप इतनी आसानी से पहचान सकते हैं? क्या ये सभी चीजें व्यापक परिवेश पर निर्भर नहीं हैं? इन सवालों के चलते हो.वि.शि.का. की कक्षा का आकलन करना मुश्किल है।

वैसे यहां एक बात का ज़िक्र करना ज़रूरी होगा। पिछले तीस सालों में न तो किशोर भारती, फ्रेंड्स रुरल सेंटर या एकलव्य ने, ना ही सरकार ने हो.वि.शि.का. के बच्चों का इस दृष्टि से कोई व्यवस्थित मूल्यांकन किया है। शिक्षकों व स्रोत दल के एहसास व अनुभव ही इस संदर्भ में उद्घरित किए जाते रहे हैं। वैसे हो.वि.शि.का. को लेकर कई शोध प्रबंध लिखे गए हैं। कुछ शोध प्रबंध पीएच.डी. के लिए तो कुछ एम.फिल. के लिए लिखे गए। इनमें हो.वि.शि.का. का मूल्यांकन व तुलनात्मक अध्ययन विभिन्न आधारों पर

हो.वि.शि.का. के तहत दो-तीन बार यह समझने की कोशिश हुई थी कि वास्तविक कक्षा की स्थिति क्या है। इसे थोड़ा मात्रात्मक रूप भी दिया गया था। इस हकीकत के दो हिस्से हैं। पहला हिस्सा व्यवस्थाओं व संसाधनों की उपलब्धता का है और दूसरा हिस्सा कक्षा संचालन का है।

जैसे, ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद के कुछ वर्षों में तो स्कूलों में किट सामग्री की उपलब्धता एक प्रमुख समस्या बन गई थी। खासकर 1982 के बाद से इसने विकराल रूप धारण कर लिया था। आगे चलकर स्थिति में कुछ सुधार हुआ। किट के रख रखाव की समस्या भी गंभीर थी क्योंकि कई वर्षों तक शासन ने किट रखने के लिए आलमारी की व्यवस्था नहीं की थी। इस सम्बंध में किट की चर्चा के दौरान विस्तार से बात की गई है।

संसाधन सम्बन्धी दूसरी समस्या प्रशिक्षित शिक्षकों की रही। लगातार स्थानांतरण, पदोन्नति वगैरह के कारण हर साल कुछ स्कूलों में प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव हो जाता था। इसकी पूर्ति के लिए हर वर्ष प्रशिक्षण करना एक मजबूरी थी।

एक समस्या कक्षाओं में जगह की कमी भी रही। वैसे तो यह एक ऐसी समस्या थी और है जिसका प्रभाव सारे विषयों के अध्यापन पर पड़ेगा मगर हो.वि.शि.का. में यह समस्या कुछ ज्यादा ही प्रभाव डालती थी क्योंकि यहां आप टोलियों में काम करने की, प्रयोग करने की बात कर रहे हैं। शिक्षकों ने प्रायः कक्षा में बच्चों की संख्या की समस्या भी उठाई है। इस मामले में वैसे काफी विविधता है। कुछ स्कूलों में प्रति कक्षा 80-90 तक बच्चे होते थे/हैं, जबकि कुछ स्कूलों में प्रति कक्षा 7-8 बच्चे ही होते थे/हैं।

हो.वि.शि.का. में यह व्यवस्था की गई थी कि सप्ताह में प्रतिदिन एक कालखंड न रखकर सप्ताह में तीन दिन दो-दो कालखंड एक साथ रखे जाएं। कारण यह था कि करीब 30-35 मिनट के एक कालखंड में प्रयोग सामग्री का वितरण करना, प्रयोग करवाना और चर्चा करके बात को सिरे तक पहुंचाना मुश्किल होता था। इसलिए दो-दो कालखंड एक साथ रखने के अलावा प्रधान अध्यापकों से यह भी अपेक्षा थी कि ये दो कालखंड आधी छुट्टी के तुरंत पहले या बाद में रखे जाएं ताकि सामग्री वितरण वगैरह के लिए थोड़ा अतिरिक्त समय मिल जाए।

यदि वास्तविकता देखें तो यह व्यवस्था एक-तिहाई से ज्यादा स्कूलों में नहीं बन पाई थी। हर वर्ष इसके लिए कोशिश की जाती थी मगर हो नहीं पाया। प्रधान अध्यापकों का कहना था कि यदि विज्ञान को दो कालखंड एक साथ देंगे, तो बाकी तीन दिन किसी अन्य विषय को भी दो-दो कालखंड एक साथ देने होंगे। अधिकांश शिक्षक किसी अन्य विषय के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं चाहते। इस व्यवस्था के न होने का असर हो.वि.शि.का. अध्यापन कार्य पर पड़ता था।

किट सामग्री की उपलब्धता और प्रशिक्षित शिक्षकों की व्यवस्था को लेकर तो हो.वि.शि.का. समूह कुछ सकारात्मक हस्तक्षेप कर पाया था, कुछ समाधान भी निकाल पाया था मगर जहां तक प्रति कक्षा छात्रों की संख्या और कक्षाओं में जगह की समस्या का सवाल है, तो कुछ भी हासिल नहीं हो पाया।

बहरहाल, हम आते हैं दूसरे पक्ष पर यानी कक्षा संचालन के मुद्दे पर। इस मामले में दो-तीन बार जो सर्वेक्षण किए गए, उनका मोटे तौर पर निष्कर्ष यही निकला कि लगभग एक-तिहाई स्कूलों में लगभग सारे प्रयोग बच्चे स्वयं करते हैं। जहां तक सामूहिक चर्चा के माध्यम से निष्कर्ष निकालने की बात है तो यह और भी कम स्कूलों में हो पाता था। इससे भी कम संभावना इस बात की थी कि अंत में बच्चे स्वयं उत्तर लिखेंगे।

विभिन्न कारणों से हो.वि.शि.का. की कक्षाओं में बहुत विविधता होती थी। शिक्षक तमाम किस्म की रणनीतियां अपनाते थे। यह इस मायने में एक आम कक्षा से अलग है। पारंपरिक कक्षा संचालन का मुख्य तरीका पाठ्य पुस्तक वाचन होता है। बहुत हुआ तो शिक्षक बीच-बीच में रोककर एकाध स्पष्टीकरण देकर आगे बढ़ जाते हैं। हो.वि.शि.का. कक्षाओं के बारे में जो सबसे अच्छा रिकॉर्ड हमारे पास उपलब्ध है वह

अनुवर्तन रिपोर्ट्स के रूप में है। ये अनुवर्तन रिपोर्ट्स स्रोत व्यक्तियों द्वारा लिखी हुई भी हैं और अनुवर्तनकर्ता शिक्षकों द्वारा लिखी हुई भी हैं। इनमें वैसे तो कक्षा के विस्तृत या बारीक अवलोकन शामिल नहीं हैं मगर इनसे एक मोटा-मोटा चित्र तो बन ही सकता है। यहां पूरी-पूरी अनुवर्तन रिपोर्ट्स प्रस्तुत नहीं की जा रही हैं, केवल उनके अंशों को ही उद्धरित किया जा रहा है। अनुवर्तन रिपोर्ट्स की एक मुख्य खामी यह है कि ये मूलतः कार्यक्रम के क्रियांवयन के पक्षों को सामने रखती हैं, इनमें कक्षा का समग्र चित्र, वहां चल रहे वार्तालाप वगैरह का विवरण प्रायः नहीं होता।

अनुवर्तन रिपोर्ट्स के अलावा खास तौर से इस दस्तावेज़ को लिखने के लिए कई शिक्षकों से अनुरोध किया गया था कि वे अपनी कक्षा के अनुभव लिखकर दें। कुछ शिक्षकों ने काफी विस्तार से अपने अनुभव लिखकर भिजवाए हैं। यहां हम उनका भी संहारा लेंगे। खास तौर से कार्यक्रम के विभिन्न तत्वों की स्थिति और एक समग्र परिदृश्य देखने में ये विवरण बहुत मददगार हैं।

इसी संदर्भ में पिपरिया क्षेत्र के शिक्षकों के साथ एक गोष्ठी भी रखी गई थी। इसके अलावा कुछ शिक्षकों से व्यक्तिगत बातचीत से भी कई बातें स्पष्ट हुई हैं।

कार्यक्रम बंद होने के बाद शिक्षकों, छात्रों, पूर्व छात्रों व पालकों के साथ एक अध्ययन की योजना बनाई गई थी। यह अध्ययन तो पूरा नहीं हो पाया मगर इसकी तैयारी के लिए किए गए पायलट अध्ययन से हमें कई बातें पता चलती हैं। यह पायलट अध्ययन सन 2003 में किया गया था, संक्षेप में इसे पायलट अध्ययन कहेंगे। इस अध्ययन में शिक्षक प्रशिक्षण, बाल वैज्ञानिक, सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं, परीक्षा आदि के सम्बन्ध में मात्रात्मक आंकड़े एकत्रित करने के अलावा विस्तृत साक्षात्कार भी किए गए थे। इससे भी कई बातें समझने में मदद मिलेगी।

इन सबसे जो चित्र उभरता है वह काफी मिला-जुला है। वैसे तो हो.वि.शि.का. में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को टुकड़ों में बांटना ठीक नहीं है मगर धीरे-धीरे ऐसा होने लगा था - प्रयोग हुए या नहीं, बच्चे टोलियों में बैठे थे या नहीं, चर्चा हो रही थी या नहीं, प्रश्नों के उत्तर बच्चों ने स्वयं लिखे या नहीं, निष्कर्ष सही निकले या नहीं, परिभ्रमण हुए या नहीं, लंबी अवधि के प्रयोग किए गए या नहीं वगैरह। यह स्पष्ट होना चाहिए कि ये सब कुछ मिलकर ही हो.वि.शि.का. की शिक्षण विधि बनती है। यह आग्रह कदापि नहीं था कि हर बार जब 70 मिनट की कक्षा हो, तो इनमें से प्रत्येक आयाम की झलक मिलनी ही चाहिए। आग्रह यह था कि बच्चे अपने पर्यावरण से अंतर्क्रिया और प्रयोगों के ज़रिए खोज करें। इसलिए कक्षा का आकलन इस समग्र नज़रिए से किया जाना चाहिए न कि उपरोक्त घटकों के अनुपात के आधार पर।

उदाहरण के लिए कई अनुवर्तन रिपोर्ट्स में नज़र आएगा कि प्रयोग टोलियों में नहीं हो रहे हैं, या छात्र स्वयं नहीं कर रहे हैं, शिक्षक द्वारा प्रदर्शित किए जा रहे हैं। यह प्रक्रिया नकारात्मक ही मानी जाए ऐसा ज़रूरी नहीं है। देखना तो यह होगा कि क्या ऐसा लगातार हो रहा है और क्या इसके कारण बच्चे विज्ञान के एक अहम हिस्से (यानी प्रयोग करने) से वंचित हो रहे हैं।

पिपरिया की गोष्ठी में इस पहलू पर काफी चर्चा हुई थी। अधिकांश शिक्षकों का मत था कि समय के साथ प्रयोग होने में ढिलाई होने लगी थी। इस बात को लेकर ज़रूर मतभेद थे कि इसका कारण क्या है और निर्णायक गिरावट कब आई मगर सभी इस बात से सहमत थे कि खासकर 90 के दशक में हालत खराब थी। इस बात को लेकर भी मतभेद थे कि हालत कितनी पतली थी। एक शिक्षक ने बताया कि कोर्स पूरा करने के दबाव में वे दोनों तरह से अध्याय करवाते थे। कुछ अध्यायों में प्रयोग वगैरह छोड़कर सीधे प्रश्नों के उत्तर लिखवाने की विधि अपनाते थे। एक शिक्षक तो कहते हैं कि वे यह काम 1973 से करते आ रहे हैं। एक मत यह भी था कि खासकर प्रायवेट स्कूलों में स्थिति गंभीर थी।

ऐसा मत है कि जो अध्याय या प्रयोग शिक्षक को कठिन लगते थे उनमें वे प्रायः प्रयोग कराने से कतराते थे। जैसे एक शिक्षिका ने अपने विवरण में बताया है कि “शुरू-शुरू में भोज्य पदार्थों में प्रोटीन का टेर्स्ट

भी नहीं करवा पाती थी क्योंकि कभी सामग्री नहीं होती थी तो कभी 2%-10% के घोल बनाने में दिक्कत होती थी।”

एकलव्य द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण (वर्ष 2000) से पता चला था कि ऐसी आदर्श स्थिति तो बहुत कम स्कूलों में दिखती थी कि लगभग सारे प्रयोग बच्चे स्वयं कर रहे हों, और प्रयोगों के अवलोकनों पर चर्चा करके निष्कर्ष तक पहुंच रहे हों।

वैसे जिन स्कूलों में यह व्यवस्था सुचारू रूप से चलती थी, वहां इसका प्रभाव कई मायनों में महत्वपूर्ण होता था। उदाहरण के लिए एक शिक्षिका के अनुभव देखिए: “अध्याय पूर्णतः प्रयोग आधारित होते थे और प्रयोगों में विभिन्न प्रकार की सामग्री का उपयोग होता था। टोलियां अलग-अलग बैठतीं व प्रयोग के अवलोकन नोट करना आदि भी साथ-साथ करती रहती थीं। आम तौर पर मैं विज्ञान के कालखंड आखरी में रखना पसंद करती थी। जब कभी ज़रूरत हो तो थोड़ा अतिरिक्त समय (स्कूल की छुट्टी के बाद भी) भी पठन-पाठन के लिए मिल जाता था। अन्य कक्षाओं की छुट्टी होने के बाद भी बच्चे मज़े से अपना काम करते रहते थे। प्रयोग सामग्री लाने व रखने के लिए 1 छात्र प्रभारी होती या होता और हर टोली से एक छात्र बारी-बारी से किट की अलमारी से सामान लाने और व्यवस्थित रखने की ज़िम्मेदारी लेता। घर से लाने वाली चीज़ें कभी-कभी हर टोली अपनी-अपनी ले आती थीं तो कभी कोई बच्चा 1-2 चीज़ें लाता और उसे टोलियों में बांटते। प्रयोग करते-करते बच्चे इतने दक्ष हो जाते थे कि सारे काम कुशलतापूर्वक कर लेते। इस तरह के माहौल में पढ़ने के बाद बच्चों से हमारा रिश्ता बड़ा सहज हो गया था। इन कक्षाओं के अनुभव और उनके उत्साह और प्रभाव को हम दूसरे विषयों और अन्य गतिविधियों में ट्रांसफर होते महसूस करते थे। बच्चे रुचिपूर्वक सीखने का प्रयास करते थे। ये सारी चीज़ें उनको भविष्य में भी काम आई। इस व्यवस्था ने उन्हें इतना निपुण कर दिया कि अन्य अवसरों पर भी काम की पूर्व तैयारी, काम के दौरान व्यवस्था और समापन के बाद के दायित्वों को हमने उन्हें भलीभांति निभाते देखा है।”

सोहागपुर तहसील की एक कस्बाई शाला (अनुवर्तन रिपोर्ट - फरवरी 1983) की अनुवर्तन रिपोर्ट से पता चलता है कि न सिर्फ बच्चे व्यवस्थित ढंग से प्रयोग कर रहे हैं, वरन् आपसी चर्चा के माध्यम से बात को समझ भी रहे हैं।

“शिक्षक ने छठवीं कक्षा में दूरी नापना अध्याय शुरू करवाया था। पहले उन्होंने 1 से 7 प्रश्न तक का काम (चर्चा व कुछ प्रयोग) करवाया। इसमें उन्होंने गिल्ली-डण्डे का खेल खिलवाया और डण्डे से दूरी नपवाई, रस्सी और मीटर से कुएं की गहराई नपवाई। बच्चियां खूब मरती से यह सब कर रही थीं। शिक्षक जो आंकड़े ब्लैक बोर्ड पर लिखते थे बच्चियां बिना कहे अपनी कॉपी में लिखती थीं। सीखने की प्रक्रिया बहुत सहज लगी।”

“कक्षा 8 में ‘समय और दोलक’ पर चर्चा चल रही थी। इस अध्याय को काफी ध्यान से किया गया है, यह साफ दिख रहा था। धागे की लंबाई बदलते जाने से दोलन काल पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके निष्कर्ष को लेकर थोड़ा भ्रम पैदा हो गया था। एक लड़की ने बहुत आत्म विश्वास से उस प्रयोग को दोहराया और अपने परिणामों की पुष्टि की।”

इसी का एक और व्यवस्थित रूप हमें धार की एक शाला (फरवरी 1988) में देखने को मिलता है।

“पृथक्करण वाला अध्याय चल रहा था। छात्राएं समूह में बैठती थीं। प्रत्येक समूह में 1 बीकर, छन्ने कागज की पट्टी तथा तार दिए गए। प्रत्येक समूह की एक छात्रा ने आकर पट्टी पर स्याही की एक बूंद लगाई। एक छात्रा द्वारा हर समूह के बीकर में पानी डाला गया। फिर प्रयोग शुरू हुआ (यानी पट्टी को बीकर में लटका दिया गया)। मैडम ने बच्चियों से कहा कि जब पानी पट्टी पर चढ़ता हुआ तार पर पहुंचने लगे तो पट्टी को निकालकर सुखा लेवें।”

या धार की एक शहरी शाला (सितंबर 1988) का नज़ारा देखिए:

“अम्ल, क्षार और लवण का अध्याय था। प्रयोग हेतु सभी आवश्यक घोल शिक्षक की टेबल पर रखे थे। बोर्ड पर प्रयोग सम्बंधी तालिका बनाई गई थी और छात्रों से भी बनाने को कहा गया था। अब प्रत्येक टोली से एक-एक छात्र को क्रम से बुलाया गया और प्रयोग करने को कहा गया। प्राप्त अवलोकन सभी छात्रों को बताए गए।”

“नक्शा बनाना सीखो - शिक्षक द्वारा कक्षा के फर्श पर एक आकृति बनाई गई और उसके बीच में एक कागज रखकर चाक से उसकी सीमा रेखा खींची गई तथा चारों कोनों पर आलपिन गाड़ी गई। एक मूल बिंदु चुना गया और वहां भी एक आलपिन गाड़ी गई। खींची गई आकृति की परिधि पर विभिन्न स्थानों पर बिंदु क्र. 1 से 8 तक अंकित किए गए। अब छात्रों की सहायता से मूल बिंदु से प्रत्येक बिंदु की दूरी धागे और भीटर पैमाने से नापी गई और इनकी दिशाएं कागज पर अंकित की गई।”

जब कक्षा में व्यवस्थित प्रयोग हों, तो बच्चों में उत्साह बहुत होता है, जो सीखने की एक अहम शर्त है। जैसे पिपरिया गोष्ठी में एक शिक्षिका ने बताया था:

“जंतुओं का जीवन चक्र अध्याय में मक्खी के जीवन चक्र वाला प्रयोग कराते थे और मक्खी उसमें से निकलती थी तो बच्चे चीख मारते थे।”

या टिमरनी के एक शिक्षक का यह अनुभव:

“मेंढक के टैडपोल के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिए बच्चों ने मटके में पानी भरकर उसमें मेंढक के अंडे और जलीय पौधे डाल रखे थे। करीब 23-24 दिन में अंडों से टैडपोल और टैडपोल से मेंढक बनते देख बच्चों का अनुभव जिज्ञासा से भरपूर था। जिस दिन पूँछवाले मेंढक मटके से निकलकर कक्षा के फर्श पर कूदने लगे, उस दिन बच्चे भी मेंढक के साथ उसी अंदाज में उछलकूद कर रहे थे। इस प्रयोग में बच्चों ने अध्ययन कर कॉपी में क्रमबद्ध चित्र बनाए थे। मेंढक के टैडपोल का क्रमिक विकास मैंने भी पहली बार देखा था।”

प्रयोग को ठीक से करने के लिए भरसक प्रयत्न करना धार की एक शहरी शाला (जनवरी 1987) के अनुभव से ज़ाहिर होता है:

“धनि का पाठ चल रहा था। शिक्षक द्वारा एक छात्र से पाठ पढ़ने को कहा गया। प्रयोग 1 से सम्बंधित प्रश्नों के उत्तर विभिन्न छात्रों से पूछे गए। सभी छात्रों ने अपने अनुभव के आधार पर बताया कि घण्टे को हथोड़े से पीटा जाता है तो उसमें कम्पन पैदा होते हैं और हाथ से पकड़ने पर कम्पन समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रयोग को पीतल की एक तपेली (पतीली) को स्केल से बंजाकर करवाया गया। कई छात्रों ने तपेली के किनारे को हाथ से छुआ और बताया कि झनझनाहट महसूस होती है। प्रयोग 2 के लिए तपेली में कुछ पानी लिया गया और उसके चारों ओर छात्रों को खड़ा किया गया। शिक्षक द्वारा पुनः तपेली के किनारे पर हल्के से चोट पहुंचाई गई। छात्रों को पानी की सतह का अवलोकन के लिए कहा गया। पानी की सतह पर बहुत हल्की लहरें उत्पन्न हो रही थीं जिसे छात्र स्पष्ट नहीं देख पा रहे थे। स्वयं शिक्षक भी इस प्रयोग से संतुष्ट नहीं थे। अतः एक छात्रा को घर से पीतल की थाली लाने को कहा गया, जिसका घर पास ही था। अब अवलोकन स्पष्ट हुए।”

और बच्चों का धैर्य भी देखते ही बनता था, जैसा कि एक शिक्षिका के अनुभव से स्पष्ट है:

“अध्याय ‘चीज़े क्यों तैरती हैं’ में एक खास बात यह थी कि इसमें वस्तुओं और पानी को बार-बार तौलना होता था और इसके लिए पूर्व अध्याय ‘तराजू का सिद्धांत’ में उन्होंने जो बांट और तराजू बनाए थे, उनका ही उपयोग किया जाता है। तारीफ की बात यह थी कि हाथ से बनाए इन उपकरणों की मदद से प्रयोग करने के बाद भी उनके परिणाम लगभग सही थे। आयतन निकालने के लिए

अप्लावी बर्टन से पानी की आखरी बूंद के गिरने तक न सिर्फ उन्होंने खुद धैर्य रखा बल्कि मुझे भी प्रेरित किया कि ‘नहीं मैडम, अभी रुको, अभी पानी की एक बूंद और गिरने वाली है।’”

मगर इतनी सावधानी से किए गए प्रयोगों के बारे में आगे वे लिखती हैं:

“इन प्रयोगों को करवाते समय हमने आपेक्षिक धनत्व की गणना वाला हिस्सा बाद में घर पर करने को दिया था। प्रयोग के दौरान आंकड़े नोट करते हुए बच्चों को देखा तो अनुमान लगाया था कि जो भी आपेक्षिक धनत्व आएगा उसमें त्रुटि बहुत कम होगी। ऐसा उनके द्वारा तराजू-बांट बनाने में दिखाए गए हुनर के अलावा उनके धैर्य से किए गए प्रयोगों को देखकर लगा था। लेकिन जब गणना सामने आई तो सिर चकरा गया। उनके उत्तर दहाई और सैकड़ा दर्शा रहे थे। विज्ञान में दक्ष हमारे बच्चे गणित में बहुत ही कमज़ोर रहे - चाहे स्तंभालेख का औसत हो या औसत दोलन काल या अन्य कोई गणना, अंकों से हमारे बच्चे हार जाते थे।”

इसकी तुलना में इटारसी की एक शहरी शाला (जनवरी 1983) का विवरण देखिए। यहां प्रयोग बच्चे ख्याल तो नहीं कर रहे हैं मगर उनकी भागीदारी काफी है:

“छठवीं में विद्युत के चालक-कुचालक का प्रयोग चल रहा था। श्याम पट पर प्रयोग की तालिका बनी थी। प्रयोग शिक्षक ख्याल कर रहे थे - यानी टोली में नहीं हो रहे थे। करीब तीन-चौथाई बच्चे शिक्षक को धेरे खड़े थे। एक-एक पदार्थ के परीक्षण के बाद बच्चे भागकर अपनी सीटों पर जाते और तालिका में अवलोकन लिखते थे। केवल शिक्षक के प्रयोग करने के बावजूद कक्षा में जान बहुत थी। बच्चे बहुत अलग-अलग प्रकार की वस्तुएं उठाकर परीक्षण के लिए देते थे, बल्कि का जलना या न जलना देखते थे और अवलोकन अपनी तालिका में लिखते थे।”

मगर तहसील बनखेड़ी की एक ग्रामीण शाला (1983 फरवरी) में बच्चे न तो खुद प्रयोग कर रहे हैं, न ही उनमें से अधिकांश को (खासकर लड़कियों को) कुछ पता चल रहा है। यह एक छोटा स्कूल है। तीनों कक्षाओं में मिलाकर कुल 35 बच्चे हैं।

“शिक्षक ‘विद्युत-3’ (कक्षा 8) करवा रहे थे। कक्षा में पुस्तकें केवल तीन-चार थीं। वे दिक्षुदाम पर विद्युत धारा (के प्रभाव का) प्रयोग करा रहे थे। प्रयोग टोलियों में नहीं हो रहा था क्योंकि दिक्षुदाम पर विद्युत धारा की दिशा का और सुई के घूमने का कुछ अंदाज़ नहीं लगता था। मैंने एक बार सुझाव दिया कि खुद करके देखें। तब ज्यादा लड़कों ने खुद किया। तार में विद्युत धारा की दिशा भी खुद सोचकर पता की। शिक्षक तालिका बनाकर अवलोकन श्याम पट पर लिख रहे थे। मैंने जब बहुत कहा तब विद्यार्थियों ने वे अवलोकन कॉपियों में लिखना शुरू किया। किसी तरह दाहिने हाथ के नियम तक पहुंचे। ...”

इटारसी की एक शहरी शाला (जनवरी 1983) में स्थिति थोड़ी अजीब सी लगती है। प्रयोग शिक्षक करके देखा रहे हैं, कुछ बच्चों को नज़र आ रहा है, कुछ को नहीं। दो कक्षाएं एक साथ लगी हुई हैं।

“कक्षा 8 में शिक्षक हल्दी कागज़ (अम्ल, क्षार और लवण अध्याय के लिए) बनवाने का प्रयास कर रहे थे। कक्षा बाहर धूप में लगी थी। करीब 50 विद्यार्थी लाइनों में बैठे थे। सामने एक डेर्स्क पर एक परखनली रैटेण्ड और 2-3 परखनलियां रखी थीं। एक कागज़ व थोड़ी सी हल्दी भी रखी थी। शिक्षक उसी समय दो बच्चों को भगाकर साबुन का घोल बनवाने के लिए साबुन मंगवा रहे थे। मैंने कक्षा में घूमकर विद्यार्थियों की स्थिति का जायज़ा लेना शुरू किया। लाइनों में पीछे बैठे हुए बच्चों के लिए सामने रखा हुआ डेर्स्क, उस पर रखा हुआ सामान बहुत दूर था। उनकी पुस्तकें आदि भी खुली हुई नहीं थीं। जिन विद्यार्थियों की पुस्तकें खुली थीं उनका कहना था कि अध्याय के पिछले

सारे प्रयोग हो चुके हैं।

“कई घोलों का हल्दी कागज पर परीक्षण करना था। एक लड़के से शिक्षक ने हल्दी कागज बनाने की विधि पढ़वाई। वैसे उसकी आवाज़ आसपास बैठे तीन-चार बच्चों से अधिक दूर नहीं जा रही थी। एक अन्य बच्चा डेस्क के पास खड़ा होकर शिक्षक के बताए अनुसार हल्दी का लेप एक कागज पर बना रहा था। इतना करते-करते ही 35 मिनट का पीरियड खत्म हो गया। शायद मेरे कारण कक्षा को जारी रखा गया परंतु आठवीं कक्षा का एक और सेक्शन भी वहां आकर बैठ गया। यानी 80-90 विद्यार्थी लाइनों में बैठे थे। आगे के 20-25 विद्यार्थियों के अलावा किसी को शायद कुछ समझ में भी नहीं आ रहा था कि डेर्स्क पर क्या हो रहा है। खैर लेप बन जाने के बाद शिक्षक ने एक चिकना कागज उठाया और कहा - ‘हमारे पास छन्ना कागज नहीं है इसलिए इस कागज का उपयोग करेंगे।’ हल्दी कागज पर उन्होंने साबुन का घोल डाला और दूर से बच्चों को दिखा दिया कि वह लाल हो गया है। बच्चों से अपनी तालिका में यह नोट करने को कहा। फिर उन्होंने एक अन्य घोल जिसे उन्होंने अम्ल का घोल कहा, उसे कागज पर डाला और दिखा दिया कि उसका हल्दी कागज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर एक घोषणा जैसी कर दी कि अम्लीय घोलों का हल्दी कागज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और क्षारीय घोलों से कागज लाल हो जाता है।”

पिपरिया तहसील की एक ग्रामीण शाला (1983) के हाल देखकर लगता है कि कई शिक्षकों को प्रयोगों का मकसद भी समझ नहीं आया था। यहां खास अनुवर्तनकर्ता को दिखाने के लिए प्रयोग करवाए जा रहे हैं मगर इस हड्डबड़ी में रोचक व हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो गई।

“कक्षा 8 में शिक्षक ‘अम्ल, क्षार और लवण’ करवा रहे थे। उनकी कोई तैयारी नहीं थी। कक्षा शुरू होने के बाद बच्चे भागे-भागे कभी स्टैण्ड लाते तो कभी परखनलियां लाते रहे। टेबल पर एक परखनली स्टैण्ड, दो-तीन परखनलियां, एक कोनिकल फ्लास्क में काफी पुराना-सा चूने का पानी, एक बोतल में (फिनॉफथलीन) सूचक घोल, नीला और लाल लिटमस कागज रखे हुए थे।

“कक्षा में टोलियां-वोलियां नहीं थीं। बच्चे किताबें खोलकर बैठे थे परंतु कोई सक्रियता या जोश नहीं था जैसे उन्हें आश्चर्य हो रहा हो कि आज शिक्षक को हो क्या गया है कि सामान-वामान लेकर कक्षा में आ गए हैं। शिक्षक लिटमस कागज पर सूचक घोल डालकर इसका प्रभाव बच्चों को दिखा रहे थे। बहुत फुर्ती से कक्षा में धूम भी रहे थे, न जाने क्या देख रहे थे (क्योंकि) न तो बच्चे प्रयोग कर रहे थे, न कुछ पढ़ रहे थे, न ही कॉपी पर कुछ लिख रहे थे।(जब मेरे साथी शिक्षक ने गलती को पकड़कर) शिक्षक को समझाया तो एक बार फिर हलचल मच गई, कोई बच्चा अम्ल लेने को भागने लगा, तो कोई क्षार।” (रेखांकन मूल में नहीं था।)

लेकिन जिन शिक्षक को मकसद समझ में आता था वे भरसक प्रयत्न करते थे कि बात बच्चों को समझ में आए। जैसे एक शिक्षक ने वाल्व की क्रियाविधि समझाने के अपने प्रयास का वर्णन इन शब्दों में किया है:

“उस दिन मैं सातवीं कक्षा में ‘हवा’ का अध्याय पढ़ा रहा था। इस अध्याय में जल पंप की क्रियाविधि समझाना था। मैंने बोर्ड पर पंप का चित्र बनाकर नामांकित किया और क्रियाविधि समझाने के लिए पंप की विभिन्न स्थितियों के चित्र बनाए, जिसमें वाल्वों के खुलने बंद होने के क्रम चित्रित किए थे।

मैंने चित्र का सहारा लेते हुए बच्चों को समझाने का प्रयास किया कि जब पंप का हैण्डल नीचे दबाया तब वाल्व-1 (ऊपरी) बंद हो गया तथा वाल्व-2 खुल गया क्योंकि दोनों के बीच कम दबाव की स्थिति बन रही है। इस तरह चित्रों में मैंने क्रमशः वाल्व खुलते-बंद होते दिखाए तथा पानी का स्तर बढ़ाते हुए पंप से पानी गिरते हुए दिखा दिया।

यह प्रक्रिया मैंने दो बार बच्चों को समझाई और अंत में बच्चों से पूछा - वाल्व-1 कब बंद होगा, वाल्व-

2 कब खुलेगा आदि। परंतु बच्चों का चेहरा बता रहा था कि वे इस क्रियाविधि को समझ नहीं सके हैं।

मैंने एक छात्र से पूछा कि तुम्हें वाल्व की क्रियाविधि समझ में आई या नहीं। उसने साहस करके पूछा - “सर आप मारेंगे तो नहीं?” मैंने उसे विश्वास दिलाया कि पिटाई नहीं होगी। तब उसने हिम्मत करके कहा कि क्रियाविधि तो वह नहीं समझा है मगर “जब आप वा बोलते थे तो आपका मुंह गोल खुला रहता था और जब आप ल्व बोलते थे तो आपका मुंह बंद हो रहा था, इतना ही समझ में आया है।” तब मुझे समझ में आया कि चित्र के माध्यम से क्रियाविधि समझाना मुश्किल है, इसका पारदर्शक मॉडल बनाया जाए। अगले दिन रविवार को मैं दिन भर स्कूल में माथापच्ची करता रहा, तब कहीं जाकर टूटी उफननली आदि से मैंने जल पंप का क्रियाशील मॉडल बनाया जो अनेक प्रशिक्षण शिविरों में भी लोकप्रिय रहा है।”

इनके प्रयास से हैण्ड पंप का जो मॉडल बना वह बाद में बाल वैज्ञानिक का हिस्सा बन गया।

कई स्कूलों में एक नई प्रथा चल निकली थी - प्रयोग अलग से कराना और ‘पढ़ाई’ अलग से कराना। कुछ शिक्षकों ने यह तरीका अपनाया था कि पहले ‘पाठ पूरा’ कर देते थे और बाद में सारे प्रयोग करवा देते थे। इसी प्रकार से कुछ शिक्षक सारे प्रयोग करवाने के बाद एक दिन प्रश्न-उत्तर करवाते थे। यहां प्रयोगों का महत्व सीखने के एक अंतर्रंग हिस्से के रूप में नहीं बल्कि प्रायोगिक परीक्षा की दृष्टि से था। या हो सकता है कि शिक्षकों ने बाल वैज्ञानिक के प्रयोगों को भी उसी रूप में लिया था जिस तरह से आगे की कक्षाओं में प्रयोग किए जाते हैं - प्रायोगिक पीरियड में। कुछ स्कूलों में तो प्रयोग के लिए एक अलग कमरा मुकर्रर था। जिस कक्षा को प्रयोग करवाने होते थे, उसे उस दिन उस ‘प्रयोग कक्ष’ में बैठाया जाता था। शिक्षकों को लगता था कि यह काफी कार्यक्षम व्यवस्था है जिसमें किट सामग्री ढोना नहीं पड़ता।

जैसे धार की एक शहरी शाला (सितंबर 1986) में

“शिक्षक महोदय छात्रों से प्रश्नों के उत्तर हल करवा रहे थे। शिक्षक से चर्चा करने पर उन्होंने बताया कि प्रयोग कल करवा दिए गए थे तथा आज प्रश्नों के उत्तर करवाए जा रहे हैं।”

और होशंगाबाद तहसील की एक शहरी शाला (जनवरी 1974) की अनुवर्तन रिपोर्ट से पता चलता है कि यह प्रथा काफी पहले शुरू हो चुकी थी:

“कक्षा 6 में क्षेत्रफल चल रहा था। एक लड़की ने अपनी अभ्यास पुस्तिका में प्रश्न लिख रखे थे। उससे पूछा कि प्रश्नों के जवाब क्या हैं। जवाब मिला कि शिक्षिका ने अभी लिखवाए नहीं हैं।”

पिपरिया तहसील की एक ग्रामीण शाला (1983) की अनुवर्तन रिपोर्ट से इस अवलोकन की पुष्टि होती है कि कई शिक्षक प्रश्नों के उत्तर लिखवा देते थे:

“हमने छठवीं, सातवीं व आठवीं कक्षाओं की कॉपियां बच्चों से लेकर देखीं। छठवीं की सभी कॉपियों में प्रश्न-उत्तर बहुत तरीके से लिखे हुए थे परंतु साफ पता चल रहा था कि उत्तर लिखवाए हुए थे क्योंकि सबके उत्तरों की भाषा बिलकुल एक जैसी थी। प्रयोग और अपनी तरफ से चर्चा का प्रयास हुआ है ऐसा लगता था मगर मनगढ़त उत्तर भी लिखवाए गए हैं यह साफ था।”

इसके विपरीत केसला ब्लॉक की एक शाला में स्थिति हर तरह से खराब लगती है (1983) क्योंकि न तो प्रयोग वगैरह हुए हैं, न शिक्षक ने जवाब लिखवाए हैं, और न ही कॉपियां ठीक से जांची हैं

“हमने कहा कि कुछ कॉपियां ही दिखा दीजिए। कॉपियां देखकर लगता नहीं था कि कुछ भी हुआ है। कुछ थोड़े बहुत उत्तर उटपटांग ढंग से लिखे हुए थे। शिक्षक ने उन कॉपियों पर अंधाधुंध सही के निशान लगाए हुए थे।”

वैसे कई शिक्षकों ने बताया है कि प्रश्नों के उत्तर लिखने के मामले में काफी मिली-जुली हालत है। जैसे

पिपरिया गोष्ठी में अधिकांश शिक्षकों का अनुभव था कि बच्चे अवलोकन तो लिख लेते थे और चर्चा में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे। वैसे इस मामले में यह बात सामने आई कि तर्क आधारित अध्यायों में कठिनाई होती थी। एक शिक्षक के मुताबिक करना यह होता था कि एक-एक बच्चे से तर्क करवाओ और फिर उनको इकट्ठा करो। यदि यह ठीक ढंग से हो गया तो ठीक वरना बंटाढार। इसमें समय का सवाल भी आता था क्योंकि कोई चर्चा शुरू हुई और बीच में पीरियड हो गया, तो किए-कराए पर पानी फिर जाता था। वैसे एक भत था कि यह सब कम हो पाता था, शायद 50 प्रतिशत।

धार की एक शहरी शाला (सितंबर 1987) में यही समस्या उभरकर आती है। कई अध्यायों में ऐसा होता था कि प्रतिदिन उनका एक तार्किक हिस्सा पूरा नहीं हो पाता था। इसका असर सीखने की प्रक्रिया पर अवश्य पड़ता होगा। इस सम्बंध में कुछ शिक्षक यह ज़रूर कहते थे कि प्रयोग व चर्चा ऐसी होनी चाहिए जो एक दिन में पूरी हो जाए अन्यथा क्रम बनाना बहुत मुश्किल होता है।

“कक्षा 7 में तराजू का पाठ चल रहा था। छात्राएं तराजू बनाकर लाई थीं। उन्हें तराजू द्वारा बांट की मदद से पत्थर और कवेलू के टुकड़ों के बांट बनाने को कहा गया। इस कक्षा में बांट बनाने का ही काम चलता रहा।”

कुछ शिक्षकों ने दृढ़ता से बताया कि उन्होंने कभी उत्तर नहीं लिखवाए, अवलोकन करते हुए बच्चे स्वयं ही लिखते जाते थे। वैसे उन्होंने भी स्वीकार किया कि कई अध्यायों में अंतिम निष्कर्ष तो वे ही बताते थे और लिखवाते भी थे। जैसे सूर्य, चंद्रमा और तारों की गति देखने के बाद सवाल होता है कि ये सब चीज़ें धूमती हैं या पृथक् धूमती हैं। तब वे समझते थे कि आप देखो कि चार लोगों का एक समान गति से चलना संभव नहीं है, सबका स्वभाव एक-सा नहीं होता। यानी यदि सब एक से चलते दिखते हैं तो हो सकता है कि हम चलायमान हों, वे सब स्थिर हों। यह बताना पड़ता था। यह भी उभरा कि भाषा में कमज़ोर होने की वजह से बच्चे सही व्यक्त नहीं कर पाते। एक तरीका यह भी बताया गया कि सारे जवाबों को मिलाकर एक जवाब बताकर सबका समर्थन लेने के बाद लिखवाते थे। इसी तरह की स्थिति शाजापुर ज़िले के आगर शाला संकुल में भी दिखती है:

“प्रयोगों के बाद चर्चा में टोलीवार जो निर्णय आते उनके आधार पर निष्कर्ष निकलवाते और वे ही फायनल आन्सर होते। हम अपनी ओर से कोई परिभाषा या उत्तर नहीं लिखवाते।”

एक शिक्षक का कहना था कि बोर्ड पर सारे अवलोकन लिखकर विश्लेषण होता था और फिर बच्चों से कहते थे कि इसके आधार पर वे उत्तर लिख लें, बच्चे लिख लेते थे। अलबत्ता, कुछ अध्यायों में उत्तर लिखवाते थे। इस सबसे अलग एक शिक्षक का स्पष्ट मत था कि आप चाहे जितने प्रयोग करवा लो, चर्चा करवा लो मगर प्रश्नों के उत्तर बच्चे नहीं लिख पाते थे, इसलिए शिक्षक लिखवाते थे। एक मत यह भी था कि कई स्कूलों में ठीक से चर्चा नहीं होती थी और बच्चे गलत-सलत लिख लेते थे। ऐसी स्थिति में उत्तर लिखवाना ही ठीक है।

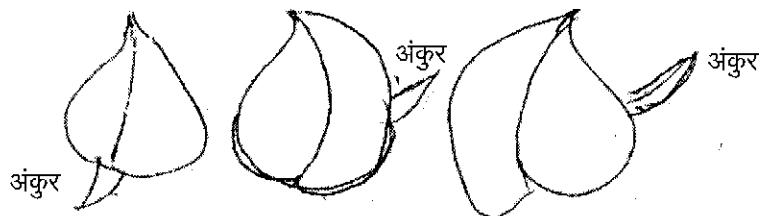
मगर यह भी ज़रूरी नहीं है कि यदि किसी स्कूल में प्रश्नों के उत्तर शिक्षक द्वारा लिखवाए गए हैं तो वहां शेष प्रक्रिया नहीं हुई होगी। जैसे धार शाला संकुल की एक शिक्षिका ने बताया:

“अवलोकन, निष्कर्ष आदि बातचीत, चर्चा सफल रहती थी किन्तु विद्यार्थियों से उत्तर लिखवाना, वह भी अपने शब्दों में, तो भई इसमें एक बड़े पहाड़ का सामना करना पड़ता था क्योंकि बच्चों को हिंदी लिखना ही नहीं आती। मुझे मजबूरी में डिकटेट करवाना पड़ता था।”

बच्चों से एक संवाद बनाने के मामले में सोहागपुर ब्लॉक की एक उ.मा. शाला (फरवरी 1983) की एक कक्षा देखिए जिसमें प्रयोग बिलकुल नहीं हो रहे हैं, फिर भी बच्चे एक गंभीर तार्किक प्रक्रिया में शामिल हैं।

“सातवीं कक्षा में बीजों के अंकुरण को लेकर कुछ चर्चा हो रही थी। बोर्ड पर तीन वित्र बने थे और

शिक्षक कह रहे थे कि उन्हें इस प्रकार अंकुरित चने के तीन बीज मिले।



उन्होंने बच्चों से पूछा कि क्या उन्हें इस प्रकार से अंकुरित बीज मिले हैं।

तब दो बच्चे उठे और उन्होंने नीचे जैसे चित्र बनाए।

“उन्होंने कहा उन्हें शिक्षक के चित्रों जैसे चने नहीं मिले। वैसे चने मिल ही नहीं सकते। फिर चर्चा होने लगी कि अंकुरण ऐसे क्यों नहीं हो सकता। वहाँ एक छेद होता है, मूलांकुर होता है, सब बच्चों ने बताया।”



“इन्हीं शिक्षक ने अगली कक्षा आठवीं ली। वहाँ सजीव और निर्जीव अध्याय करवा रहे थे। उन्होंने बच्चों से पूछ-पूछकर चीज़ों की एक लंबी सूची बोर्ड पर बनाई: जानवर, पेड़-पौधे, बीज (गेहूं, चना), चॉक, पत्थर, बाल, नाखून आदि चीज़ों के नाम थे। एक नाम था परछाई। इस सूची के नामों को सजीव और निर्जीव समूहों में बांटना शुरू हुआ। उन्होंने यह काम भी बच्चों से करवाया। वे सजीवों के कुछ लक्षणों के आधार पर प्रश्न पूछते थे। जैसे, क्या पत्थर चलता है? क्या बीज सांस लेते हैं? आदि। बीज को लेकर उन्होंने काफी चर्चा करवाई। बीज सांस लेते हैं, इसके लिए गोदाम में रखे गेहूं का उदाहरण लिया। धुने बीज, उबले बीज, पेड़ से लगी पत्ती, पेड़ से गिरी पत्ती आदि पर चर्चा हुई। अंत में उन्होंने परछाई पर चर्चा करवाई। परछाई चलती-फिरती है, घटती-बढ़ती है, तो क्या वह सजीव कहलाएगी? बच्चों को इस पर काफी मज़ा आया कि परछाई चलती-फिरती है, घटती-बढ़ती है। उन्होंने कहा कि परछाई फिर भी निर्जीव है। सवाल हुआ क्यों? वह सांस नहीं लेती, पहले तो यह उत्तर आया मगर फिर शिक्षक ने पूछा कि क्या हम नहीं होंगे, कोई चीज़ नहीं होगी, तो परछाई होगी? तब परछाई के अस्तित्व की बात समझ में आने लगी। अंधेरा होगा तो भी परछाई नहीं होगी। शिक्षक ने फिर यह समझाने का प्रयास किया कि किस प्रकार परछाई पदार्थ नहीं है क्योंकि यह जगह नहीं घेरती, उसका भार नहीं वगैरह।”

सजीव और निर्जीव की अवधारणा पर रोचक चर्चाएं शायद काफी आम थी। लगता है कि खुलापन होने पर बच्चे काफी स्वतंत्र विचार करते हैं। जैसे धार की एक शहरी शाला (अगस्त 1985) में सजीव-निर्जीव सम्बन्धी चर्चा की बानगी देखिए:

“शिक्षक ने पूछा कि सजीव वस्तुओं में कौन-कौन-से गुणधर्म होते हैं। छात्रों के द्वारा निम्नलिखित गुणधर्म बताए गए: 1. जान होती है, 2. वृद्धि, 3. चलती है, 4. बोलती है, 5. स्थयं कार्य करती है, 6. भोजन, 7. सांस, 8. सोचना। शिक्षक के द्वारा एक और गुणधर्म प्रजनन भी जोड़ा गया।”

यह स्पष्ट नहीं है कि आगे चर्चा कैसे चली। बस इतना पता चलता है कि जो गुणधर्म बताए गए वे किताबी तो बिलकुल नहीं थे। दरअसल बाल वैज्ञानिक के इस अध्याय की मूल भावना यही है।

मंडलेश्वर की एक ग्रामीण शाला (सितंबर 1989) के अनुभव से पता चलता है कि यदि शिक्षक चाहें और पाठ्यक्रम अनुमति दे, तो कक्षा के स्तर पर किस तरह के नवाचार संभव हैं।

“शिक्षक शारीर के आंतरिक अंग का अध्यापन कर रहे थे।...पोलियो से पीड़ित छात्र नरेंद्र जायसवाल के पैर का अवलोकन किया गया एवं छात्रों से उसकी पेशियों के बारे में प्रश्न पूछे। जवाब था पेशियों की संख्या कम है एवं वे कमज़ोर हैं।”

हमें यह मानकर चलना चाहिए कि चर्चा पर्याप्त संवेदनशीलता से की गई होगी और सम्बंधित छात्र ने

असहज या आहत महसूस नहीं किया होगा।

लगभग यही स्थिति होशंगाबाद तहसील की एक ग्रामीण शाला (अगस्त 1973) में भी है। अतिरिक्त बात यह है कि बच्चे करते-करते कुछ नई चीज़ों पर गौर कर रहे हैं:

“कक्षा 6 पहले अध्याय पर है। पारदर्शी चीज़ों को लेकर रोचक चर्चा चल रही है (तार की जाली)। कक्षा 7 निर्देशांकों पर काम कर रही है। बच्चे यह सोचने में लगे हैं कि अपने द्वारा बनाए नक्शों में शहरों की सही स्थिति कैसे दर्शाएं। कुछ बच्चों ने ध्यान दिया है कि ध्रुवीय निर्देशांक नक्शे के लिए चुने गए पैमाने से स्वतंत्र होते हैं। वे इस बात की पुष्टि करके हमें बताएंगे - बहुत दिलचस्प बात है।”

मंडलेश्वर की एक शहरी शाला (जनवरी 1988) की अनुवर्तन रिपोर्ट में भी शिक्षक का प्रयास नज़र आता है।

“दूरी नापना अध्याय चल रहा था। मैडम ने अंत की बैच पर बैठी एक लड़की को खड़ा किया तथा कहा कि उस छात्रा और मेरे बीच का अंतर दूरी कहलाता है। इसे आप सामान्यतः क्या कहते हैं? टोली क्रमांक 2 ने बताया कि हम फासला कहते हैं। मैडम ने कहा इसे कैसे नापेंगे? इस पर उन्होंने कहा कि कदमों से नापेंगे। इस पर उन्होंने कद में छोटी एक लड़की से कहा कि इसे कदमों में नापो। उसने नापकर कहा कि 10 कदम आया। पश्चात एक लंबी लड़की से कहा कि अब तुम इसी दूरी को नापो, तो उसने नापकर बताया 6 कदम।”

बात शिक्षकों के उत्साह की चली है तो धार की एक शहरी शाला (जनवरी 1986) की रिपोर्ट में वर्णित यह प्रयास गौरतलब है। पिनहोल कैमरा के साथ इतने विस्तृत मात्रात्मक प्रयोग शायद हो। वि.शि.का. की कक्षा में ही संभव हैं।

“दो डिब्बों की मदद से अध्यापक महोदय प्रयोग 4 कर रहे थे। मोमबत्ती के सामने दो डिब्बे एक-दूसरे के अंदर रखे गए। पहले डिब्बे पर एक चौकोर छिद्र था, भीतर वाले डिब्बे में पर्दा था। दोनों डिब्बों के मध्य दूरी 2, 6, 10 से.मी. करते हुए क्रमशः उनके द्वारा पर्दे पर बने मोमबत्ती के आयतों का क्षेत्रफल खानों में निकाला गया। जो क्रमशः 1, 4, 6 खाने प्राप्त हुआ। इसी प्रकार छिद्र एवं पर्दे वाले डिब्बे की आपसी दूरी स्थिर रखकर मोमबत्ती से दूर करते हुए आयत देखा तो एक खाने के बराबर ही था। ये दूरियां क्रमशः 0, 10, 20, 30, 40, 50 से.मी. थीं। तीसरी बार डिब्बों को स्थिर कर मोमबत्ती को पीछे क्रमशः 1, 2, 3, 4 से.मी. हटाते हुए उसके आयतों में खानों की संख्या 6, 4, 2, 1 आंकी गई। इन समंकों के आधार पर ग्राफ़ तैयार किए गए।”

इससे अलग सोहागपुर तहसील की एक कन्या शाला (फरवरी 83) की अनुवर्तन रिपोर्ट से पता चलता है कि पूरी तरह व्यवस्थित कक्षा संचालन के बाद भी ‘कुछ नया’ नहीं हो रहा है हालांकि इस कक्षा में बाल वैज्ञानिक के कुछ तथाकथित मुश्किल प्रयोग भी हुए हैं (जैसे ‘आकाश की ओर’ में एक छड़ी की छाया और मुर्गी के अंडे में विकास की अवस्थाओं का अध्ययन) और यहां सातवीं में अध्यापन के लिए आठवीं की छात्राओं की मदद लेना जैसी बातें भी शामिल हैं:

“सातवीं कक्षा में विकास का अध्याय चल रहा था। शिक्षिका ने पहले शुरू के प्रश्नों पर चर्चा करवाई। लड़कियां संकुचित थीं यह साफ था। प्रश्न-उत्तरों में शिक्षिका कुछ नयापन नहीं जोड़ पा रही थी यानी पुस्तक के प्रश्न एक के बाद एक उत्तरित हो रहे थे। छड़ी की घड़ी (अध्याय आकाश की ओर) का ग्राफ़ व तराजू का सिद्धांत का पट्टी चित्र बाकायदा चिपके थे। उस दिन कक्षा में 0-दिन व 5-दिन के अण्डे (चूज़े का विकास देखने के लिए विभिन्न दिनों तक विकसित अण्डे) के प्रयोग होना था। 3-दिन का अण्डा वे पहले देख चुकी थीं। उस दिन शिक्षिका स्कूल नहीं आई थीं इसलिए वह अण्डा उन्हें कक्षा 8 की लड़कियों ने दिखाया था।”

उस शाला में मुर्गी के विकास का अवलोकन करने का यही तरीका अपनाया जाता था:

“मुर्गी के अंडों में से चूजे का निकलना तीन सालों में एक बार करवाते थे। इस प्रयोग को पूरी शाला यानी कक्षा 6, 7 व 8 एक साथ देख लेती थीं। चूजे का दिल किस तरह धड़कता है यह एक रोमांचक अनुभव ही तो है (था)।”

वैसे बाल वैज्ञानिक के तथाकथित मुश्किल हिस्सों में लंबी अवधि के प्रयोग भी गिनाए जाते हैं। इसके विवरण हमें बहुत कम मिलते हैं। मगर जैसा कि धार की एक शहरी शाला की रिपोर्ट से पता चलता है कई शिक्षक कोशिश करके ये प्रयोग करवाते थे:

“कक्षा 7 में वृद्धि एवं ग्राफ बनाना सीखो अध्याय चल रहे थे। सभी छात्राओं ने धागों की मदद से अपने गमलों में लगाए पौधों की लंबाई नापी और तालिका में लिखी।”

धार की एक कन्या शाला की शिक्षिका ने जंतुओं के जीवन चक्र के अध्ययन का यह विवरण दिया है:

“सबसे पहले अध्याय कक्षा में पढ़वाया। एक लड़की ने पूछा, “मैडम, उत्तर कैसे देंगे? अंडे तो हैं ही नहीं।” मैंने कहा, “कल अपन परिभ्रमण पर चलेंगे, किंतु तुम उसके लिए सब तैयारी कर लो। किट में रखी हुई इंजेक्शन की शीशियाँ हर टोली में चार-चार देना है।” मैंने कक्षा में मॉनीटर बना रखी थीं जो किट की आलमारी से सामान निकालकर रख देती थीं। “प्रत्येक टोली को जब चार-चार शीशियाँ मिल जाएं तो उन पर लेबल लगा लो। चित्र में दिख रहे लार्वा, प्यूपा को ध्यान से देखो। इंजेक्शन की शीशियाँ पर एक पर डबरे का पानी, दूसरी पर मच्छर के लार्वा, तीसरी पर प्यूपा और चौथी पर नल का पानी लिख लो।” फिर दो-दो डिब्बे पान पराग के हर टोली में दिए और उन पर ‘क’ व ‘ख’ लेबल लगाने को कहा। एक चौड़े मुंह की प्लास्टिक बोतल, हैण्ड लैंस, प्लास्टिक की पारदर्शक पन्नी, आलपिन, स्लाइड साथ में रखने को कहा।

फिर हर प्रयोग के बारे में समझाया कि कैसे करना है। कॉपी में पहले तालिका बनवा दी, जिसमें रोज़ अवलोकन लिखेंगे।

अगले दिन यानी 28-07-01 को परिभ्रमण पर गए। सीमा को 2-3 दिन पुराना गोबर दिखा। वह बोली “मैडम गोबर की इल्ली।” मैंने कहा “यह गोबर की इल्ली नहीं है, इसे रख लो एक डिब्बे में, देखेंगे यह किसकी इल्ली है।” थोड़ी दूर पर गाय-भैंसें चरती दिखाई दीं। मैंने कहा “वहां चलकर देखते हैं शायद अंडे दिखाई दें। मक्खी हमेशा ताजे गोबर पर अंडे देती हैं।”

थोड़ी दूर जाने पर एक जगह गुच्छे में 20-25 अंडे दिखाई दिए। मैंने श्वेता से कहा कि तुम अंडों को ‘ख’ डिब्बे में रख लो और प्लास्टिक की पन्नी उसके मुंह पर कसकर बांध दो और उसमें आलपिन से छोटे-छोटे छेद कर दो। ‘क’ डिब्बे में बिना अंडे वाला गोबर रखकर वैसे ही पैक कर दो।

फिर थोड़ा आगे बढ़े तो एक टंकी बनी थी जिसमें बहुत दिन का पानी भरा था, काई आदि जम रही थी। उसमें मुझे मच्छर के लार्वा-प्यूपा दिखाई दिए। मैंने सब लड़कियों को बुलाया और लार्वा-प्यूपा पहचानकर शीशियाँ में रखने को कहा। फिर उनके मुंह पर भी प्लास्टिक की पारदर्शक पन्नी बांधकर छोटे-छोटे छेद करने को कहा। जब लार्वा-प्यूपा रख लिए तो वहां का पानी भी एक शीशी में रखने को कहा। एक शीशी में अपना पीने का पानी भी रख लिया।

ये दो प्रयोग सेट होने के बाद मेंढक के अंडे ढूँढने निकल पड़े। थोड़ी दूर जाकर एक बड़ा-सा डबरा पानी से भरा मिला। जब हम वहां पहुंचे तो खुशी का ठिकाना न रहा - हमें साबुन जैसे झाग में साबूदाने जैसे मेंढक के अंडे तैरते मिल गए। बड़ी कठिनाई से हमने वे अंडे प्लास्टिक की बरनी में भरे और लौट पड़े।

स्कूल आकर मेंढक के अंडों को पानी सहित एक टूटे मटके में डाल दिया। एक अंडा रोज़

निकालकर उसकी लंबाई नापकर लिखने को कहा। दूसरे दिन अंडे में से बच्चे निकले। लड़कियां कहने लगीं कि मैडम, ये तो मछली के बच्चे हैं। मैंने कहा कि अपन देखेंगे कि ये बच्चे मछली के हैं या मेंढक के।

कक्षा में निम्न प्रश्नों पर चर्चा हुई:

1. मेंढक के अंडे कहां से आए?
2. मक्खी गोबर पर ही अंडे क्यों देती हैं?
3. मच्छर के अंडे क्यों नहीं दिखाई दिए?
4. मक्खी 10 दिन के अंदर बन जाती है। मच्छर तो 4-5 दिन में ही बन गया। मेंढक बनने में पूरे 40 दिन लग गए, ऐसा क्यों?

मैंने कहा कि सबका जीवन चक्र अलग-अलग है। बाद में लड़कियां रेशम के कीड़ों के अंडे, छिपकली के अंडे ले आईं। खटमल के अंडे ले आईं। उन्हें भी हमने शीशी में रखकर अवलोकन लिए।”

खास तौर से मेंढक के जीवन चक्र में काफी मुश्किलें आती थीं:

“मेंढक के जीवन चक्र के संदर्भ में बताए अनुसार ग्रामीण छात्र अंडों के गुच्छे लाते थे और उन्हें एक मटके में उसी स्थान का पानी भरकर डाल देते। कुछ घास फूस भी डाल देते थे। टैडपोल हर बार बनते, अगले पैर भी आते, मगर पिछले पैर आते-आते और पूछ खिरते-खिरते कई टैडपोल मर जाते। मेंढक बनने की सफलता 1985 से 2002 के बीच केवल दो बार ही मिल पाई। इस प्रयोग में कहां क्या कमी रह जाती थी, इस बारे में एकलव्य के स्रोत व्यक्ति से बात करने पर पता चला कि किसी तत्व (शायद आयोडीन) की कमी के कारण ऐसा होता है।”

इसी तरह के एक प्रयोग का विवरण टिमरनी के एक शिक्षक ने भी दिया है। खास बात यह है कि उस स्कूल के बच्चों को यह लंबी अवधि का प्रयोग करते हुए सामाजिक धारणाओं के साथ संवाद बनाने का अवसर अनायास ही मिल गया था, जिसका उन्होंने भरपूर फायदा भी उठाया:

“उस वर्ष कक्षा 8 में ‘पौधों में प्रजनन’ अध्याय पढ़ा रहा था। मैंने परागण किया का प्रयोग कराने के लिए बच्चों से पूछा “किसकी बाड़ी में गिलकी की बेल है? कल पूछकर आना कि वहां गिलकी के फूलों पर कुछ थेलियां बांधकर प्रयोग करने देंगे क्या?” एक छात्र ने कहा “सर मेरी बाड़ी स्कूल के पास ही है, मेरे पिताजी मना नहीं करेंगे।” अगले दिन हम पूरी तैयारी के साथ परागण किया कराने बाड़ी में पहुंचे।

हमने गिलकी के नर तथा मादा फूलों पर धागे बांधे, परागित व अपरागित कलियों पर पोलीथिन की थैलियां बांधी और परागण की तारीख, टोली का नाम आदि की पर्ची भी डाल दी। तब ही माली दादा ने आकर पूछा - “गुरुजी, ये कदू के फल (नियां) खूब झड़ रहे हैं, क्या उंगली बताने से फूल झड़ जाते हैं?”

हमें इन फूलों पर प्रयोग करने और अंधविश्वास मिटाने का अच्छा सौका मिल गया। छात्रों ने सावधानी से, पौधों को नुकसान न पहुंचाते हुए कदू के मादा फूल ढूँढे। फूलों का अवलोकन करते हुए मैंने यह देखा कि कदू के फूल घंटीनुमा होते हैं जिनमें बरसात के दिनों में पानी भर जाता है। इस कारण फूल का स्त्रीकेसर गल जाता है। हमने उन फूलों का विच्छेदन किया तो पाया कि उनके अंडाशय और वर्तिका गल चुके हैं। फूल में एक बात और देखी कि उनमें अंदर की ओर चिपचिपा पदार्थ (संभवतः मकरंद) बहुत अधिक होता है जिसके कारण जो कीड़े परागण किया में मददगार होते हैं, वे वहीं चिपककर मर जाते हैं। अतः शायद इस कारण भी परागण किया कम हो रही है।

खैर, हमारे प्रयोग वाले दिन मौसम खुला था। हमने 9 मादा कलियों को चुनकर उन्हें परागित

किया। पहचान के लिए उन पर धागे बांधे एवं बड़ी-बड़ी थैलियां बांध दीं। बच्चों से कहा कि इन परागित फूलों को खूब तर्जनी बताओ। सबने मज़े लेने के लिए दोनों हाथों से तर्जनी बताई। कुछ दिन बाद जब हम दोबारा उस बाड़ी में पहुंचे तो माली व हमारी कक्षा के बच्चे आश्चर्यचकित थे। सभी 9 परागित फूलों की जगह बड़े-बड़े कढ़ू लगे हुए थे।

माली दादा और उनका नाती (मेरा छात्र) बहुत खुश थे। हमने उन्हें परागण की क्रिया भी सिखाई। अब पूरी कक्षा और माली दादा का अंधविश्वास दूर हो चुका था कि कढ़ू तर्जनी लगाने से गल जाता है। वे समझ चुके थे कि परागण न हो या फूल में पानी भर जाए तो गलकर गिर जाता है।”

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के असर का एक और उदाहरण धार शाला संकुल की एक शाला में देखा जा सकता है:

“उस समय पत्तियों पर सर्प की आकृति उभरने की चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। लोगों ने पत्तेदार सब्जियां खाना छोड़ दिया था। यहां तक कि विधान सभा में प्रश्न भी उठा था कि वैज्ञानिक लोग क्या कर रहे हैं। तब मेरी एक विद्यार्थी ने टमाटर के पत्ते पर बनी सर्प की आकृति से एक सूक्ष्म पीले रंग का कीड़ा निकाल लिया था जो पत्ती का क्लोरोफिल खा जाता है और पत्ती में अंदर ही अंदर आगे बढ़ता जाता है। इसे लीफ माइनर कहते हैं।”

मगर कई स्थितियां ऐसी भी हैं जहां प्रयोग तो होते थे मगर शायद निरुद्देश्य रह जाते थे, आगे की प्रक्रिया नदारद रहती थी। जैसे सिवनी मालवा तहसील की एक कन्या शाला (1983) का हाल देखें

“यहां एक गंभीर शिक्षक हैं। मैंने लड़कियों से बात की। उनसे ‘समय और दोलक’ (कक्षा 8) के बारे में पूछा। उन्होंने कहा अध्याय किया है: ‘दोलन काल निकालने वाला प्रयोग किया है।’ ‘दोलन क्या होता है?’ सब एक-दूसरे का मुँह देखती हैं। बहुत बात करने पता चलता है कि दोलक बनाया है, हिलाया-डुलाया है और शायद एक मिनट में कितने दोलन करता है, यह निकाला है। ...

“मैंने पूछा और कौन-सा अध्याय किया है तो बताया मिट्टी। ‘क्या किया था इस अध्याय में?’ ‘मिट्टी तोलकर प्रयोग किया था, नपनाघट से पानी नापा था।’ ‘कौन-सी मिट्टी सर्वसे ज्यादा पानी सोखती है?’ फिर चुप्पी।

“इस अध्याय में भी उन्होंने सिर्फ (मिट्टी द्वारा) पानी सोखने का प्रयोग किया था। उससे भी क्या निष्कर्ष निकला कुछ मालूम नहीं था।”

हरदा तहसील की एक शाला की अनुवर्तन रिपोर्ट से यह बात और भी तल्खी से सामने आती है:

“दूर से देखा कि कक्षा 8 में दोलन काल नापने का प्रयोग हो रहा था। शिक्षक बच्चों की मदद कर रहे थे। क्लास में कुल आठ छात्र हैं। बाद में इस कक्षा से बातचीत की। कक्षा में एक ही बालिका थी जो प्रयोग के दौरान भी काफी पीछे से देख रही थी। बातचीत होने पर पता चला कि कक्षा गोल है। एक छात्र ही बोल रहा था जो पता चला कि पिछले साल का फेलुअर है। बाकी छात्र प्रयोग में क्या हुआ, क्या देखा भी नहीं बता पा रहे थे। यह बात समझ नहीं आई क्योंकि सबने कहा प्रयोग किया गया है और आठ बच्चों की क्लास में तो डिमॉन्स्ट्रेशन भी काफी साफ दिख सकता है। स्कूल में काम होता है, प्रयोग होते हैं, शिक्षक मेहनती हैं पर छात्र बिलकुल गोल हैं। समझ नहीं आया।” (रेखांकन मूल में नहीं था।)

यही स्थिति मेघनगर की एक ग्रामीण शाला (अगस्त 1988) में दिखाई दी। इस कक्षा की विशेषता यह रही कि प्रयोग काफी व्यवस्थित ढंग से और विस्तार में किया गया था मगर अंत में सब गुड़ गोबर हो गया:

“द्रव का आपेक्षिक घनत्व ज्ञात करने का प्रयोग स्वयं शिक्षक द्वारा किया गया। एक छात्र को बुलाकर तुला के द्वारा एक खाली शीशी का भार ज्ञात किया गया। शीशी का भार 17 ग्राम आया

बताया गया। फिर दूसरे छात्र को बुलाकर उसे द्रव भरने को शीशी दी गई। द्रव सहित तोला तो उसका वज़न 25 ग्राम आया।

“दूसरा द्रव शिक्षक ने (एक अन्य) शीशी में भरा और (बच्चों से) पूछने लगे कि कितना और भरें। अगर शिक्षक पहले भरी हुई शीशी के पास ही इस शीशी को रखते तो ठीक रहता।

“इस काम में शिक्षक सक्रिय व छात्र निष्क्रिय रहे।

“शिक्षक ने सभी (खाली) शीशियों का भार 17 ग्राम ही मान लिया कि शीशियां सब एक ही आकार की हैं।

“प्रयोग के बाद श्याम पट पर तालिका बनाई गई:

द्रव का नाम	खाली शीशी का भार (क)	द्रव से भरी शीशी का भार (ख)	द्रव का वज़न (ख-क)	आ.घ.
पानी	17	25	25-17	8
सरसों का तेल	17	25	25-17	8
मिट्टी का तेल	17	23	23-17	6
मीठा तेल	17	24	24-17	7

“एक प्रश्न यह पूछा कि घी पानी में घुलनशील है या नहीं। तो छात्रों ने उत्तर दिया कि नहीं घुलेगा। शिक्षक ने और स्पष्ट करते हुए बताया कि वस्तुएं पानी से हल्की होने से नहीं घुलतीं।”

जैसे केसला ब्लॉक की एक शाला (जनवरी 1983) से आशा जगती है कि कई शिक्षकों ने विज्ञान शिक्षा के मकसद को आत्मसात किया था:

“यहां पढ़ा रहे शिक्षक स्वयं कभी विज्ञान पढ़े नहीं हैं। मैंने उनकी सातवीं कक्षा देखी। वहां वे सायकिल पंप और जल पंप के विषय में पढ़ा रहे थे। एक सायकिल पंप वहां मौजूद था। प्रयोग कुछ नहीं था अध्याय के उस हिस्से में। पहले सायकिल पंप दिखाकर उसके विभिन्न हिस्सों के बारे में पूछा और बताया। हवा आने-जाने की प्रक्रिया भी साथ-साथ। फिर चित्र बनाकर जल पंप के बारे में समझाने लगे। समझाने की प्रक्रिया में वे बच्चों से काफी सवाल-जवाब उनकी अपनी समझ निकलवाने के लिए करते थे यानी यह एकतरफा समझाना नहीं होता था।....इसके बाद मैंने बच्चों से जड़ और पत्ती के बारे में प्रश्न किए। नाड़ी विन्यास, बीज, जड़ तीनों में क्या सम्बन्ध है यह भी बच्चों ने बताया। मैंने एक प्रश्न पूछा कि पौधा छोटा होने पर उसकी जड़ झकड़ा हो और बड़ा होने पर मूसला हो जाए, ऐसा क्या संभव है। ऐसा एक स्कूल के विद्यार्थी ने लिखा है, उसने क्या गलती की होगी? बच्चों ने बताया कि छोटे पौधों में मुख्य जड़ पहचानना आसान नहीं होता, इसलिए यह भ्रम पैदा हुआ होगा।”

दो-तीन रिपोर्ट्स से एक बात उभरती है कि जब कक्षा व्यवस्थित रूप से नहीं चलती (यानी प्रयोग टोलियों में नहीं होते या शिक्षक द्वारा करके दिखाए जाते हैं तो इसमें सबसे ज्यादा नुकसान लड़कियों का होता है (सह-शिक्षा स्कूलों में)। जैसे होशंगाबाद तहसील की एक शहरी शाला (मार्च 1982) में,

“शिक्षक पढ़ाते तो हैं, बच्चे कुछ प्रयोग करते हैं मगर अधिकांशतः डिमॉन्स्ट्रेशन ही होते हैं या एक ही उपकरण से बारी-बारी किए जाते हैं। हम हवा के अध्याय के दौरान कक्षा में बैठे थे। लड़कियां प्रायः अलग-थलग ही रहीं।”

यह स्थिति कुछ अन्य स्कूलों में भी देखी गई है। जैसे हरदा की एक शाला की बात ऊपर की गई थी। होशंगाबाद की एक शहरी उ.मा.शाला (जनवरी 1983) में सामग्री की कमी के कारण कक्षा में बच्चों

की भागीदारी बाधित है। मगर मौका मिले तो बच्चे काफी जुगाड़ कर लेते हैं बल्कि इस कक्षा में तो यह अभाव ही एक अवसर बन गया था। बच्चों को एक लीक पर न धकेलने का महत्व स्पष्ट है:

“आठवीं में विद्युत-3 अध्याय शुरू कराया गया था। करीब 40-45 विद्यार्थी थे। कक्षा में केवल 2 दिक्सूचक थे और पूरी कक्षा को दो बराबर भागों (लगभग 20-22 विद्यार्थी प्रति टोली) में बांटकर प्रयोग हो रहा था। स्वाभाविक था कि इन बड़ी टोलियों में 7-7, 8-8 बच्चे सक्रिय थे और बाकी अपनी किताबें खोलकर इधर-उधर की बातें कर रहे थे। प्रयोग में दिक्सूचक के ऊपर रखे तार में विद्युत धारा प्रवाहित करने पर दिक्सूचक की सुई पर असर देखना था। जो बच्चे प्रयोग कर रहे थे वे काम में काफी तन्मय थे। प्रयोग में स्विच के उपयोग में काफी दिक्कत आ रही थी इसलिए कुछ बार प्रयास करके विद्यार्थियों ने स्विच हटाकर सीधे कनेक्शन करके प्रयोग किया। प्रयोग न करने वाले विद्यार्थियों को जब काफी उत्साहित किया गया तभी उन्होंने आगे बढ़कर प्रयोग किया। यह प्रयोग 4-6 मीटर लंबे इनेमल्ड तार से किया जाता है, जिसके कारण बच्चों को विद्युत धारा की दिशा ढूँढ़ने में काफी दिक्कत हो रही थी। वे अपनी कॉपियों में भी नहीं लिख रहे थे। मैं एक टोली में बहुत देर तक बैठकर यह देखने का प्रयत्न कर रही थी कि विद्युत धारा प्रवाहित होने पर भी दिक्सूचक की सुई धूम क्यों नहीं रही थी। लड़कों ने बल्ब, सेल वॉरह सब चेक किए। सब ठीक थे। काफी देर बाद एक लड़के ने ही ढूँढ़ा कि वह इनेमल चढ़ा तार कहीं से टूट गया था और उसे इनेमल धिसे बिना जोड़कर परिपथ में उपयोग किया जा रहा था। तुरंत तार का छोटा वाला टुकड़ा निकाल कर अलग किया गया और बड़े टुकड़े का सिरा धिसकर प्रयोग किया गया। उन बच्चों ने स्वयं देखा कि अब दिक्सूचक की सुई धूम रही थी। यह काम छुट्टी हो जाने के बाद भी उस टोली के 5-6 सक्रिय बच्चों ने किया था।”

जुगाड़ की यही बात होशंगाबाद तहसील की एक ग्रामीण शाला (जनवरी 1974) में भी नज़र आती है। दरअसल हो.वि.शि.का. का खुलापन शिक्षकों और बच्चों दोनों के लिए ऐसे पर्याप्त मौके उपलब्ध कराता रहा है।

“हवा का अध्याय चल रहा था। छात्रों ने हवा नापने के उपकरण में सुधार किया था। मूलतः हवा फूंकों और विस्थापित पानी को इकट्ठा कर लो। ठीक ही लगता है। प्रयोग का प्रदर्शन करते समय बोतल खाली हो गई। एक लड़की ने सुझाव दिया कि तीन छेद वाला कॉर्क लिया जाए। तीसरे छेद से फिर से पानी भरा जा सकेगा। मैंने सुझाया कि कॉर्क में दो छेद ही रखें और एक Y नली का उपयोग करें।”

“हवा नापने का प्रयोग किया गया। दोनों तरह से किया - कार्ड में दी गई विधि से और संशोधित विधि से भी। कार्ड की विधि से आयतन ज्यादा निकलता है (करीब तीन-साढ़े तीन गुना ज्यादा)। संशोधित विधि में आयतन कम शायद इसलिए निकलता है कि आप एक दबाव के विरुद्ध काम कर रहे हैं।”

(दरअसल अनुवर्तनकर्ता ने इतने संक्षेप में ही यह बात बताई है। साथ में उन्होंने चित्र भी दिया है। इससे लगता है कि एक बोतल लेकर उसमें पानी भर लेते हैं और दो नलियां लगा देते हैं। चित्र से लगता है कि दोनों नलियां पानी में झूबी होती हैं। एक नली में हवा फूंकते हैं, तो पानी दूसरी नली में से निकलता है जिसे इकट्ठा करके नाप सकते हैं। तीसरी नली का क्या उपयोग होगा यह साफ नहीं है।)

कुछ शिक्षकों ने जो विवरण दिए हैं उनसे एक और रोचक व महत्वपूर्ण बात उभरती है। वह है कि प्रयोग करते-करते बच्चे प्रयोग की डिज़ाइन को समझने के प्रयास भी करते थे। जैसे धार की एक शाला में:

“हां, क्रोमेटाग्राफी से स्याही का पृथक्करण करते समय एक छात्रा ने पूछा कि विशेष कागज की पट्टी (सोख्ता कागज) का ही उपयोग क्यों करते हैं, कॉपी का कागज क्यों नहीं?”

या आगर शाला संकुल में:

“एक बार एक छात्र ने मक्खी के जीवन चक्र वाले प्रयोग के बारे में पूछा कि “‘सर आपने तो यह प्रयोग गोबर पर करवाया मगर क्या यह किसी और आधार पर भी हो सकता है?’”

ये उदाहरण शायद मामूली लगें मगर इनसे पता चलता है कि बच्चे ये प्रयोग सोच-समझकर कर रहे हैं, और ज़रूरत पड़ने पर विकल्प भी सोच पाएंगे।

इसी प्रकार से यह भी देखने में आता है कि प्रयोग करते-करते बच्चे चीज़ों के बीच सम्बंधों पर ध्यान देते हैं। यह उदाहरण देखिए:

“जब बच्चे चुंबक की मदद से मिश्रण में से आलपिन अलग कर रहे थे, तब रेत में से कुछ कण भी चिपक गए जिन्हें लेकर एक टोली की लड़कियां आईं। तब मैंने उन्हें बताया कि रेत में लोहे के कण भी पाए जाते हैं। स्कूल के पास बालू का ढेर पड़ा था। उस ढेर में चुंबक घुमाने पर लड़कियों को बोतल भर लोहे के कण मिल गए। इसमें बहुत आनंद आया और बच्चों को उस चरवाहे की याद आ गई जिसने चुंबक की खोज की थी।”

मगर जहां प्रयोग किए ही न जाएं, वहां क्या हश्र होगा? होशंगाबाद तहसील की एक ग्रामीण शाला (नवंबर 1973) में यही हालत है:

“कक्षा 7 चल रही है। शिक्षक श्रेणी व समांतर क्रम में स्प्रिंग वाले प्रयोग पर चर्चा करने का प्रयास कर रहे हैं। सारे छात्रों की रीडिंग एक-सी हैं - शिक्षक ने बोर्ड पर लिखी हैं, उन्हें उतार लिया है। नतीजा यह है कि आधे से ज्यादा बच्चों को यह पता नहीं है कि स्प्रिंगों को श्रेणी क्रम में जोड़ने पर वे एक अकेली स्प्रिंग से ज्यादा खींचती हैं या कम। ...आम तौर पर बच्चों को बोलने या खुद पता करने को प्रेरित नहीं किया जाता है।”

या मेघनगर की एक ग्रामीण शाला (अक्टूबर 1989) में जहां प्रयोग के बारे में बताकर बात समाप्त हो रही है:

“आज का अध्याय पोषण-1 था। शिक्षक द्वारा बताया गया कि यदि किसी खाद्य पदार्थ को कागज पर रगड़ा जाए और यदि कागज पारदर्शी हो जाए तो उस पदार्थ में वसा है।...इसके बाद भोजन में प्रोटीन परीक्षण के बारे में बताया गया।...इसी प्रकार बताया गया कि पदार्थ पर आयोडीन का घोल डालने पर यदि गहरा नीला या काला रंग प्राप्त हो, तो उस पदार्थ में स्टार्च है।”

परिभ्रमण वैसे तो एक समस्यामूलक घटक रहा है परिभ्रमणों के बारे में एक बात गौरतलब है। बढ़ते क्रम में शिक्षक परिभ्रमण करवाने में असमर्थता व्यक्त करने लगे थे। इनमें से एक समूह तो शहरी शिक्षकों का था, जिनका कहना था कि शहर में उनके पास बच्चों को ये अध्याय करवाने में बहुत मुश्किल होती है क्योंकि ऐसी जगहें ही नहीं हैं जहां बच्चों को ले जाएं और अध्ययन हेतु सामग्री मिल जाए। कई शिक्षक (खासकर कन्या शालाओं में पदस्थ पुरुष शिक्षक) यह कहते थे कि लड़कियों को परिभ्रमण पर ले जाना बहुत अव्यावहारिक होता है। फिर ग्रामीण शालाओं के कुछ शिक्षक कहते थे कि खेत, नदी-नालों के पास बच्चों को ले जाने में खतरा रहता है (कभी कोई सांप वगैरह काट ले तो?)। कुछ शिक्षकों का कहना होता था कि इसमें समय बहुत लगता है और उनके प्रधान पाठक उन्हें इजाजत नहीं देते। एक शिकायत यह भी थी कि परिभ्रमण के दौरान अनुशासन बनाना मुश्किल हो जाता है।

इन बातों के मद्दे नज़र शिक्षकों ने अपने-अपने ढंग से नवाचार भी किए थे। जैसे कुछ शिक्षक एक बार में ही एक से अधिक कक्षाओं को परिभ्रमण पर ले जाते थे और उस समय एक से अधिक शिक्षक बच्चों के साथ रहते थे। कई शिक्षकों ने मैदानी अध्ययन को तिलांजलि देकर परिभ्रमण को मात्र सामग्री जुटाने का एक साधन मान लिया था। अतः वे बच्चों से कह देते थे कि घर से स्कूल आते समय फलां-फलां सामग्री

लेते आएं। कुछ स्कूलों में यह भी होता था कि कक्षा शुरू होने के बाद कुछ बच्चों से कह दिया जाता कि वे भागकर जाएं और फूल तोड़ लाएं या पत्तियां ले आएं। इसका परिणाम यह होता था कि वास्तविक परिवेश में जिस ढंग के सवाल बच्चे पूछ सकते थे, वे रह जाते थे। कई ऐसे अवलोकन भी नहीं हो पाते थे जो वास्तविक चीज़ को देखकर होने चाहिए - जैसे पत्तियों की जमावट, या जंतुओं के प्राकृतवास। कार्यक्रम बंद होने के बाद किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि आम तौर पर परिभ्रमण साल में एकाध बार ही होते थे हालांकि शिक्षक मानते थे कि विज्ञान शिक्षण में वास्तविक परिस्थिति में जाकर अध्ययन करने का बहुत महत्व है। कुछ शिक्षकों का तो मत था कि जीव विज्ञान का अध्ययन तो मैदान में जाकर ही होना चाहिए - आप पूरा पेड़ या सारी की सारी पत्तियां तो स्कूल में नहीं ला सकते। एक तथ्य यह भी उभरा कि अधिकांश परिभ्रमण जुलाई-अगस्त में होना चाहिए जब प्रकृति अपने शबाब पर होती है मगर नहीं हो पाते थे। मज़ेदार बात यह है कि पूर्व छात्रों ने अपने विवरण में बताया कि परिभ्रमण के दौरान कहीं अधिक सीखने को मिलता था।

कुछ शिक्षकों ने इसका एक नायाब विकल्प खोज निकाला लिया था। दरअसल यह उनके उत्साह का नतीजा था जो बाद में एक बाधा-सा बन गया। इन शिक्षकों ने बच्चों से हर्बेरियम बनवाए थे, कीड़े-मकोड़ों के संग्रह तैयार करवाए थे। अब हर साल वे इनका उपयोग प्रदर्शन हेतु कर लेते थे।

मगर कुछ शिक्षक सचमुच संजीदा प्रयास करते थे कि बच्चे परिभ्रमण करें और पर्यावरण का प्रत्यक्ष अवलोकन करें और उन्हें साथियों का सहयोग भी मिलता था। इसके लिए वे अपने ढंग से व्यवस्थाएं भी बनाते थे। जैसे, धार की एक शहरी शाला (अगस्त 1987) की एक अनुवर्तन रिपोर्ट में बताया गया है कि

“कक्षा की छात्राएं शिक्षिका के साथ परिभ्रमण के लिए उदयविलास पैलेस के पास वाली नर्सरी में गई थीं। परिभ्रमण के दौरान छात्राओं ने अनेक फूल एकत्रित किए थे और उनके नाम भी लिखे थे। नर्सरी में माली द्वारा छात्राओं को ग्राफिंग करना भी बताया गया था। वैसे इस कक्षा में विज्ञान के लिए कालखंड 5 व 6 थे किन्तु फूल खराब न हों इसलिए प्रधान अध्यापिका ने विषय शिक्षक को पहला एवं दूसरा कालखंड लेने की अनुमति दे दी थी।”

“कक्षा 6 की छात्राएं भी साथ ही परिभ्रमण पर गई थीं। उन्होंने पत्तियां एकत्रित की थीं व नाम भी लिखे थे। शिक्षिका ने छात्राओं को तालिका भरने को कहा। पत्तियां इतनी अधिक थीं कि इस तालिका को भरने में ही पूरा समय समाप्त हो गया।”

ऐसा ही विवरण हमें धार की एक शहरी शाला (सितंबर 1986) की रिपोर्ट में भी मिलता है

“प्रातः 8 बजे में विद्यालय पहुंचा तो प्रांगण में बालिकाएं कतारबद्ध खड़ी हुई थीं। मैं कार्यालय में गया तो शिक्षिका कार्यालय से बाहर निकलती मिलीं। उन्होंने कहा कि आज सभी कक्षाएं परिभ्रमण पर जा रही हैं। आप भी चलिए। समस्त छात्राओं को लेकर हम झिरन्या के पास के एक खेत में गए। वहां पर अलग-अलग कक्षाओं की छात्राओं में से कुछ फूल तोड़कर लाईं, कुछ छात्राओं ने कीड़े-मकोड़े इकट्ठे किए, कुछ पौधों पर से रोग फैलाने वाले कीड़े मय पौधों की डाली लाईं। खेत मालिक से छठी की छात्राओं ने रकबा (क्षेत्रफल) तथा उसमें बोई गई फसल की जानकारी ली। बोने-काटने के तरीकों की जानकारी भी ली गई।”

सोहागपुर तहसील की एक करबाई शाला (सितंबर 1979)

“कक्षा 7 के विद्यार्थी परिभ्रमण कर चुके थे। चींटे की टांगों की संख्या के बारे में एकमत होते हुए भी, खंडों के बारे में एकमत न थे।”

कितनी बड़ी बात है कि कक्षा में बच्चे किसी बात को लेकर एकमत न हों, जबकि पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षा में तो ऐसी बात कुफ्र ही कही जाएगी।

हरदा क्षेत्र की एक शिक्षिका ने परिभ्रमण की व्यवस्था और असर को लेकर अपने अनुभव लिखे हैं:

“परिभ्रमण वाले अध्यायों की चर्चा करने से पूर्व एक बात स्पष्ट करना ज़रुरी है कि इन अध्यायों को करवाते समय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जाता रहा है। जैसे कक्षा 6 में पत्तियों का समूहीकरण का परिभ्रमण कभी बाहर जाकर किया और कभी जब बारिश हो रही हो, तो हर टोली को 3-4 तरह की अलग-अलग पत्तियां शाला आते समय लेकर आने को कहकर विविध प्रकार की पत्तियां एकत्र करवा लेते थे। वैसे जड़ और पत्ती तथा पत्तियों से सम्बन्धित परिभ्रमण अमूमन होते थे। फसल के परिभ्रमण और सर्वेक्षण मैंने अधिकांशतः बच्चों से अपने पालकों व पड़ोसियों से चर्चा व सवाल-जवाब द्वारा किए क्योंकि हमारी कक्षा के अधिकांश छात्र कृषक या कृषि मज़दूर परिवारों से होते हैं।

परिभ्रमण का असर तो उसके बाद भी बना रहता। बच्चे कभी कोई नया फूल, पत्ती, जंतु, या कीड़ा, यहां तक कि सांप का बच्चा, गिरगिट आदि पकड़ लाते और उसके बारे में तरह-तरह के सवाल करते। कई प्रकार के कीड़े मैंने उनके कारण ही देखे। बेर के फूल और उनकी खूशबू का आनंद मुझे बच्चों ने ही कराया।

आठवीं के फसलों की सुरक्षा वाले अध्याय के लिए हमें अक्सर गेहूं और चने के खेत ही मिलते थे क्योंकि ज्यादातर किसान यही बोते थे। एक बार तो छात्रों ने एक खेत में इतने प्रकार की खरपतवार एकत्र कर ली कि उसका मालिक भी उनके नाम नहीं बता पाया। फिर बच्चों ने स्कूल के सामने से निकलने वाले किसानों को रोक-रोककर पूछा मगर फिर भी कई बेनाम ही रहे।

परिभ्रमण कैसे हो, इस पर शुरुआती कक्षा में अच्छी तरह समझाइश देना होता था कि क्या करें, क्या न करें। आगे छात्र सब व्यवस्थित कर लेते। कभी-कभी आधी छुट्टी के बाद का पूरा समय यानी 1 कालखंड अतिरिक्त लगाकर परिभ्रमण तथा बाद की चर्चा वहीं कर लेते। कभी-कभी दो कक्षाएं एक साथ परिभ्रमण पर जातीं (अलग-अलग शिक्षकों के साथ) और परिभ्रमण के बाद भोजन कर वापिस लौटतीं। कभी-कभी हम प्रधान पाठक से टाइम टेबल में थोड़ा परिवर्तन करवाकर आखरी के दो कालखंडों की बजाय शुरू के दो कालखंडों में परिभ्रमण पर जाने की अनुमति ले लेते थे।”

सोहागपुर की एक शाला में परिभ्रमण का जश्ननुमा स्वरूप उभरता है:

“हो.वि.शि.का. में परिभ्रमण का महत्व था किन्तु परिभ्रमण हमेशा हो, यह संभव नहीं था। मेरी शाला में माध्यमिक विभाग की सभी शिक्षिकाएं और तीनों कक्षाएं माह में एक बार (प्रायः शुक्रवार सुबह 8 से 2 बजे तक) परिभ्रमण के लिए आसपास की जगह जाते। तीनों कक्षाओं के अध्याय अलग-अलग तय करते। समूह में कक्षावार सामग्री एकत्रित करके विश्लेषण कर लेते। कुछ नोट्स बनाते। एक साथ सभी बैठकर दोपहर का खाना खाते, सांस्कृतिक कार्यक्रम करते, गीत, कविताएं, नृत्य, चुटकले बगैरह होते।”

उपरोक्त विवरण बहुत प्रेरणास्पद हैं और स्कूल से बाहर जाकर मैदानी अध्ययन के महत्व व संभावना का इशारा करते हैं मगर पिपरिया गोष्ठी में यह उभरकर आया कि परिभ्रमण की प्रथा कमज़ोर पड़ चुकी थी। परिभ्रमण मात्र सामग्री प्राप्त करने का साधन रह गया था, परिभ्रमण के दौरान होने वाली प्रक्रियाओं की उपेक्षा हो रही थी। एक शिक्षक ने तो कहा कि “परिभ्रमण में समय लगाने से तो बेहतर लगता था कि ‘पढ़ाई’ में समय लगाए।” कुछ शिक्षक परिभ्रमण की बजाय बच्चों के आम अनुभवों को आगे की चर्चा का आधार बना लेते थे। इससे लगता है कि परिभ्रमण को पाठ्यक्रम का एक अंग नहीं माना जा रहा था बल्कि यह अध्यापन के लिए एक साधन था और कई शिक्षक महसूस करते थे कि यह ‘साधन’ धीरे-धीरे उनके अध्यापन कार्य में एक बाधा है। वैसे पायलट अध्ययन से पता चलता है कि आम तौर पर परिभ्रमण साल में एकाध बार ही होते थे हालांकि शिक्षक मानते थे कि विज्ञान शिक्षण में वास्तविक परिस्थिति में जाकर अध्ययन करने का बहुत महत्व है। कुछ शिक्षकों का तो मत था कि जीव विज्ञान का अध्ययन तो

मैदान में जाकर ही होना चाहिए - आप पूरा पेझ या सारी की सारी पतियां तो स्कूल में नहीं ला सकते। एक तथ्य यह भी उभरा कि अधिकांश परिभ्रमण जुलाई-अगस्त में होना चाहिए जब प्रकृति अपने शबाब पर होती है मगर नहीं हो पाते थे। मज़ेदार बात यह है कि पूर्व छात्रों ने अपने विवरण में बताया कि परिभ्रमण के दौरान कहीं अधिक सीखने को मिलता था।

परिभ्रमण की बिगड़ती स्थिति के कई कारण सामने आए। सबसे प्रमुख कारण था समय की कमी। एक तो कुल समय की कमी बताई गई और दूसरी टाइम टेबल की समस्या बताई गई। दो पीरियड में वापिस आना मुश्किल होता था। एक कारण शिक्षकों की कमी का भी व्यक्त हुआ। वैसे मुख्य बात यही लगती है कि परिभ्रमण को एक शैक्षणिक गतिविधि नहीं माना जाता था।

परिभ्रमण चाहे कमज़ोर पड़ गए थे मगर स्थानीय पर्यावरण से प्राप्त सामग्री का अध्ययन खूब होता था कक्षाओं में। जैसे मेघनगर की एक ग्रामीण शाला (सितंबर 1989) में

“प्रत्येक टोली के पास भटा, गिलकी, लौकी, टमाटर, मिर्ची, केला, करेला, भिंडी, तुरई, सीताफल, प्याज, डोचरा जैसे फल और भिंडी, भटा के फूल भी थे। छात्र अध्याय फूल और फल खंड 3 में फूल और फल की तुलना कर रहे थे।”

या धार की एक शहरी शाला (सितंबर 1985) में

“छात्रों को बरगद व गूलर के फूल बांटे गए तथा उनकी आड़ी व खड़ी काट काटने को कहा गया। क्या तुम्हें बीज मिले या कुछ और? उत्तर थे बीज और कुछ छात्रों ने फूल भी उत्तर दिया। इस गूलर के कुछ भाग निकालकर लैंस से देखना प्रारंभ किया गया। क्या अंखुड़ी पंखुड़ी दिखाई दी? कुछ छात्रों ने हां कहा, कुछ ने नहीं। इनमें स्त्रीकेसर-पुंकेसर ढूँढ़ो। छात्रों ने हैंडलैंस से देखा। कुछेक ने कहा पुंकेसर ही दिख रहा है, कुछेक ने स्त्रीकेसर कहा। प्रश्न 42 का उत्तर था एकलिंगी फूल है। फिर छेद के पास के और डंठल के पास के फूलों का अध्ययन करने को कहा गया। नर और मादा फूल कहां स्थित होते हैं? छात्रों ने कहा कि डंठल के पास मादा फूल और छेद के पास नर फूल हैं।”

या सोहागपुर की एक शाला में:

“शाला में बोगनविलिया बहुत है। उसकी रंगीन पत्ती को ही बच्चे फूल समझते थे। जब उस रंगीन पत्ती के साथ जुड़ा छोटा-सा धंटीनुमा फूल उन्हें बताती, ब्लेड से खोलकर स्त्रीकेसर, पुंकेसर दिखाती, तब छात्राओं के चेहरे पर खुशी और आश्चर्य के भाव दिखते।”

यह किस्सा धार की एक शहरी शाला (अक्टूबर 1985) का भी है।

“प्रकरण - सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत। शीशी में पानी की एक बूंद रस्ताइड पर रखकर सूक्ष्मदर्शी में से शिक्षक महोदय ने देखना शुरू किया। और पानी के जीव बच्चों को एक-एक करके दिखाए। मैंने भी देखे। डबरे की काई के बदले एक लड़के ने दीवार, ईंट पर उगने वाले पौधे लाया। प्याज की झिल्ली दिखाई गई।”

हमारे पास कक्षाओं के विवरण तो बहुत सारे हैं। इनमें मुख्य रूप से यह बात उभरती है कि हो.वि.शि.का. का कक्षा बच्चों के कियाकलापों और शिक्षक के प्रयासों पर बहुत निर्भर थी। जब भी पाठ्य पुस्तक को कक्षा के केंद्र से हटाया जाएगा तो यह अपेक्षित भी है। मगर इसके कारण हमारा सामना एक गहरी समस्या से होता है। जहां पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षण में यह सुनिश्चित हो जाता है कि सारे छात्र ‘सही’ उत्तर जान जाएंगे वहीं बाल केंद्रित शिक्षण में बच्चों, शिक्षकों को मिली स्वायत्तता के चलते यह ‘खतरा’ बना रहता है कि ‘गलत’ उत्तर मान्य हो जाएंगे। यहां यह सवाल भी उठता है कि शिक्षण विधि में ज्यादा महत्व किस बात को दिया जाए - ‘सही’ उत्तर जान लेने को या उत्तर तक पहुंचने की प्रक्रिया को? यहां हमें

एक सवाल और उठाना होगा - क्या पाठ्य पुस्तक में अंकित 'सही' उत्तर बच्चों (और शिक्षकों) की पूर्व धारणाओं से कोई संवाद, कोई जहोजहद करते हैं या उनके ऊपर थोप दिए जाते हैं? तब बच्चे कक्षा-परीक्षा के दायरे में तो तथाकथित सही उत्तर को दोहराते रहते हैं मगर गहराई में उन पर विश्वास नहीं करते। दूसरी ओर स्वायत्तता पर टिकी होशंगाबाद विज्ञान विधि है जिसमें बच्चों की पूर्व धारणाओं को उभरने का पूरा मौका मिलता है मगर शिक्षक की सीमाओं के चलते यह खतरा रहता है कि उन धारणाओं की पुष्टि हो जाएगी। दूसरे शब्दों में सवाल यह है कि छात्रों को 'संचित ज्ञान' हस्तांतरित करने का तरीका क्या होगा। शिक्षा में कोई भी सार्थक हस्तक्षेप करने वालों को इस सवाल का सामना करना होगा।

कक्षाओं के इन अनुभवों में कई बातें उभरती हैं जबकि कई नहीं उभरतीं। जैसे यह पता नहीं चलता कि कक्षा में बच्चों के बीच और शिक्षक व बच्चों के बीच किस तरह का संवाद होता था। यह भी स्पष्ट नहीं होता कि शिक्षक सारे बच्चों को जोड़े रखने के लिए क्या करते थे। हालांकि कई शिक्षकों ने बताया है कि वे कोशिश करते थे कि 'कमज़ोर' बच्चों और 'होशियार' बच्चों की मिली-जुली टोलियां बनाएं। मगर इतना तो साफ़ है कि होशंगाबाद विज्ञान की कक्षा में बच्चे काफी मुक्त होते थे और कक्षा में उनकी अपनी एक सत्ता होती थी। शा.मा.शाला ऊँड़ा (ज़िला हरदा) की कुछ कक्षाओं की एक सी.डी. उपलब्ध है। इसे देखकर हो.वि.शि.का. की कक्षा में बच्चों की स्वायत्तता का अंदाज़ लगाया जा सकता है और यह पता चलता है कि कैसे कक्षा की दीवारें घुलने लगती हैं। ऊपर प्रस्तुत विवरणों से भी एक बात तो साफ़ उभरती है कि हो.वि.शि.का. की कक्षाओं में काफी तरलता होती थी और कक्षा का एक सर्वधा न्या रूप प्रकट होता था।

मूल्यांकन व परीक्षा

बंबई के नगर निगम स्कूलों में विज्ञान शिक्षा का नवाचार बंद होने का एक बड़ा कारण यह था कि नगर निगम ने बोर्ड परीक्षा में परिवर्तन करने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया था। वहाँ शिक्षकों को भी स्पष्ट था कि उनके स्कूलों के बच्चे विज्ञान में जो बातें सीख रहे हैं, उनकी तो परीक्षा होगी नहीं, बोर्ड की परीक्षा में तो रटी-रटाई जानकारी पूछी जाएगी, फार्मूले पूछे जाएंगे। तब इन बच्चों का बहुत नुकसान होगा। यह एक महत्वपूर्ण सबक था जो बंबई के अनुभव से निकला था। इसलिए जब 1972 में बी.जी.पिने इस कार्यक्रम को होशंगाबाद में लागू करने के प्रस्ताव के सिलसिले रसूलिया आए थे तो उन्होंने सुदर्शन कपूर और अनिल सद्गोपाल से कहा था कि कार्यक्रम शुरू करने से पहले सरकार से परीक्षा में परिवर्तन की अनुमति अवश्य ले लें। 1972 के प्रस्ताव में यह बात कही भी गई थी किन्तु उस समय इस बात पर जोर नहीं दिया गया था। शायद यह स्पष्ट था कि परीक्षा में परिवर्तन की अनुमति मांगते ही पूरी बात अटक जाएगी।

मगर परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन शुरू से ही हो.वि.शि.का. में एक प्रमुख सरोकार रहा है। मूल बात यह थी कि परीक्षा उन चीजों की होनी चाहिए जो आप सिखा रहे हैं या चाहते हैं कि बच्चे सीखें। कार्यक्रम की अन्य चीजों की तरह परीक्षा की प्रणाली भी धीरे-धीरे अनुभवों से विकसित हुई। मगर इसके प्रमुख तत्व शुरू से ही स्पष्ट थे। कार्यक्रम के 30 वर्षों में अन्य पहलुओं की ही तरह परीक्षा के तौर-तरीकों में भी काफी बदलाव आए हैं। मगर परीक्षा की मूल भावना वही रही है।

वैसे एक बात शुरू में ही कह देना उचित होगा। हो.वि.शि.का. समूह का स्पष्ट मत रहा है कि सर्वोत्तम परीक्षा तो वही होगी जो शिक्षक स्वयं ले। यानी हर शिक्षक को अपने विद्यार्थियों की परीक्षा लेने की छूट होनी चाहिए। इस परीक्षा का मकसद यह नहीं होगा कि बच्चों को पास-फेल कर दिया जाए या फस्ट-सेकंड-थर्ड घोषित कर दिया जाए। इस परीक्षा का मकसद यह होगा कि शिक्षक पता लगा सके कि बच्चे उस समय तक क्या-क्या सीख चुके हैं और कौन-सी बातें सीखने के लिए तैयार हो गए हैं, कहाँ और मदद व समय की ज़रूरत है, और अनुभव की ज़रूरत है। इसलिए शिक्षकों के साथ प्रारंभिक दौर के वार्तालाप में स्रोत दल का आग्रह रहता था कि आंतरिक मूल्यांकन का महत्व अधिक होना चाहिए।

मध्यप्रदेश में बोर्ड परीक्षाएं विभिन्न स्तरों पर आयोजित की जाती हैं। प्रथम बोर्ड परीक्षा कक्षा 5 में होती है जो उस समय ज़िला स्तर पर होती थी। इसके बाद पूर्व माध्यमिक बोर्ड परीक्षा संभाग स्तर पर होती थी और कक्षा 10 व 12 की बोर्ड परीक्षा राज्य स्तरीय माध्यमिक शिक्षा मंडल द्वारा आयोजित की जाती थी। होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम के बच्चों का पहला बैच 1974-75 में कक्षा 8 में पहुंचा था। इस समय राज्य शासन ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए यह व्यवस्था की थी कि हो.वि.शि.का. के अंतर्गत शामिल 16 स्कूलों में कक्षा 8 की परीक्षा फ्रेंड्स रूरल सेंटर व किशोर भारती द्वारा आयोजित की जाएगी और इस परीक्षा को बोर्ड परीक्षा के तुल्य मान्यता होगी। दूसरे शब्दों में इन दो गैर सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं को बोर्ड का दर्जा प्रदान किया गया था। यह किसी भी राज्य शासन द्वारा उठाया गया एक अभूतपूर्व कदम था और शिक्षा से सरोकार रखने वाले लोगों को इसका महत्व बताने की ज़रूरत नहीं है।

लिहाजा कार्यक्रम में शामिल 16 स्कूलों की कक्षा 8 की बोर्ड परीक्षा 1975 से लेकर 1980 तक किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर द्वारा आयोजित की जाती थी।

इतना कहने के बाद शायद वहाँ से शुरू करना उचित होगा जब ज़िला स्तरीय प्रसार का निर्णय हो जानें के बाद 1977 में हो.वि.शि.का. समूह ने एक पर्चे में संक्षेप में यह बताया था कि उसने किस तरह की परीक्षा प्रणाली विकसित की है। यहाँ वह पर्चा शब्दशः दिया जा रहा है। वैसे तो पर्चे में यह बताया गया है कि परीक्षा के हर तत्व के पीछे तर्क क्या था मगर बाद में हम इस पर कुछ और चर्चा करेंगे। यह पर्चा 1977 तक हुए प्रयोगों के निचोड़ को ही प्रस्तुत करता है। पांच साल तक चले इन तजुबों में कई चीज़ें

आजमाई गई थीं। उन पर भी थोड़ा प्रकाश डालना लाजमी होगा। तीसरी बात यह है कि ज़िला स्तरीय प्रसार के साथ यह प्रणाली हूबहू इसी रूप में नहीं अपनाई गई थी और बाद में इसकी बारीकियों में कई फेरबदल होते रहे हैं। उनकी बात भी करेंगे। और अंत में इस बात पर चर्चा करना ज़रूरी होगा कि इस परीक्षा का मैदानी अनुभव क्या रहा है और इसने सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर क्या असर डाला है।

‘हो.वि.शि.का. मूल्यांकन - एक रूपरेखा (1977)

पिछले पांच वर्षों में हमने धीरे-धीरे मूल्यांकन की एक प्रणाली विकसित की है। हमारे ख्याल से यह हमारे उद्देश्यों के सबसे अनुकूल है। चूंकि अब इस कार्यक्रम का विस्तार होने जा रहा है और छात्रों के मूल्यांकन की ज़िम्मेदारी अन्य लोग उठाएंगे, इसलिए यह ज़रूरी है कि अब तक जो कुछ हमारे दिमागों में रहा है और जिसे हम अनायास ही लागू करते रहे हैं, उसे लिख दिया जाए।

कक्षा 8

पहले हम कक्षा 8 के छात्रों के मूल्यांकन की प्रक्रिया पर विचार करेंगे और उसके बाद कक्षा 6 व 7 के मूल्यांकन पर कुछ टिप्पणी करेंगे। इन दो समूहों में प्रमुख अंतर यह है कि जहां कक्षा 8 की परीक्षा एक बाह्य बोर्ड द्वारा ली जाती है वहीं कक्षा 6 व 7 की परीक्षा आंतरिक होती है।

कक्षा 8 के अंत में ली जाने वाली परीक्षा के तीन हिस्से हैं: आंतरिक मूल्यांकन (15 प्रतिशत), एक लिखित प्रश्न पत्र (45 प्रतिशत) और एक प्रायोगिक परीक्षा (40 प्रतिशत)। उत्तीर्ण होने के लिए किसी भी छात्र को इन तीनों में मिलाकर न्यूनतम 33 प्रतिशत अंक और प्रत्येक में अलग-अलग न्यूनतम 25 प्रतिशत अंक प्राप्त करना ज़रूरी है।

(गौरतलब है कि अंकों का यह विभाजन शिक्षकों के साथ काफी विचार विमर्श के बाद तय किया गया था और इसमें साल दर साल परिवर्तन भी होते रहे थे। दरअसल आदर्श रूप में तो हो.वि.शि.का. समूह छात्रों के मूल्यांकन का पूरा दायित्व शिक्षक पर छोड़ना चाहता था। परीक्षा का मुख्य उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि शिक्षक यह देख पाए कि बच्चे कितना सीख पाए हैं और अगली बातें सीखने के लिए कितने तैयार हो पाए हैं? इस दृष्टि से शिक्षक द्वारा किया गया आंतरिक मूल्यांकन बहुत अहमियत रखता है। शिक्षकों के साथ चर्चाओं में स्रोत दल की ओर से हमेशा यह आग्रह रहा कि आंतरिक मूल्यांकन का वेटेज ज़्यादा रखा जाए।)

आंतरिक मूल्यांकन: शिक्षक से अपेक्षा की जाती है कि वह उपस्थिति की नियमितता, कक्षा में प्रदर्शन, अभ्यास पुस्तिका, तथा मासिक व अर्ध वार्षिक परीक्षा में प्रदर्शन के आधार पर अपने छात्रों का मूल्यांकन करे।

लिखित पर्चा: यह असीमित समय और खुली किताब वाली परीक्षा है। आम तौर पर प्रश्न पत्र में दस प्रश्न होते हैं और इसे इस तरह बनाया जाता है कि एक औसत विद्यार्थी को इसे हल करने में करीब ढाई घण्टे का समय लगे। विद्यार्थियों को सलाह दी जाती है कि वे अपनी रिकॉर्ड बुक और बाल वैज्ञानिक साथ लेकर आएं और ज़रूरत पड़ने पर इनका उपयोग करें। मगर उन्हें आपस में या किसी अन्य से बातचीत करने की छूट नहीं होती।

(वैसे 1975-1980 के प्रश्न पत्रों को देखने से पता चलता है कि कई वर्षों तक तो परीक्षा में बच्चों को सिर्फ बाल वैज्ञानिक नहीं, कोई भी किताब लाने की छूट थी। वैसे सत्तर के दशक में ग्रामीण भारत की परिस्थिति में इस बात का कोई व्यावहारिक महत्व शायद न रहा हो। इसके अलावा उन्हें भी छूट थी कि वे प्रश्न पत्र को दो बैठकों में हल करें और दो बैठकों के बीच वे आपस में बात कर सकते थे। हां, शिक्षक से बात करने की मनाही थी। स्कूली परीक्षा में असीमित समय का तो शायद यह देश का पहला उदाहरण होगा और साथियों से बात कर पाना तो शायद आज भी

(अकल्पनीय लगे।)

प्रश्न पत्र का निर्माण आम तौर पर एक समूह द्वारा किया जाता है और कोशिश यह होती है कि प्रश्न पाठ्यक्रम के पूरे परास में फैले हों। आम तौर पर एक प्रश्न पूरी तरह कोर्स से असम्बंधित होता है और इसकी रचना छात्रों के बुद्धि कौशल (IQ) व कुदरती क्षमता की जांच के लिंगाज से की जाती है। शेष प्रश्नों में वस्तुनिष्ठ प्रश्न, खुले उत्तर वाले प्रश्न, छोटे विवरणात्मक प्रश्न, छात्रों से चित्र बनाने की मांग करने वाले प्रश्न, सरल गणना वाले प्रश्न और कभी-कभी सीधे याद करके लिखने वाले प्रश्न भी होते हैं। इस तरह के प्रश्न बनाने का मकसद छात्रों की विभिन्न कुशलताओं, जैसे अवधारणा की समझ, तर्क क्षमता, अभिव्यक्ति की क्षमता, कल्पना शक्ति की जांच करना है, और ऐसी परिस्थितियों में उनकी जांच करना है जो कक्षा में उपस्थित किसी परिस्थिति के लगभग समान हों या उससे बहुत भिन्न हों।

एक बार प्रश्न पत्र बन जाने पर हर प्रश्न के प्रारंभिक अंक निर्धारित कर दिए जाते हैं। ये अंक निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वह प्रश्न कितना कठिन है, उसे करने में छात्र को कितना समय लगेगा, उसका उत्तर देने के लिए उसे कितनी लिखित सामग्री को समझना होगा, प्रश्न से सम्बंधित अवधारणा कितनी महत्वपूर्ण और मुश्किल है, कितनी तर्क व गणना क्षमताओं की ज़रूरत होगी, कितनी कल्पना शक्ति की ज़रूरत होगी, क्या प्रश्न की परिस्थिति छात्र के लिए परिचित है या उसे सीखी हुई प्रक्रियाओं को ऐसी परिस्थिति पर लागू करने को कहा जा रहा है जो उसके लिए एकदम नई हैं।

(अलबत्ता, पूर्व में निर्धारित किए गए ये अंक प्रश्न पत्र पर प्रश्नवार दर्शाए नहीं जाते हैं।)

उपरोक्त प्रश्नों में से कुछ (दो-तीन) को छांटकर अलग किया जाता है जिनका सम्बंध कार्यक्रम के मूल तत्वों से है। ये वे तत्व हैं जिनके बारे में माना गया है कि अगली कक्षा में पहुंचने से पहले छात्र को इनमें न्यूनतम समझ अर्जित कर लेनी चाहिए। ज़ाहिर है कि ये प्रश्न मामूली प्रकृति के नहीं हो सकते। इस तरह के प्रश्नों के कुछ क्षेत्र हैं मापन, इकाई, आंकड़ों को संभालना, समूह, उपसमूह और अन्य विषयों की इसी तरह की अवधारणाएं। अंकों के प्रारंभिक निर्धारण में इन प्रश्नों को ज़्यादा तरजीह (वेटेज) दी जाती है।

(परीक्षा की दृष्टि से मूल तत्वों, न्यूनतम अपेक्षाओं वर्गेरह की समझ धीरे-धीरे पुख्ता व रुक्ष होती गई थी। आगे चलकर हो.वि.शि.का. के परीक्षा मैनुअल में इन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित करके शामिल किया गया था।)

इसके बाद सब छात्रों की लिखित परीक्षा ली जाती है। उनका मूल्यांकन करने से पहले सारी उत्तर पुस्तिकाओं में से करीब 20 प्रतिशत नमूना बेतरतीब ढंग से निकाला जाता है। प्रत्येक प्रश्न का अपेक्षित उत्तर तय करने के बाद परीक्षक इस नमूने का अध्ययन करते हैं और दिए गए उत्तरों को उत्तम से घटिया तक विभिन्न श्रेणियों में बांटते हैं। प्रत्येक प्रश्न में इन श्रेणियों के वितरण को नोट किया जाता है और इसके आधार पर निम्नलिखित दिशानिर्देशों के अनुसार उनके पूर्व निर्धारित अंकों में परिवर्तन किए जाते हैं:

- 1) नमूना उत्तर पुस्तिकाओं में श्रेणी का वितरण कैसा भी हो, मूल तत्व वाले प्रश्नों के अंकों में या तो कोई परिवर्तन नहीं किया जाता या मामूली परिवर्तन किया जाता है। हां, यदि कोई खराब ढंग से बना प्रश्न सामने आ जाए, तो बात अलग है।
- 2) शेष प्रश्नों में ऐसे प्रश्नों का वज़न (वेटेज) कम कर दिया जाता है जिन्हें अधिकांश बच्चों ने बहुत बढ़िया या बहुत खराब किया हो और इनका वेटेज उन प्रश्नों को दे दिया जाता है जिनमें उत्तर उत्तम से घटिया की विभिन्न श्रेणियों में सुवितरित हों।

ऐसा करने के पीछे तर्क इस प्रकार है। यदि छात्रों के मूल्यांकन का हमारा उद्देश्य दोहरा है कि:
 क) हम उत्कृष्ट, अच्छे, साधारण व कमज़ोर छात्रों के बीच विभेद करना चाहते हैं और
 ख) यह भी सुनिश्चित करना चाहते हैं कि अगली कक्षा में जाने से पहले सारे छात्र कुछ न्यूनतम सीख चुके हों, तो उपरोक्त बिंदु क्रमांक 1 दूसरी बात (न्यूनतम सीखने) को सुनिश्चित करता है जबकि पहली बात (विभेद) को सुनिश्चित करने के लिए ज़रूरी है कि उन प्रश्नों को अधिक वेटेज दिया जाए जिनमें छात्रों के उत्तरों में सबसे अधिक विविधता दिखे। यानी ऐसे प्रश्न उन प्रश्नों से बेहतर हो जाते हैं जिनके उत्तर सारे छात्र बढ़िया या घटिया देते हैं अर्थात् इन प्रश्नों में विभेदन क्षमता कम है।

(अंकों का यह पुनर्निर्धारण एक संख्यिकीय प्रक्रिया है और हो.वि.शि.का. की परीक्षा को लेकर तमाम संदेहों का सबब बनी है।)

इस प्रक्रिया का एक लाभ और भी है। इससे वे प्रश्न पहचाने जा सकते हैं जो अस्पष्ट या कभी-कभी गलत बने होते हैं (हमारा अनुभव दर्शाता है कि हर प्रश्न पत्र में ऐसे 1-2 प्रश्न होते हैं)। यदि बेतरतीब नमूने के उत्तरों के आधार पर परीक्षक आश्वस्त हैं कि कोई प्रश्न विशेष रूप से खराब है या अस्पष्ट ढंग से लिखा गया है और इसके कारण उस प्रश्न में छात्रों का प्रदर्शन प्रभावित हुआ है तो उस प्रश्न का वेटेज काफी कम किया जा सकता है या असाधारण परिस्थिति में उसे हटाया भी जा सकता है। मात्र इसी तरह की परिस्थिति में मूल तत्व वाले प्रश्नों के पूर्व निर्धारित अंकों में भारी उलटफेर किया जाता है।

इस प्रकार प्रश्नों के अंक अंतिम रूप से निर्धारित करने के बाद सारी उत्तर पुस्तिकाओं की जांच की जाती है। इसमें नमूने के तौर पर ली गई उत्तर पुस्तिकाएं भी शामिल होती हैं। मूल्यांकन करते समय एक परीक्षक सारी उत्तर पुस्तिकाओं के एक प्रश्न की ही जांच करता है, पूरे प्रश्न पत्र के सारे प्रश्नों की नहीं।

(एक प्रश्न को एक ही परीक्षक द्वारा जांचे जाने के पीछे एक रुपता की बात है मगर ज़िला स्तर पर इस व्यवस्था का पालन करना संभव नहीं रहा था।)

परमांक: चूंकि प्रश्न पत्र में कई प्रश्न खुले उत्तर वाले (open-ended) होते हैं, इसलिए अक्सर उनके एक से अधिक सही उत्तर होते हैं। अपने अनुभव और कक्षा 6, 7 व 8 के छात्रों की सामान्य क्षमताओं के मद्दे नज़र परीक्षक आम तौर पर तय कर लेते हैं कि किसी प्रश्न विशेष के किस तरह के उत्तर पर पूरे अंक दिए जाएंगे। यदि असाधारण परिस्थिति में कोई छात्र परीक्षकों की सर्वोत्तम अपेक्षा से भी बेहतर उत्तर देता है या अपेक्षित स्तर से अधिक हुनर अथवा कल्पनाशीलता दर्शाता है तो उसे प्रश्न के पूर्णांक के अतिरिक्त परमांक (supermarks) दिए जाते हैं। हमारे पांच साल के अनुभव के दौरान एक मौका ऐसा भी आया है कि इस प्रावधान की वजह से एक छात्र को अधिकतम संभव अंकों से भी ज़्यादा अंक मिले; उसे वास्तव में 100 में से 104 अंक मिले थे। यह एक असाधारण बात होगी कि कोई छात्र सारे प्रश्नों में असाधारण क्षमता का प्रदर्शन करे क्योंकि विभिन्न प्रश्नों में विविध क्षमताओं और कुशलताओं की जांच होती है। वैसे भी इस प्रावधान का उपयोग असाधारण परिस्थितियों में किया जाना चाहिए और वह भी उच्चतर अवधारणात्मक व कौशल से सम्बंधित प्रश्नों के संदर्भ में।

प्रायोगिक परीक्षा: लिखित परीक्षा के विपरीत, प्रायोगिक परीक्षा सीमित अवधि की होती है। असीमित अवधि की परीक्षा के लिए बड़ी संख्या में प्रशिक्षित व्यक्तियों और प्रयोगशाला सुविधाओं की ज़रूरत होगी। अतः इस परीक्षा में आम तौर पर चार अलग-अलग प्रयोग या गतिविधियां होती हैं जिन्हें हर विद्यार्थी को एक निश्चित समयावधि (लगभग 15 मिनट प्रति प्रयोग) में पूरा करना होता है। प्रयोगों

का चुनाव इस तरह होता है कि वे अवलोकन क्षमता, प्रायोगिक कुशलता, चित्र व तालिका बनाने की क्षमता, अवलोकनों की व्याख्या करने व निष्कर्ष निकालने की क्षमता की जांच करें।

(आगे चलकर प्रायोगिक परीक्षा में पांच प्रयोग दिए जाते थे और इनके लिए स्पष्ट श्रेणियां परिभाषित कर दी गई थीं।)

कक्षा 6 व 7

उपरोक्त प्रक्रिया बाहरी बोर्ड द्वारा मूल्यांकन के लिए है। स्कूल परीक्षा शिक्षक स्वयं मासिक, अर्ध वार्षिक व वार्षिक स्तर पर लेते हैं। इसके लिए उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा वेटेज की गणना की कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि शिक्षक खुद ही विभिन्न अध्यायों का तुलनात्मक महत्व जानते हैं और इस आधार पर पहले से अंक तय कर सकते हैं। एक तथ्य यह भी है कि अंकों के अंतिम निर्धारण के लिए बेतरतीब नमूने की आवश्यकता होती है। स्कूल स्तर पर उत्तर पुस्तिकाओं की संख्या बहुत कम होती है, इसलिए यह प्रक्रिया अनुपयुक्त होगी। मगर यदि कक्षा 6 व 7 की परीक्षा विकास खंड स्तर पर करने की बात होती है तो यह प्रक्रिया उपयोगी होगी।”

सारांश

संक्षेप में, इस परीक्षा प्रणाली के कई तत्व हैं जो पारंपरिक परीक्षा से एकदम अलग हैं:

- ▶ किताब कॉपियां लाने की छूट (खुली किताब परीक्षा)
- ▶ लिखित परीक्षा में असीमित समय
- ▶ प्रायोगिक परीक्षा का प्रावधान (पूर्व माध्यमिक स्कूल स्तर पर)
- ▶ प्रश्न पत्र समूह द्वारा बनाया जाना
- ▶ पाठ्यक्रम से बाहर के प्रश्नों का जानबूझकर समावेश
- ▶ उत्तर पुस्तिकाओं की समीक्षा
- ▶ प्रश्न पत्र में प्रश्नों के अंक इंगित न करना
- ▶ अंकों का पुनर्निर्धारण
- ▶ परीक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम का विभाजन
- ▶ परमांक
- ▶ छात्रों को बातचीत की छूट (कुछ समय तक)

ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद

इनमें से कई व्यवस्थाएं ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद भी जारी रहीं और संभागीय बोर्ड परीक्षा का अभिन्न अंग बन गई। नई परीक्षा व्यवस्था को अंततः एक परीक्षा प्रतिवेदन या मैनुअल के रूप में संभागीय शिक्षा अधीक्षक द्वारा जारी किया गया था। इस मैनुअल की एक विशेषता यह है कि इसमें न सिर्फ परीक्षा सम्बंधी प्रक्रियाओं व ढांचों की जानकारी दी गई है बल्कि उनके तर्क भी स्पष्ट किए गए हैं ताकि इन प्रक्रियाओं को परिपाठी मानकर दोहराते रहने की बजाय समझकर अपनाया जाए और ज़रूरत पड़ने पर परिवर्तन किए जा सकें।

परमांक की व्यवस्था और लिखित परीक्षा में असीमित समय व आपसी बातचीत को छोड़कर शेष समस्त प्रावधानों को संभागीय पूर्व माध्यमिक परीक्षा मंडल द्वारा ली जाने वाली परीक्षा में भी बरकरार रखा गया।

वैसे प्रश्न पत्र निर्माताओं के लिए यह निर्देश था कि “लिखित परीक्षा के लिए निर्धारित समय ढाई घंटे का है। चूंकि हम चाहते हैं कि सभी परीक्षार्थी अपने उत्तर आराम से सोच समझकर और बिना किसी घबराहट के दें, इसलिए प्रश्न पत्र ऐसा बनाया जाए कि एक औसत परीक्षार्थी इसे लगभग दो घंटे में पूरा कर सके।”

व्यवस्था यह थी कि लिखित व प्रायोगिक परीक्षा क्रमशः 60 व 40 अंकों की होंगी। उत्तीर्ण होने के लिए छात्र को दोनों में अलग-अलग 25 प्रतिशत अंक प्राप्त करना होते थे तथा दोनों में मिलाकर 33 प्रतिशत।

लिखित परीक्षा: प्रश्न पत्र का सामूहिक निर्माण

सामूहिक रूप से प्रश्न पत्र निर्माण को ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद भी स्वीकार किया गया था। सोलह स्कूलों के दौर में तो प्रश्न पत्र निर्माण का काम स्रोत दल द्वारा ही किया जाता था और इसमें काफी बड़े समूह की भागीदारी होती थी। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद यह काम शिक्षकों के समूहों द्वारा किया जाना तय हुआ। हो.वि.शि.का. परीक्षा प्रतिवेदन में इसे काफी स्पष्ट रूप से कहा गया है:

“यथासंभव इस बात की व्यवस्था की जाए कि प्रश्नों या प्रश्न पत्रों के निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षकों के बीच सामूहिक चर्चा का प्रावधान रहे। यह एक स्थापित अनुभव है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह उस विषय विशेष का कितना ही बड़ा विशेषज्ञ क्यों न हो अपने समकक्षों से सामूहिक चर्चा के बाद अपनी सामान्य क्षमता से भी बेहतर प्रश्न या अधिक संतुलित प्रश्न पत्र बना पाएगा। अतः एक लिखित अथवा प्रायोगिक प्रश्न पत्र बनवाने के लिए कम से कम तीन (संभव हो तो चार) शिक्षकों को सामूहिक जिम्मेदारी दी जाए।”

इस प्रक्रिया को लेकर गोपनीयता सम्बंधी सवाल यदा-कदा उठे हैं मगर कुल मिलाकर शिक्षकों ने इसे एक सकारात्मक कदम मानकर उत्साह से इसमें हिस्सा लिया है। प्रश्नों व प्रश्न पत्र की गुणवत्ता पर भी इसका अच्छा असर हुआ।

खुली किताब

परीक्षा में बाल वैज्ञानिक पुस्तक और स्वयं की नोट बुक लाने की अनुमति भी जारी रही। यह बात तो साफ थी कि हो.वि.शि.का. में बच्चों से यह अपेक्षा तो कदापि नहीं थी कि वे बाल वैज्ञानिक को याद कर लें। इसलिए परीक्षार्थियों को परीक्षा भवन में पुस्तकें और अपनी अभ्यास पुस्तिकाएं ले जाने की छूट दी गई ताकि यह अपेक्षा न रहे कि विद्यार्थियों को सब जानकारी, तथ्य, परिभाषाएं या प्रयोग विधियां रटकर परीक्षा देने आना है। इसके साथ यह भी कोशिश होती थी कि यदि किसी प्रश्न को हल करने में किसी जानकारी की ज़रूरत पड़ेगी तो वह जानकारी प्रश्न के साथ ही दे दी जाए।

एक ओर इन बातों से रटने की प्रवृत्ति पर रोक लगती है, वहीं दूसरी ओर ये परीक्षा का तनाव भी काफी हद तक कम कर देती हैं। साथ ही यह प्रश्न पत्र बनाने वालों के लिए अच्छी खासी चुनौती उपस्थित कर देती है।

वैसे खुली किताब परीक्षा को लेकर कई सवाल रहे, खासकर पालकों की ओर से। एक तो यह कहा जाता था कि परीक्षा में किताब लाने की छूट देने से बच्चों में नकल की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसके पीछे समझ यह झलकती है कि पुस्तक का (खासकर पाठ्य पुस्तक का) एकमात्र उपयोग नकल करने के लिए किया जा सकता है। परीक्षा को लेकर यह समझ हावी है कि मुख्य जांच तो स्मरण शक्ति की होनी चाहिए और बच्चों को मात्र अपनी याददाशत के आधार पर ही जवाब देने चाहिए। यदि किताब सामने है, तो परीक्षा किस बात की हो रही है! इस सम्बंध में यह स्पष्टीकरण पालकों को और भी ब्रह्मित कर देता था कि हो.वि.शि.का. की परीक्षा में किताब में से सवाल नहीं पूछे जाएंगे (इसलिए किताब से उस तरह की मदद नहीं मिलेगी)। इस स्पष्टीकरण पर सवाल होता था कि जब उत्तर किताब में नहीं मिलेंगे तो फिर ऐसी किताब साथ रखने का क्या फायदा। यानी किताब वही जिसमें सारे उत्तर हों। किताब को रेफर किया जा

सकता है, उत्तर ढूँढने में वह मदद कर सकती है, जैसी बातें मानस का अंग ही नहीं है।

खुली किताब परीक्षा को लेकर एक और तरह के सवाल भी थे जिनका सम्बंध भी पाठ्य पुस्तक की उपरोक्त छवि से है। शिक्षक प्रायः यह कहते थे कि किताब साथ होने से बच्चे काफी समय तक उसे उलट-पलटकर जवाब ढूँढने की कोशिश करते रहते हैं और समय गंवाते हैं। बात वही है कि बच्चे भी यही समझते हैं कि किताब का यही तो उपयोग है कि उसमें परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्नों के उत्तर मिलने चाहिए। यहां यह बात उठाना ज़रूरी है कि संभवतः शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों के साथ भी किताबों के उपयोग को लेकर कोई काम नहीं किया गया। इसलिए उनके सामने भी कोई स्पष्ट चिन्ता नहीं था कि परीक्षा में (या वैसे भी) किताब का (रट्टा मारने के अलावा) क्या उपयोग है।

खुली किताब परीक्षा होने के कारण एक बात और भी होती थी। आम तौर पर ‘परीक्षा की तैयारी’ करने का मतलब समझा जाता है कि पाठ्य पुस्तक या कम से कम उसमें दिए गए प्रश्नों के उत्तरों को एक बार फिर याद किया जाए (इसे रिवीज़न करना कहते हैं)। जब परीक्षा में किताब खोलकर देखने की छूट है तो परीक्षा की तैयारी क्या करें? जहां पालकों को यह बात ठीक नहीं लगती थी वहीं बच्चों को यह बात बहुत अच्छी लगती थी। वैसे भी इस तरह की बात उठने का मतलब ही यह है कि इस खुली किताब परीक्षा ने परीक्षा के मायने ही बदल दिए थे और परीक्षा-पूर्व के तनाव को काफी कम करने में योगदान दिया था। बच्चों ने इस बात को कई बार अभिव्यक्त किया है। कार्यक्रम बंद होने के बाद किए गए पायलट अध्ययन में भी बच्चों ने इस बात का ज़िक्र किया था। बच्चों को प्रायोगिक परीक्षा की याद तो एक उत्सव के रूप में ज़्यादा थी।

प्रायोगिक परीक्षा

प्रायोगिक परीक्षा को भी यथावत रखा गया था हालांकि आंतरिक मूल्यांकन समाप्त कर दिया गया था। वैसे अन्य विषयों के समान आंतरिक मूल्यांकन (कथित सतत मूल्यांकन) की प्रथा तो जारी रही मगर वार्षिक परीक्षा फल की दृष्टि से इसका महत्व खत्म हो गया। नई व्यवस्था में लिखित परीक्षा 60 अंकों की और प्रायोगिक परीक्षा 40 अंकों की होती थी।

लिखित व प्रायोगिक परीक्षा में छात्रों की अलग-अलग कुशलताओं की जांच होती है। जहां लिखित परीक्षा में ज़्यादा ज़ोर अवधारणाओं की समझ पर होता है वहीं प्रायोगिक परीक्षा प्रयोग करने, अवलोकन लेने व प्रयोगों की व्याख्या करने की कुशलता की जांच करती है।

ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद शुरू में व्यवस्था यह थी कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए दो परीक्षकों की टोली प्रत्येक स्कूल में जाएगी और ये दोनों परीक्षक मिलकर प्रश्न पत्र तैयार करेंगे और परीक्षा के तुरन्त बाद मौके पर ही उत्तर पुस्तिकाओं की जांच का काम कर लेंगे। प्रत्येक छात्र को पांच प्रयोग करने होते थे जिनमें से प्रत्येक के लिए 7 अंक निर्धारित किए जाते थे। शेष 5 अंक मौखिक परीक्षा के लिए थे।

लेकिन इस तरह परीक्षा करने को लेकर कुछ व्यावहारिक व कुछ मानवीय परेशानियां थीं। एक तो समस्या यह थी कि सारे परीक्षक स्वयं बहुत अच्छे प्रयोग नहीं सोच पाते थे जिनकी मदद से बच्चों का उचित मूल्यांकन हो सके। इस व्यवस्था के कारण अलग-अलग स्कूलों में होने वाली प्रायोगिक परीक्षा में एकरूपता भी नहीं रहती थी। एक मानवीय दिक्कत यह थी कि स्कूल में ही बैठकर मूल्यांकन करने से परीक्षक वस्तुनिष्ठ ढंग से काम नहीं कर पाते थे; सामने बैठे छात्र को फेल कैसे करें? दूसरी मानवीय दिक्कत यह थी कि स्कूल में स्थानीय शिक्षक का दबाव भी बहुत अधिक होता था। इसने कारण से प्रायोगिक परीक्षा की वस्तुनिष्ठता पर खुद शिक्षक भी सवाल उठाने लगे थे।

15 दिसंबर 1982 को संभागीय शिक्षा अधीक्षक को लिखे एक पत्र में एकलव्य के अरविंद गुप्ते ने सूचित किया था कि “संभागीय पूर्व माध्यमिक परीक्षा 1982 में होशंगाबाद ज़िले के लगभग 9000 परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। ...जहां लिखित खंड में लगभग 2400 छात्र अनुत्तीर्ण हुए वहीं प्रायोगिक खंड

में केवल 19 नियमित छात्र ही अनुत्तीर्ण हुए। स्वाध्यायी छात्रों में से लिखित खंड में 148 और प्रायोगिक खंड में 20 छात्र अनुत्तीर्ण हुए।”

निष्कर्ष था कि “प्रायोगिक परीक्षा में उचित मापदंडों के अनुसार मूल्यांकन नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप यह खंड लगभग निरर्थक हो गया। यह निर्विवाद है कि प्रायोगिक परीक्षा में की गई इस शिथिलता का विपरीत प्रभाव शैक्षणिक स्तर पर पड़ेगा।” इस पत्र में समस्या के मानवीय व शैक्षणिक कारणों की पड़ताल करके कुछ सुझाव भी दिए गए थे। प्रमुख रूप से प्रायोगिक परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं की जांच संगम केंद्र स्तर पर करवाने और शिक्षकों को प्रायोगिक परीक्षा सम्बंधी प्रशिक्षण देने के सुझाव दिए गए थे।

जब प्रायोगिक परीक्षा के संचालन में समस्याएं आई तो अपने चरित्र के अनुरूप ही हो. वि.शि.का. समूह ने शिक्षकों से सलाह मशवरे का सिलसिला शुरू किया। जनवरी 1983 में मासिक गोष्ठियों के दौरान शिक्षकों से इस पर विचार विमर्श किया गया और उनके सुझाव मांगे गए। शिक्षकों ने जो सुझाव दिए थे उनमें इतनी ज्यादा विविधता थी कि कभी-कभी तो वे एकदम विपरीत बातें कहते थे। जैसे एक सुझाव यह था कि प्रायोगिक परीक्षा पूरी तरह शिक्षक पर छोड़ दी जानी चाहिए, तो इससे उल्टा सुझाव यह था कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए परीक्षक जितनी दूर से आएं उतना अच्छा। जहां कुछ शिक्षकों का मत था कि परीक्षकों को स्कूल के शिक्षक से सलाह करके प्रयोग तय करना चाहिए वहीं कुछ शिक्षकों को लगता था कि प्रायोगिक परीक्षा का प्रश्न पत्र भी ज़िला स्तर पर तैयार किया जाना चाहिए। कुछ शिक्षकों का सुझाव था कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए प्रयोगों की सूची बना दी जाए (जैसी कि कॉलेज स्तर पर होती है) और परीक्षक इन्हीं में से प्रयोग परीक्षा में दें। जहां कुछ शिक्षकों की राय थी कि प्रायोगिक परीक्षा की उत्तर पुस्तिका की जांच शिक्षक की उपस्थिति में ही होनी चाहिए, वहीं अन्य शिक्षकों का मत था कि मूल्यांकन का काम तो बाद में संगम केंद्र स्तर पर करना ही ठीक होगा। अधिकांश शिक्षक यह मानते थे कि प्रायोगिक परीक्षा लिखित से भिन्न प्रकृति की है और इसमें बच्चों के प्रदर्शन का पूरा रिकॉर्ड रखा जाना संभव नहीं है; इसका मूल्यांकन मौके पर ही करना होगा। अलबत्ता, इस बात से सारे शिक्षक सहमत थे कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए प्रश्न बनाने के काम में ढिलाई हो रही है और इस वजह से परीक्षा का स्तर गिरा है।

सार रूप में देखें तो शिक्षकों के सुझाव दो किस्म के थे। एक थे जिनमें प्रायोगिक परीक्षा को ज्यादा कारगर बनाने के लिए अधिक विकेंद्रीकरण की बात कही गई थी ताकि स्कूल की परिस्थिति का ध्यान रखा जा सके और बच्चों की प्रायोगिक कुशलता का सही आकलन हो सके। दूसरे किस्म के सुझाव परीक्षा के स्तर व एकरूपता की चिंता से प्रेरित थे। दरअसल दोनों ही ज़रूरी हैं। कभी-कभी ऐसा होता था कि परीक्षक जो प्रयोग करवाना चाहते थे वह अध्याय अभी स्कूल में हुआ ही नहीं है या उसके लिए ज़रूरी सामग्री स्कूल में उपलब्ध नहीं है। कई बार परीक्षक बहुत सरल या बहुत कठिन प्रयोग करने को रख देते। तो सवाल यह था कि परीक्षा के स्तर से समझौता किए बगैर उसे किस तरह स्कूलों की परिस्थिति के प्रति संवेदी बनाया जाए।

इस दोहरी ज़रूरत के मद्दे नज़र 1983 से प्रायोगिक परीक्षा की व्यवस्था में थोड़ा बदलाव किया गया। नई व्यवस्था के तहत प्रायोगिक परीक्षा के प्रश्न पत्र संगम केंद्र पर शिक्षकों के एक दल द्वारा बनाए जाते थे। किया यह जाता था कि किसी दिन संगम केंद्र पर शिक्षकों की एक गोष्ठी की जाती थी जहां शिक्षक दो-दो, तीन-तीन की टोलियों में काम करके प्रायोगिक परीक्षा के लिए कई सारे प्रश्न बना देते थे। इन प्रश्नों में से संगम केंद्र प्रभारी अलग-अलग स्कूलों के लिए पांच-पांच प्रश्नों के सेट बनाकर लिफाफों में बंद कर देते थे और सम्बंधित परीक्षकों को ये प्रश्न पत्र मिल जाते थे। उनका काम इतना ही था कि सम्बंधित स्कूल में जाकर प्रश्न पत्र खोलें और परीक्षा का संचालन करें। अलबत्ता, उन्हें परिस्थिति की मांग होने पर एक प्रश्न बदलने की अनुमति थी।

प्रायोगिक परीक्षा में एक दिक्कत यह भी आती थी कि कई बार स्कूल पहुंचकर परीक्षक को पता चलता

था कि किसी प्रयोग से सम्बंधित किट सामग्री स्कूल में उपलब्ध नहीं है। इस समस्या से निपटने के लिए तरीका यह अपनाया गया था कि जितने प्रश्न बनते थे उनके आधार पर एक किट सूची तैयार की जाती थी और संगम केंद्र से सम्बद्ध समस्त स्कूलों को पहले ही भेज दी जाती थी ताकि वे इसका इन्तजाम कर सकें। वैसे एक डर यह व्यक्त किया गया था कि इस सूची को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि परीक्षा में कौन-से प्रयोग दिए जाने वाले हैं, हालांकि कई वर्षों के अनुभव से यह डर बेबुनियाद साबित हुआ है।

बच्चों की उत्तर पुस्तिकाओं की जांच बाद में संगम केंद्र के स्तर पर की जाती थी। मौखिक मूल्यांकन समाप्त कर दिया गया था और उसकी जगह किसी एक प्रश्न पर 5 अंतिरिक्त अंक रखे जाते थे। ये 5 अंक प्रयोग करने में छात्र की कुशलता, साफ-सुधरेपन आदि के लिए रखे गए थे और इनका निर्णय परीक्षक मौके पर ही करके उत्तर पुस्तिका पर अंकित कर देते थे।

जाहिर है कि इस नई व्यवस्था ने प्रायोगिक परीक्षा की प्रकृति पर असर डाला था। सबसे प्रमुख असर यह हुआ था कि अब प्रश्न पत्र बनाते समय ध्यान रखना होता था कि प्रयोग ऐसे हों जिनके किए जाने का कोई प्रमाण उत्तर पुस्तिका में नहीं किया जा सके या किसी अन्य तरह से पता चल सके कि बच्चे ने प्रयोग किया है।

उपरोक्त विचार-विमर्श के दौरान कई शिक्षकों ने एक चिंता यह भी जाहिर की थी कि प्रायोगिक परीक्षा में बच्चों की विभिन्न कुशलताओं की जांच होनी चाहिए। इस चिंता को संबोधित करते हुए प्रायोगिक परीक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम के 6 भाग किए गए थे:

1. **मापन** - दूरी, क्षेत्रफल व आयतन नापना, वज्जन तोलना, तापक्रम मापना, इकाई, अल्पतम माप, सन्त्रिकटन, घट-बढ़, मापन में त्रुटियां व सावधानियां इत्यादि।
2. **पर्यावरण के प्रति सजगता** - पौधों के विभिन्न अंग और उनमें विविधता, फसलें और उनके रोग, कीड़े और अन्य जीव जन्तुओं का सामान्य ज्ञान, जीव जगत में विविधता, भिट्टी इत्यादि।
3. **रसायन** - पृथक्करण, अम्ल, क्षार, लवण व उदासीनीकरण, गैसें, रासायनिक कुशलताएं इत्यादि।
4. **वैज्ञानिक प्रक्रियाएं** - अवलोकन करना, सार्थक प्रश्न पूछना, रेखावित्र बनाना, समूह बनाना, नक्शा बनाना इत्यादि।
5. **सामान्य अवधारणाएं** - विद्युत का चुम्बकीय प्रभाव, आयतन, प्रजनन, ऊष्मा, प्रकाश, शरीर की आंतरिक रचना, संयोग व संभाविता, चीजों का तैरना इत्यादि।
6. **विशेष** - स्थानीय लोतों से उपकरण बनाना, दिए हुए निर्देशों से प्रयोग करना।

प्रावधान यह था कि उपरोक्त प्रथम तीन खण्डों (1, 2, 3) में से एक-एक प्रश्न अवश्य दिया जाएगा। शेष तीनों खण्डों (4, 5, 6) में से किन्हीं दो खण्डों से एक-एक प्रश्न दिया जाएगा। चूंकि परीक्षक को एक प्रश्न मौके पर बदलने की अनुमति थी, इसलिए अपेक्षा यह थी कि वे उसी खंड से सम्बंधित तथा प्रयोग करने को देंगे।

लिखित परीक्षा

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है लिखित परीक्षा के दौरान बच्चों को अपनी बाल वैज्ञानिक पुस्तक (तीनों कक्षाओं की) और नौट बुक साथ रखने की अनुमति है। लिखित परीक्षा के लिए प्रश्न पत्र तीन-चार शिक्षक मिलकर बनाते थे और ऐसे 5 या 6 प्रश्न पत्र तैयार होते थे। शायद यह भी पहली बार था कि प्रश्न पत्र वही शिक्षक बनाते थे जो उन कक्षाओं को पढ़ा रहे हैं।

लिखित परीक्षा का प्रश्न पत्र बनाने के लिए विस्तृत दिशा निर्देश विकसित किए गए थे और एक परीक्षा मैनुअल के रूप में प्रसारित किए गए थे।

परीक्षा की दृष्टि से उपरोक्त चीजों के अलावा एक बात तो यह कही गई थी कि हो.वि.शि.का. की आठवीं बोर्ड की परीक्षा में कक्षा 6 व 7 की विषयवस्तु से सम्बंधित सवाल भी पूछे जा सकते हैं। इस बात को लेकर शिक्षक व पालक काफी परेशान रहते थे। शायद मान्यता यह है कि एक बार जिन चीजों की परीक्षा हो गई उनकी फिर से परीक्षा नहीं की जानी चाहिए (क्योंकि परीक्षा के बाद आपको सब कुछ भूल जाने का हक है)। लोगों को यह भी लगता था कि तीनों सालों की विषयवस्तु के कक्षा 8 की परीक्षा में शामिल करने से बच्चों पर बहुत बोझ पड़ेगा। इस मामले में मेनुअल में स्पष्टीकरण देते हुए यह कहा गया था:

“इस भय का कोई आधार नहीं है (क्योंकि) परीक्षा में जांच उन गुणों की होगी जो किसी भी प्रयोग या परिभ्रमण को सही ढंग से करते हुए स्वतः विकसित हो जाते हैं और अभ्यास हो जाने पर मानस का अंग बन जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी विद्यार्थी को बारीक अवलोकन करना सिखा दिया गया है तो इस कौशल का उपयोग वह विद्यार्थी किसी भी परिस्थिति में कर सकता है, चाहे वह परिस्थिति पाठ्यक्रम के बाहर की ही क्यों न हो। यदि किसी प्रश्न में अवलोकन क्षमता की जांच की जा रही है तो इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किस कक्षा के पाठ्यक्रम का उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार यदि विद्यार्थियों को ग्राफ बनाना आ गया है तो उनको कोई कठिनाई नहीं आनी चाहिए, चाहे प्रश्न में ग्राफ बनाने के लिए आंकड़े छठी या सातवीं कक्षा के पाठ्यक्रम से या पाठ्यक्रम के बाहर से ही क्यों न लिए गए हों। कक्षा आठ की वार्षिक परीक्षा में छठी और सातवीं कक्षाओं के पाठ्यक्रम की कुछ मूलभूत अवधारणाओं पर भी प्रश्न दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि विद्यार्थी ने समान गुणधर्म के आधार पर वस्तुओं के समूह बनाना सीख लिया है तो कोई भी वस्तु देकर समूह बनाने की अवधारणा को परखा जा सकता है। वैसे तो समूह बनाना, दूरी नापना, घट-बढ़, अल्पतम नाप इत्यादि कुछ ऐसी अवधारणाएं हैं जिनका प्रभाव विज्ञान के हर स्तर के पाठ्यक्रम और समस्त वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर पड़ता है और इनको समझे बिना कोई भी विद्यार्थी विज्ञान सीख लेने का दावा नहीं कर सकता। अतः नियम यह है कि कक्षा आठ की वार्षिक परीक्षा में छठी और सातवीं कक्षाओं के केवल मूल तत्वों से जुड़ी हुई विषय वस्तुओं पर प्रश्न पूछे जा सकते हैं, हरेक विषय वस्तु पर नहीं।”

मूल तत्व

विज्ञान की कुछ अवधारणाएं ऐसी हैं जिनका सम्बंध केवल एक विशेष विषय वस्तु से ही नहीं, वरन् व्यापक रूप में अनेक विषय वस्तुओं से होता है। ऐसी अवधारणाओं को मूलभूत माना जा सकता है। ऐसे मूल तत्वों की एक सूची तैयार की गई थी, वही यहां दी गई है:

वैज्ञानिक कौशल

सामान्य

- (क) बारीक और सही अवलोकन करना
- (ख) सर्वेक्षण और संकलन करना
- (ग) अवलोकन व आंकड़ों को व्यवस्थित करके प्रस्तुत करना - तालिका, स्तम्भालेख, ग्राफ व रेखाचित्र बनाना।
- (घ) आंकड़ों का विश्लेषण
- (च) अलग-अलग प्रयोगों में सम्बंध पहचानना
- (छ) तार्किक विवेचन द्वारा निष्कर्ष निकालना
- (ज) विवेचन के तार्किक क्रम में स्पष्ट, सटीक व नए प्रश्न पूछना

(झ) सामान्यीकरण एवं अमूर्त चिन्तन

विशेष

(क) सामान्य प्रायोगिक कुशलता - उदाहरण के लिए, परिपथ बनाना, सूक्ष्मदर्शी का उपयोग करना आदि

(ख) रासायनिक प्रयोगों में कुशलता - परखनली में घोल बनाना और उबालना, रसायनों की देखभाल व उपयोग, छानना, निथारना आदि

(ग) दूरी, क्षेत्रफल, आयतन व तापक्रम नापना

(घ) पदार्थों को तोलना

(च) नवशा बनाना

(छ) स्थानीय स्रोतों से उपकरण बनाना

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

(क) जिज्ञासा

(ख) पर्यावरण के प्रति सजगता व उससे सीखने की निरन्तर प्रवृत्ति

(ग) खोज की प्रवृत्ति

(घ) प्रयोग में तुलना के प्रावधान के महत्व की समझ

(च) तथ्यों की जानकारी को स्वीकार करने से पहले उनकी प्रामाणिकता की मांग करना

(छ) एक प्रश्न के एक से अधिक वैकल्पिक उत्तरों की संभावना को स्वीकारने की तैयारी

(ज) मापन में घट-बढ़ की संभावना की समझ

(झ) मतभेद, आलोचना और प्रश्नों के प्रति सकारात्मक रुख

अवधारणाएँ

(क) समूह और उपसमूह

(ख) वर्गीकरण

(ग) मापन - इकाई, इकाइयों की अभिव्यक्ति में दशमलव का उपयोग, अल्पतम माप, मापन में त्रुटियां, घट-बढ़, सन्त्रिकटन, औसत और बहुसम्मत मान

(घ) निर्देशांक

(च) क्षेत्रफल, आयतन व भार

(छ) पृथक्करण

(ज) अम्ल, क्षार, लवण एवं उदासीनीकरण

(झ) विभिन्न पदार्थों को रासायनिक परीक्षण द्वारा पहचानना

(ट) जीव-जगत में विविधता के महत्व को समझते हुए जीव विज्ञान के सिद्धांतों को विकसित करना।

(ठ) संयोग और संभाविता।

गौरतलब है कि प्रश्न पत्र बनाने वाले लोगों को इस बात के प्रति विशेष रूप से सतर्क किया गया था कि यद्यपि अंतिम दो अवधारणाएं (जीव-जगत में विविधता तथा संयोग और संभाविता) आधुनिक विज्ञान की मूलभूत अवधारणाओं में से हैं मगर इनकी व्यापकता, गहराई व मिडिल स्कूल पाठ्यक्रम के सन्दर्भ में नवीनता को ध्यान में रखते हुए यह अपेक्षा नहीं है कि विद्यार्थी इन अवधारणाओं को पूर्ण रूप से आत्मसात कर लें। अपेक्षा केवल इतनी है कि इन मूलभूत अवधारणाओं को समझने व उनका उपयोग करने की शुरुआत हो जाए।

प्रश्नों की प्रकृति

इस बात पर विशेष ज़ोर था कि कोई भी प्रश्न विद्यार्थी से रटी हुई जानकारी मात्र उगलवाने वाला न हो। इसलिए प्रश्न बनाने वालों को निर्देश था कि सीधी-सीधी परिभाषा, तथ्य या विवरण पूछने वाले सवाल इस प्रश्न पत्र में न रखे जाएं। परीक्षा के दौरान विद्यार्थियों के पास उनकी पुस्तकें और नोट बुक दोनों ही होती थीं। अतः प्रश्न ऐसे भी न हों जिनके उत्तर सीधे पुस्तक या अभ्यास कॉपी में से उतार कर दिए जा सकें।

प्रश्न पत्र निर्माताओं से यह भी अपेक्षा थी कि वे प्रश्न बनाते समय तीनों कक्षाओं के पाठ्यक्रम में आपसी सम्बंध और तारतम्य का ध्यान रखें।

यह भी आग्रह था कि कुछ प्रश्न ऐसे भी हों जिनकी विषय वस्तु तो पाठ्यक्रम का अंग नहीं है, परन्तु वे प्रश्न किसी महत्वपूर्ण मूल तत्व का परीक्षण करते हैं। मगर यह ध्यान रखना होता था कि ऐसे प्रश्नों की विषय वस्तु एक सामान्य विद्यार्थी की सूझ-बूझ व अनुभव के दायरे की हो।

छात्रों की सृजनात्मकता व विशेष प्रतिभा जैसे गुणों को परखने के लिए ऐसे प्रश्न बनाने का भी आग्रह था जिनके एक से अधिक प्रकार के उत्तर मिलें जो अलग-अलग कारणों से सही माने जा सकें।

‘विज्ञान पाठ्यक्रम के मूल तत्वों में से कुछ को परीक्षार्थियों के उत्तीर्ण होने के लिए न्यूनतम अपेक्षाएं माना गया था। इनमें निम्नलिखित चीजों को शामिल किया गया था:

- (क) समूह और उप समूह बनाना
- (ख) दूरी, क्षेत्रफल, आयतन व भार का मापन, इकाई, इकाइयों की अभिव्यक्ति में दशमलव का उपयोग, अल्पतम माप, मापन में त्रुटियां, घट-बढ़, सन्त्रिकटन, औसत और बहुसम्मत मान
- (ग) निर्देशांक, नक्शा बनाना
- (घ) तालिका, स्तम्भालेख, ग्राफ बनाना, उन्हें समझना और उनसे निष्कर्ष निकालना
- (च) प्रयोग में तुलना का प्रावधान
- (छ) सामान्य व रासायनिक प्रयोगों में कुशलताएं
- (ज) रथानीय स्रोतों से उपकरण बनाने की क्षमता

व्यवस्था यह थी कि प्रश्न पत्र का लगभग एक-तिहाई भाग इन न्यूनतम अपेक्षाओं से सम्बंधित हो। इन प्रश्नों के लिए कुल अंकों का लगभग एक-तिहाई अंक (यानी 20) निर्धारित किया गया था।

न्यूनतम अपेक्षाओं वाले प्रश्नों को किसी और प्रश्न का अंग नहीं बनाया जाता था; इसका कारण बाद में स्पष्ट होगा।

प्रश्न पत्र निर्माण के अनुभव

बच्चों के हाथ में खुली पाठ्य पुस्तक हो, तो प्रश्न बनाना खासा मुश्किल काम है। और ऊपर से शर्त यह कि रटी-रटाई जानकारी नहीं उगलावानी है। परीक्षा में जांच इस बात की करनी है कि विद्यार्थियों में वैज्ञानिक कौशल और दृष्टिकोण किस हद तक विकसित हुआ है और उन्होंने वैज्ञानिक प्रक्रिया से जानकारी प्राप्त करने व तार्किक विवेचन के तरीकों में कितनी कुशलता पा ली है। जांच इस बात की भी करनी है कि विद्यार्थियों को मूलभूत अवधारणाएं कहां तक स्पष्ट हुई हैं और वे अपने पर्यावरण के प्रति कितने सजग हो गए हैं। शुरुआती दौर में यह चुनौती स्रोत दल के सामने थी और ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद शिक्षकों के सामने।

हो.वि.शि.का. प्रतिवेदन में एक अच्छे प्रश्न की प्रकृति समझाने के लिए एक उदाहरण लिया गया है। उसी को यहां प्रस्तुत किया जा सकता है।

“कक्षा छः की पुस्तक में पृथक्करण नाम का एक अध्याय है। इस अध्याय में विद्यार्थियों को पदार्थों के मिश्रण में से पदार्थों को अलग-अलग करने के विभिन्न तरीके सिखाए गए हैं। प्रचलित परीक्षाओं में इस विषय वरन्तु पर आधारित कई प्रकार के प्रश्न पूछे जाते रहे हैं। ऐसे प्रश्नों के कुछ उदाहरणों को देखिए:

1. पृथक्करण की कम से कम तीन विधियों का वर्णन करो।
2. निम्नलिखित शब्दों पर टिप्पणियां लिखो - ऊर्ध्वपातन, क्रोमेटोग्राफी, आसवन
3. कपूर और नौसादर के मिश्रण में से दोनों पदार्थ अलग-अलग कैसे प्राप्त करें?

उपरोक्त तीनों प्रश्नों के उत्तर वही विद्यार्थी दे सकता है जिसके पास पहले से इस विषय की जानकारी संचित हो। इन प्रश्नों में विद्यार्थी के वैज्ञानिक कौशल व दृष्टिकोण या पृथक्करण के सिद्धांतों की समझ को परखने का प्रावधान नहीं है। जिस परीक्षार्थी को कुछ तथ्य याद होंगे (चाहे समझे हों या नहीं) वह इन प्रश्नों में अच्छे अंक प्राप्त कर सकता है। होशंगाबाद विज्ञान की परीक्षा में ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे।

अब पृथक्करण अध्याय पर आधारित एक ऐसा प्रश्न देखिए जो इस कार्यक्रम के उद्देश्यों के अनुरूप है :

नीचे बनी तालिका में चार पदार्थों के बारे में कुछ जानकारी दी गई है :

पदार्थ	पानी में घुलता है?	ऊर्ध्वपातन होता है?
नौसादर	हाँ	हाँ
कपूर	नहीं	नहीं
नमक	हाँ	नहीं
रेत	नहीं	नहीं

(क) कपूर और नौसादर के मिश्रण में से दोनों पदार्थ अलग-अलग कैसे प्राप्त करेंगे?

(ख) कपूर, नौसादर, नमक और रेत के मिश्रण में से चारों पदार्थ अलग-अलग कैसे प्राप्त करेंगे?

इस प्रश्न में विभिन्न पदार्थों की पानी में घुलनशीलता व ऊर्ध्वपातन सम्बंधी गुणों की जानकारी दी गई है। इस जानकारी के आधार पर विद्यार्थी से अपेक्षा की गई है कि वह तार्किक प्रक्रिया के द्वारा स्वयं सोचकर बताए कि मिश्रण में से पदार्थों को कैसे अलग-अलग प्राप्त किया जाए। इस प्रश्न में केवल गौण रूप से पृथक्करण की विधियों की और प्रमुख रूप से तार्किक विवेचन की परीक्षा की

जा रही है। यदि कोई विद्यार्थी पृथक्करण की विधियों को आंशिक रूप से भूल भी गया होगा तो भी यदि उसने ये प्रयोग किए हैं तो केवल तार्किक प्रक्रिया से इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है।”

प्रश्न पत्र निर्माण की प्रक्रिया

करीब 30-40 शिक्षकों की एक गोष्ठी दिसंबर-जनवरी में होती थी। कोशिश की जाती थी कि हर वर्ष कुछ नए शिक्षक इस कार्य में शामिल हों। गोष्ठी में सबसे पहला काम पिछले वर्ष के प्रश्न पत्र की समीक्षा का होता था। हरेक प्रश्न को कार्यक्रम के उद्देश्यों की कसौटी पर परखा जाता था और पूरे प्रश्न पत्र में संतुलन पर भी ध्यान दिया जाता था। इस प्रक्रिया का उद्देश्य यह होता था कि पिछले वर्ष के प्रश्नों व प्रश्न पत्र की खूबियों व कमियों को पहचाना जा सके और इस वर्ष का काम इससे आगे बढ़े। इस प्रक्रिया का एक और मकसद यह था कि पहली बार इस प्रक्रिया में शारीक हुए शिक्षकों को प्रश्नों की प्रकृति तथा परीक्षा के व्यापक उद्देश्यों से एक परिचय प्राप्त हो जाए। कभी-कभी समीक्षा के दौरान इस बात पर भी ध्यान दिया जाता था कि विभिन्न प्रश्नों में बच्चों का प्रदर्शन कैसा रहा था।

गोष्ठी में अगला काम होता था परीक्षा मैनुअल का सामूहिक वाचन व उस पर चर्चा ताकि सभी को परीक्षा के उद्देश्य व तौर-तरीकों का एहसास मिल जाए। इसी दौरान ‘मूल तत्व’ और ‘न्यूनतम अपेक्षाओं’ वगैरह की बातचीत भी हो जाती थी और संतुलित प्रश्न पत्र की आवश्यकताओं को रेखांकित किया जाता था। इस पूरी प्रक्रिया में किशोर भारती/एकलव्य तथा उनके द्वारा आमंत्रित स्रोत व्यक्ति मदद के लिए उपलब्ध होते थे।

इसके बाद शिक्षकों को 4-4, 5-5 की टोलियों में बांट दिया जाता था और उन्हें स्वतंत्र रूप से एक-एक प्रश्न पत्र बनाने को कहा जाता था। दो दिन तक ये टोलियां खूब माथापच्ची करतीं और प्रश्न पत्र को अंतिम रूप दे देती थीं। प्रश्न पत्र के साथ उन्हें मूल्यांकन निर्देश भी बनाने होते थे और प्रत्येक प्रश्न के अंक भी निर्धारित करने होते थे। अलबत्ता, उनके द्वारा निर्धारित अंक प्रश्न पत्र पर अंकित नहीं किए जाते थे। (ये अंक प्रारंभिक हैं, और परीक्षा के बाद इन पर पुनर्विचार होगा तथा एक सांख्यिकीय विधि द्वारा इनका पुनर्निधारण किया जाएगा।) प्रश्न पत्र तथा उसका मूल्यांकन निर्देश अलग-अलग लिफाफों में सीलबंद करके ज़िला शिक्षा अधिकारी को सौंप दिए जाते थे। हरेक टोली का प्रश्न पत्र अलग-अलग रहता था।

इसके बाद ज़िला शिक्षा अधिकारी एक मॉडरेटर को बुलाते थे। मॉडरेटर आम तौर पर उच्च/उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षक/व्याख्याता होते थे जो हो.वि.शि.का. के कार्यकारी/स्रोत दल के सदस्य रहे हैं। मॉडरेटर को उपरोक्त 5-6 प्रश्न पत्र सौंप दिए जाते थे। उनका काम यह था कि वे इनमें से 3 प्रश्न पत्र तैयार करें। वे चाहें तो उपरोक्त प्रश्न पत्रों में से कोई तीन प्रश्न पत्र चुन लें या चाहें तो एकाधिक प्रश्न पत्रों को जोड़कर नए प्रश्न पत्र बना लें। उनका मुख्य काम यह देखना होता था कि प्रश्न पत्र में मूल तत्व, न्यूनतम अपेक्षाओं तथा पाठ्यक्रम के अंधिकांश हिस्सों को शामिल करने के संदर्भ में संतुलन हो। मॉडरेटर द्वारा बनाए गए तीन प्रश्न पत्र और साथ में सम्बन्धित मूल्यांकन निर्देश अलग-अलग लिफाफों में सील करके फिर से ज़िला शिक्षा अधिकारी को सौंप दिए जाते। ज़िला शिक्षा अधिकारी बगैर देखे इनमें से एक प्रश्न पत्र मुख्य परीक्षा के लिए, एक पूरक परीक्षा के लिए निर्धारित कर देता और एक प्रश्न पत्र सुरक्षित रखा जाता ताकि आपात स्थिति में काम आ सके।

इसके बाद तो प्रश्न पत्र छपाई के लिए भेज दिए जाते थे। परीक्षा में गोपनीयता का तकाज़ा है कि परीक्षा शुरू होने से पहले ये प्रश्न पत्र कोई ऐसा व्यक्ति न देखे जो दुरुपयोग कर सके। इसलिए प्रश्न पत्र की प्रूफ रीडिंग बगैरह का काम मुद्रक को ही करना होता है। इस चरण में कभी-कभी महत्वपूर्ण गलतियां भी हुई हैं। जैसे क्षेत्रफल से सम्बन्धित एक प्रश्न में मुद्रक ने दी गई आकृति को छोटा करके छाप दिया था जिसकी वजह से उस प्रश्न के सारे उत्तर बदल गए थे। मगर हो.वि.शि.का. की परीक्षा में ऐसी चीज़ों से निपटने की एक व्यवस्थित प्रक्रिया थी। अब हम उसी प्रक्रिया पर विचार करेंगे।

अंकों का पुनर्निर्धारण

अंकों के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया के दो पहलू हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बच्चों के उत्तरों के आधार पर प्रश्न पत्र की समीक्षा और इस समीक्षा के आधार पर नए मूल्यांकन निर्देश बनाना। दरअसल इस प्रक्रिया का अर्थ यह स्वीकार करने के बराबर है कि कितनी भी कुशलता व सावधानी से प्रश्न व प्रश्न पत्र बनाए जाएं, उनमें खामियां रह सकती हैं, सुधार की गुंजाइश बनी रहती है। इसका यह भी अर्थ है कि बच्चे जिस ढंग से प्रश्नों को हल करते हैं, वह प्रश्न पत्र पर एक टिप्पणी है। यदि इस समीक्षा प्रक्रिया को सतर्कता से किया जाए तो यह पाठ्यक्रम व पद्धति सुधार का एक उम्दा आधार बन सकती है।

प्रश्न पत्र में मोटे तौर पर दो तरह की समस्याएं हो सकती हैं। पहली समस्या का सम्बंध प्रश्न की व्याख्या से है। हो सकता है कि भाषा के कारण, चित्रों के कारण बच्चे प्रश्न को ठीक उसी रूप में न समझें जिस रूप में प्रश्न पत्र निर्माता की अपेक्षा थी या यह भी हो सकता है कि उस प्रश्न के एकाधिक सही उत्तर हों। तब बच्चों के उत्तर अपेक्षित उत्तर से भिन्न हो सकते हैं। सामान्य परीक्षाओं में इन 'भिन्न' उत्तरों को 'गलत' माना जाता है। कभी यह नहीं सोचा जाता कि हो सकता है कि प्रश्न के स्वरूप के आधार पर ये 'भिन्न' उत्तर भी उतने ही तार्किक हों। यदि ऐसा है तो इन्हें भी सही की श्रेणी में शुमार किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था का एक फायदा यह है कि आप खुली प्रकृति वाले या एक से अधिक वैकल्पिक उत्तरों वाले प्रश्न पूछ सकते हैं।

दूसरी समस्या का सम्बंध इस बात से है कि हो सकता है कि प्रश्न निर्माता ने कठिनाई का जो स्तर सोचा था, प्रश्न उससे कहीं ज्यादा या कम कठिन साबित हो। दोनों ही स्थितियों में दिक्कत है। जैसा कि पहले भी कहा गया था स्कूली परीक्षा का लक्ष्य दोहरा होता है - एक तो न्यूनतम निर्धारित पाठ्यक्रम दक्षता की जांच करना और दूसरा बच्चों की क्षमता में सापेक्ष अंतर का अनुमान लगाना। बहुत कठिन या बहुत सरल प्रश्न इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति नहीं करते। इसलिए आपने जो भी अंक निर्धारित किए हों, बच्चों के प्रदर्शन के आधार पर उन्हें समायोजित करना ज़रूरी लगता है।

प्रश्न पत्र बनाते समय हरेक प्रश्न के अंक निर्धारित किए जाते थे मगर इनका उल्लेख प्रश्न पत्र में नहीं होता था। मतलब बच्चों को यह आभास नहीं दिया जाता था कि किस प्रश्न का (अंकों की दृष्टि से) कितना महत्व है। इसके दो कारण थे। पहला कारण तो यह था कि यह जानकारी बच्चों के किसी काम की नहीं है। हालांकि कुछ शिक्षकों को लगता था कि बच्चों को पता होना चाहिए कि कौन-से प्रश्न के कितने अंक हैं क्योंकि इसी के आधार पर वे तय करेंगे कि उसका उत्तर कितना लंबा देना चाहिए। यह मान्यता गलत है क्योंकि प्रश्न को हल करने में कितनी मेहनत लगेगी यह सिर्फ इस बात से तय नहीं होती कि उसका उत्तर कितना लंबा है। इसी से जुड़ा एक कारण यह भी था कि हो.वि.शि.का. की परीक्षा में बच्चों को सभी प्रश्न हल करना होते थे। इसलिए अंततः इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि किस प्रश्न को हल करने से कितने अंक मिलने की उम्मीद की जानी चाहिए। प्रश्न पत्र पर अंकों का उल्लेख न करने का दूसरा कारण यह था कि उत्तर पुस्तिकाओं की समीक्षा के दौरान अंकों के नए सिरे से निर्धारण की संभावना रहती थी, इसलिए शुरू में निर्धारित अंकों का वैसे भी कोई महत्व नहीं रह जाता है।

पुनर्निर्धारण की इस प्रक्रिया का एक संक्षिप्त विवरण देना लाभप्रद होगा।

परीक्षा शुरू होने से पहले ही पूरे ज़िले के रोल नंबर में से करीब 500 रोल नंबर बेतरतीब (रैंडम) ढंग से छांटे जाते थे और सम्बंधित परीक्षा केंद्रों को भेज दिए जाते थे। परीक्षा केंद्र का दायित्व होता था कि वे इन रोल नंबर की उत्तर पुस्तिकाओं को अलग से मुहरबंद लिफाफों में बंद करके ज़िला शिक्षा अधिकारी कार्यालय भिजवा दें। यह संख्या कुल परीक्षार्थी संख्या (लगभग 10,000) का करीब 5 प्रतिशत है।

अंक पुनर्निर्धारण गोष्ठी में इन लिफाफों को खोलकर उत्तर पुस्तिकाओं की जांच पूर्व निर्धारित अंकों के आधार पर की जाती थी। शिक्षकों की एक-एक टोली एक-एक प्रश्न को जांचती थी। उत्तर पुस्तिकाओं

पर अंक नहीं लिखे जाते थे क्योंकि यह तो अस्थायी मूल्यांकन है। अंक एक अलग पर्ची पर लिखे जाते थे।

जांचने वाली टोली को अंक देने के अलावा एक काम और करना होता था। उन्हें यह भी देखना होता था कि सही उत्तर के अलावा बच्चे और क्या-क्या उत्तर दे रहे हैं। बाद में इन 'गलत' उत्तरों की समीक्षा की जाती थी ताकि यह पता लगाया जा सके कि कहीं ये 'गलत' उत्तर उस प्रश्न की भाषा या प्रस्तुतीकरण की किसी वैध अथवा संभव व्याख्या के नतीजे तो नहीं हैं।

इसके अलावा गलत उत्तरों के विश्लेषण से पाठ्यक्रम व पाठ्य पुस्तक तथा शिक्षण विधि पर एक फीडबैक भी प्राप्त हो जाता था। यह परीक्षा को एक नई भूमिका प्रदान करने का प्रयास कहा जा सकता है।

सारे बच्चों की उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन हो जाने के बाद उनके सारे प्रश्नों के प्राप्तांक का योग करके मूल्यांकन पर्यायों को प्राप्तांकों के घटते क्रम में जमा लिया जाता। (यहां एक मान्यता थी कि कुल प्राप्तांक के घटते क्रम में जमाने पर बच्चों को हर कुशलता के लिहाज से उनकी शैक्षिक क्षमताओं के क्रम में जमाना संभव है - यानी यदि किसी बच्चे के कुल अंक कम हैं तो हरेक प्रश्न में उसके अंक कम ही होंगे। ज़ाहिर है इस मान्यता पर सवाल हो सकते हैं।)

इसके बाद की प्रक्रिया सांख्यिकी के कुछ सूत्रों के आधार पर चलती थी। सबसे पहले उत्तर पुस्तिकाओं को तीन बराबर हिस्सों में बांट लिया जाता था। समूह 1 सर्वाधिक प्राप्तांक वाले बच्चों का, समूह 2 सबसे कम प्राप्तांक वाले बच्चों का और समूह 3 मध्यम प्राप्तांक वाले बच्चों का। आगे की प्रक्रिया में समूह 3 को छोड़ दिया जाता था।

अब समूह 1 व समूह 2 के बच्चों के प्रत्येक प्रश्न के प्राप्तांकों की तुलना के आधार पर दो सूचकांकों की गणना की जाती थी - सुगमता सूचकांक और विभेदन सूचकांक।

सुगमता सूचकांक मतलब किसी भी प्रश्न में प्रति छात्र औसत प्राप्तांक प्रति पूर्णांक। सूत्र में लिखें तो

प्रश्न क्र. X में समूह 1 व समूह 2 के बच्चों के कुल प्राप्तांक
प्रश्न क्र. X का सुगमता सूचकांक (F_x) = _____
उस प्रश्न के निर्धारित अंक X समूह 1 व 2 के छात्रों की
कुल संख्या

दूसरे शब्दों में यदि उस प्रश्न के निर्धारित अंक 1 हो, तो प्रति छात्र औसतन कितने अंक मिले हैं। ज़ाहिर है सुगमता सूचकांक 0 और 1 के बीच होगा। यदि उस प्रश्न को कोई भी छात्र हल नहीं कर पाया है तो सुगमता सूचकांक 0 होगा और यदि सारे छात्रों ने हल कर लिया है तो सुगमता सूचकांक 1 होगा। एक मायने में यह सूचकांक हमें प्रश्न को सरलता की कसौटी पर रखने में मदद करता है। जितना अधिक मान होगा, वह प्रश्न उतना सरल है।

दूसरा है, विभेदन सूचकांक।

प्रश्न क्र. X में समूह 1 के छात्रों के अंक - प्रश्न क्र. X
में समूह 2 के छात्रों के अंक

प्रश्न क्र. X का विभेदन सूचकांक (D_x) = _____
उस प्रश्न के निर्धारित अंक X एक समूह के छात्रों की
संख्या

अर्थात् यदि उस प्रश्न के निर्धारित अंक 1 हो, तो दो समूहों के छात्रों के बीच औसतन कितना अंतर

है। यह सूचकांक भी 0 से 1 के बीच होगा। यदि समूह क्रमांक 1 के सारे छात्र उस प्रश्न में पूरे अंक प्राप्त करें और समूह 2 के छात्र 0 अंक प्राप्त करें, तो विभेदन सूचकांक 1 होगा जबकि यदि दोनों समूहों के छात्र बराबर अंक प्राप्त करें, तो विभेदन सूचकांक 0 हो जाएगा। यानी यह सूचकांक बताता है कि उस प्रश्न में बच्चों के बीच भेद करने की क्षमता कितनी है। जितना अधिक सूचकांक का मान होगा, विभेदन क्षमता उतनी अधिक है। (वैसे सिद्धांतः यह सूचकांक ऋणात्मक भी हो सकता है, मगर इतने सालों में ऐसा कभी हुआ नहीं है।)

अब हम चाहते हैं कि

1. प्रश्न न तो बहुत सरल हो, न बहुत कठिन हो और
2. प्रश्न दोनों समूहों के छात्रों के बीच अधिक से अधिक अंतर दर्शा पाए।

इसके लिए सुगमता सूचकांक और विभेदन सूचकांक के बीच एक संतुलन होना चाहिए। इस संतुलन को पाने के लिए एक मिला-जुला सूचकांक निकाला जाता है - इसे गुणवत्ता गुणांक कहते हैं।

$$\text{गुणवत्ता गुणांक } (\alpha_x) = Fx D_x (1-Fx)$$

गुणवत्ता गुणांक यह दर्शाता है कि सुगमता व विभेदन के लिहाज़ से वह प्रश्न किस श्रेणी का है। इस प्रश्न का पुनर्निर्धारण गुणांक निकालने के लिए निम्नलिखित तरीका अपनाया जाता है

$$\text{पुनर्निर्धारण गुणांक } W_x = \alpha_x X \text{ प्रश्न क्र. } X \text{ पर पूर्व निर्धारित अंक}$$

इस तरह से सारे प्रश्नों के वेटेज की गणना की जाती है। इस पूरी प्रक्रिया में न्यूनतम अपेक्षाओं वाले प्रश्नों को शामिल नहीं किया जाता। सारे प्रश्नों का वेटेज निकल आने के बाद निम्नलिखित सूत्र से हरेक प्रश्न के पुनर्निर्धारित अंक की गणना की जाती है:

$$Mx = Wx X Mt / \sum W$$

जहां Mx प्रश्न क्र. के पुनर्निर्धारित अंक हैं, Wx उसका पुनर्निर्धारण गुणांक है, Mt सारे प्रश्नों के पूर्णांक का योग है (जिसमें न्यूनतम अपेक्षाओं वाले प्रश्न शामिल नहीं हैं) और $\sum W$ सारे प्रश्नों के पुनर्निर्धारण गुणांकों का योग है।

यह प्रक्रिया थोड़ी मुश्किल लगती है मगर काफी सारे शिक्षक इसे काफी दक्षतापूर्वक संपन्न कर लेते थे।

इस प्रक्रिया ने हो.वि.शि.का. की परीक्षा पद्धति को लेकर कई संदेहों व गलतफहमियों को जन्म दिया था। कार्यक्रम के आलोचकों का मत था इसमें कठिन प्रश्नों को निरस्त किया जाता है ताकि परीक्षा परिणाम सुधारा जा सके। उनको यह भी लगता था कि कठिन प्रश्न सिर्फ होशियार छात्र हल करते हैं, इसलिए इस प्रक्रिया से उन्हें अवश्य नुकसान होता होगा। कई लोगों को लगता था कि परीक्षा हो जाने के बाद यह सब करना ठीक नहीं है क्योंकि इससे परीक्षा की गंभीरता पर आंच आती है। प्रक्रिया से अनभिज्ञ लोगों को लगता था कि यह सब परीक्षा फल सुधारने के लिए किया जाता है। अलबत्ता जिन शिक्षकों ने इस प्रक्रिया में भाग लिया है उनमें से अधिकांश को यह अत्यंत उपयोगी व पारदर्शी प्रक्रिया लगती थी।

प्रश्नों की स्थिति

यह देखना लाज़मी है कि उपरोक्त सैद्धांतिक ढांचे के तहत परीक्षा में (खासकर लिखित परीक्षा में) पूछे गए वार्तविक प्रश्नों की प्रकृति में क्या नज़र आता है। क्या ये प्रश्न हो.वि.शि.का. के उद्देश्यों को जांचने में सक्षम हो पा रहे थे? क्या प्रश्न बनाने में नवाचार की प्रवृत्ति नज़र आती है?

इस संदर्भ में सबसे पहले तो यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि इस कार्यक्रम में प्रश्न पत्र बनाना एक

कठिन चुनौती थी और पूरे प्रयास को इसके मद्दे नज़र ही देखा जाना चाहिए।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 16 स्कूल स्तर पर परीक्षा का संचालन किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर से जुड़े स्रोत व्यक्ति करते थे। ये स्रोत व्यक्ति प्रायः विश्वविद्यालयों व प्रयोगशालाओं से जुड़े अध्यापक व वैज्ञानिक थे। इनके पास सम्बंधित विषयों का गहरा ज्ञान था और विषयों की आपसी कड़ियों की समझ थी। इसलिए 1975 से 1980 के बीच बने प्रश्नों और बाद में ज़िला स्तर पर बने प्रश्नों में काफी अंतर देखा जा सकता है। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद प्रश्न पत्र बनाने का काम पूरी तरह माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों द्वारा किया जाने लगा था।

यह तो मानना होगा कि शिक्षकों ने कार्यक्रम के उद्देश्यों के अनुरूप प्रश्न पत्र बनाने की भरसक कोशिश की। 1981 से लेकर 2002 के बीच सिर्फ होशंगाबाद ज़िले में 22 मुख्य वार्षिक परीक्षाएं और इतनी ही पूरक परीक्षाएं आयोजित हुईं। इसके अलावा इन्दौर व उज्जैन संभागों में (1986-2002) तथा हरदा ज़िला बन जाने के बाद हरदा में भी अलग से वार्षिक बोर्ड परीक्षाएं आयोजित होती रहीं। इन वर्षों के प्रश्न पत्रों को देखें तो एक ज़बर्दस्त बात यह नज़र आती है कि एकाध अपवाद को छोड़कर प्रश्न कभी दोहराए नहीं गए। इतने वर्षों तक शिक्षकों ने स्वयं के ऊपर यह दबाव बनाकर रखा कि उन्हें हर वर्ष नए-नए प्रश्न बनाना है।

प्रश्नों में यह कोशिश भी साफ़ झलकती है कि शिक्षक बच्चों में अवधारणाओं की समझ और कौशल के विकास को जांचने की पूरी कोशिश करते थे। इस दृष्टि से हो.वि.शि.का. के ये प्रश्न पत्र प्रकाशित करना उपयोगी होगा। कुछ प्रश्नों के उदाहरणों से बात समझने में मदद मिलेंगी।

परीक्षा में पूछे गए कुछ प्रश्न

वैसे तो हो.वि.शि.का. में इस बात को लेकर काफी सजगता थी कि प्रश्न न तो याददाश्त पर आधारित हों और न ही मात्र जानकारी को उगलवाने पर। मगर इस समझ को हकीकत में लागू करना और प्रश्न बनाना हमेशा आसान नहीं रहा। यह प्रश्न बनाने वालों की सृजनात्मक के लिए एक कठिन चुनौती साबित हुई। वैसे इस मामले में कई सराहनीय प्रयास किए गए। यहां कुछ ऐसे सवालों के उदाहरण देने के बाद हम इस बात पर चर्चा करेंगे कि ऐसे कार्यक्रम और बोर्ड परीक्षा जैसी चीज़ का आपस में अंतर्विरोध है।

निम्नलिखित सवालों पर गौर कीजिए।

1. अप्रैल 1976 (कक्षा 6)

गेहूं के कोई दो पौधों में अंतर खोजने के लिए किन-किन गुणधर्मों को खोजना चाहिए? और क्यों? (कुछ पौधे परीक्षा कक्ष में रखे गए हैं, चाहो तो देख सकते हो।)

2. अप्रैल 1976 (कक्षा 8)

(क) विद्युत धारा द्वारा तांबे की कलई के जो प्रयोग तुमने किए हैं, उनके आधार पर बताओं कि लोहे के बर्तन पर तांबे की कलई किस प्रकार चढ़ाओगे? चित्र बनाकर समझाओ।

(ख) क्या मिट्टी के बर्तन पर भी इस विधि से तांबे की कलई कर सकते हैं? हां नहीं अपने उत्तर का कारण भी लिखो।

3. अप्रैल 1976 (कक्षा 8)

आकाश की ओर के प्रयोग 1 पर ध्यान दो। इसमें एक लंबवत छड़ी की छाया के छोर पर आधे-आधे घंटे बाद खूंटी गाढ़ते हैं। एक लड़के ने होशंगाबाद में इस प्रयोग को किया और सारी खूंटियों को एक रेखा से मिला दिया। यह रेखा नीचे दिखाई गई है। इस चित्र में केवल 1:00 और 2:00 बजे की खूंटियां

द्वितीय प्रारूप
दिखाई गई हैं। अब नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दो।



- (i) छड़ी कहां गड़ी थी? चित्र पर निशान लगाकर बताओ।
- (ii) चित्र में क, ख, ग तीन निशान लगे हैं। बताओ 3:00 बजे वाले खूंटी इनमें से किस स्थान पर होगी।
- (iii) चित्र में पूर्व और पश्चिम दिशाएं दिखाओ।
- (iv) चित्र में उत्तर और दक्षिण दिशाएं दिखाओ।
- (v) इस चित्र के आधार पर बताओ कि यह प्रयोग किस मौसम में किया गया होगा।

4. (1975) अपने मन से सोचकर एक ऐसा प्रयोग बताओ जिससे यह पता चले कि बीजों के अंकुरण के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है या नहीं।

5. (1974) एक ऐसा प्रयोग बताओ जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि तुम्हारी बाहर निकलने वाली सांस में और मोमबत्ती के जलने पर पैदा होने वाली गैस में कार्बन डाई ऑक्साइड है। इस प्रयोग का चित्र बनाकर दिखाओ।

6. (वर्ष चेक करना है) दो टोलियों को चार पदार्थ दिए गए। उनके गुणधर्म नीचे दिए गए हैं।

पदार्थ	पानी में घुलता है?	चुंबकीय है?	आसानी से पिघलता है?
लोहे का बुरादा	नहीं	हाँ	नहीं
मोम	नहीं	नहीं	हाँ
शक्कर	हाँ	नहीं	नहीं
लाख	नहीं	नहीं	हाँ

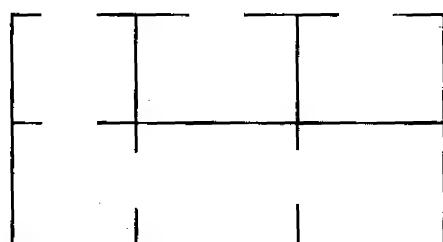
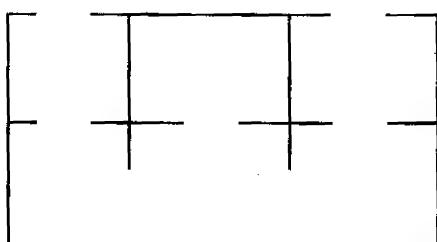
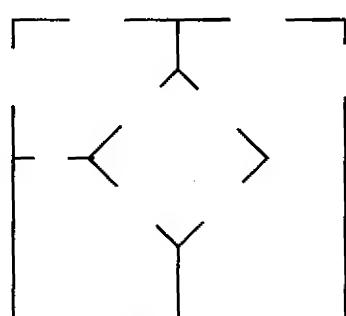
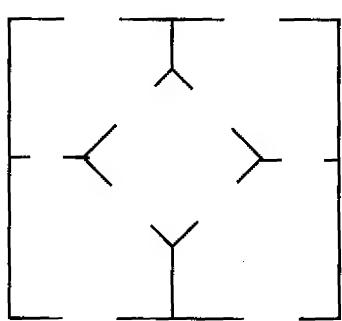
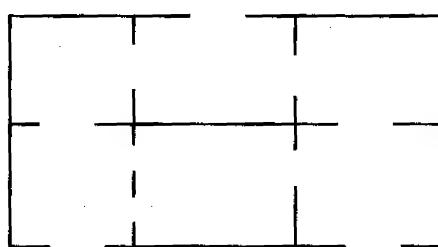
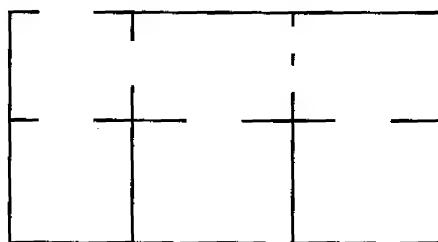
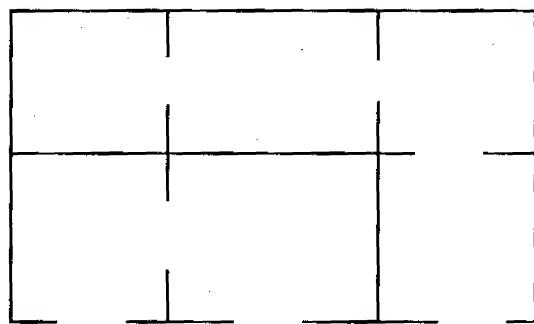
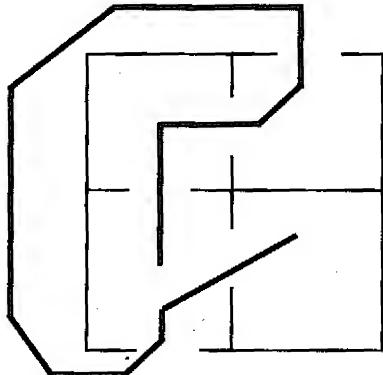
एक टोली ने एक पदार्थ चुना और दूसरी टोली ने निम्न प्रश्न पूछकर सही पदार्थ का पता लगाया। प्रश्न इस प्रकार थे:

- 1) क्या वह घुलनशील है? उत्तर नहीं
- 2) क्या वह चुंबकीय है? उत्तर नहीं
- 3) क्या वह सफेद है? उत्तर नहीं

(क) बताओ वह पदार्थ कौन-सा है?

(ख) क्या तुम इनसे अच्छे प्रश्न बता सकते हो ताकि सही उत्तर कम प्रश्नों में मिल सके। ऐसे प्रश्न नीचे दी गई जगह में लिखो।

3. नीचे दिए गए चित्रों में कुछ घरों के नक्शे दिए गए हैं। हर नक्शे पर एक ऐसी रेखा खींचो जो कि प्रत्येक दरवाजे में से निकले और किसी भी दरवाजे से दो बार होकर न जाए (जैसा कि बीच के चित्र में दिखाया गया है)। जिन चित्रों में ऐसा न कर सको उनके नीचे गलत का निशान लगाओ। गलत चित्रों को एक नया दरवाजा बनाकर सुधारो।



मगर यहां यह जोड़ना आवश्यक है कि कक्षा 6 व 7 की परीक्षाएं स्कूल रत्तर पर ही आयोजित की जाती थीं और उनके प्रश्न पत्रों में ऐसी कोशिश देखने को बहुत कम मिलती है। इसका एक कारण यह हो सकता

द्वितीय प्रारूप

है बोर्ड परीक्षा कार्य में बड़ी संख्या में शिक्षक शरीक नहीं रहे। बोर्ड परीक्षा के प्रश्न पत्र निर्माण के दौरान जिस ढंग की चर्चाएं होती थीं उनका लाभ बड़ी संख्या में शिक्षकों को नहीं मिला और वे प्रायः परंपरागत प्रश्न बनाकर परीक्षा करते रहे। वैसे इस संदर्भ में इस बात की छानबीन लाभप्रद हो सकती है कि बोर्ड परीक्षा में पूछे गए प्रश्नों ने अन्य शिक्षकों पर कोई दबाव क्यों नहीं बनाया।

शिक्षण प्रक्रिया पर प्रभाव

प्रश्न पत्रों का एक दुखदायी पहलू भी है। बोर्ड परीक्षाओं के प्रश्न पत्रों के एक मोटे-मोटे आकलन से एक बात एकदम स्पष्ट रूप से उभरकर आती है। शिक्षकों का बहुत आग्रह होता था कि प्रश्न ऐसे बनाएं जिनका मूल्यांकन वर्तुनिष्ठ ढंग से किया जा सके। यानी जिनके मूल्यांकन के लिए स्पष्ट निर्देश लिखे जा सकें। इसका एक परिणाम यह हुआ कि खुले उत्तरों वाले, एकाधिक सही उत्तरों वाले प्रश्नों का परिमाण कम होने लगा। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि उन प्रश्नों का अनुपात भी गिरा जिनमें बच्चों को विवरण लिखना हो क्योंकि उनमें भी मूल्यांकन में व्यक्तिनिष्ठता आने की 'आशंका' रहती है। शायद ज़िला स्तर के पैमाने पर यह अवश्यंभावी ही था।

दूसरी बात यह हुई, जो कुछ हद तक उपरोक्त दो बातों से सम्बंधित भी है, कि ऐसे अध्यायों के प्रश्न ज्यादा पूछे जाने लगे जिनमें ऐसे प्रश्न बनाना आसान है जिनका मूल्यांकन करते समय दुविधा की गुजाइश न रहे। 1982 से 2002 तक के उपलब्ध प्रश्न पत्रों के एक विश्लेषण से यह बात स्पष्ट उभरती है कि परीक्षा में विभिन्न अध्यायों का प्रतिनिधित्व काफी उबड़-खाबड़ हो चला था। सिर्फ अध्याय ही नहीं अलग-अलग अवधारणाओं, वैज्ञानिक विधि के तत्वों और कुशलताओं को भी समान रथान नहीं मिल पाता था। अंकों के अनुसार देखें तो जो चित्र उभरता है उससे पता चलता है कि कुछ अध्यायों से लगभग हर साल सवाल पूछे जाते थे जबकि कुछ अध्याय पूरी तरह उपेक्षित रह जाते थे।

लगभग हर साल पूछे जाने वाले प्रश्न

1. मापन (न्यूनतम अपेक्षा)
2. निर्देशांक (न्यूनतम अपेक्षा)
3. ग्राफ (न्यूनतम अपेक्षा)
4. दशमलव (न्यूनतम अपेक्षा)
5. विद्युत
6. रसायनिक संसाधन
7. समय और दोलक
8. अम्ल, क्षार और लवण
9. आपेक्षिक घनत्व
10. मानव शरीर रचना (1987 के बाद से)

इनमें से प्रथम चार तो न्यूनतम अपेक्षाओं की सूची में शामिल हैं।

यह देखना भी उपयोगी होगा कि कौन-से अध्याय पूरी तरह या अक्सर उपेक्षित रहे।

1. सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत
2. ध्वनि
3. ऊषा

4. प्रजनन
5. गैरें
6. सजीव और निर्जीव
7. आकाश की ओर
8. प्रकाश
9. मिट्टी

ऐसा नहीं है कि इन अध्यायों से सम्बन्धित प्रश्न पूछे ही न गए हों मगर इनका अनुपात अपेक्षाकृत कम रहा। यदि अंकों के लिहाज से देखें तो पता चलता है कि आधे अंक तो निम्नलिखित अध्यायों को मिले:

1. मापन	98 (न्यूनतम अपेक्षा)
2. निर्देशांक	68 (न्यूनतम अपेक्षा)
3. ग्राफ	88 (न्यूनतम अपेक्षा)
4. स्तंभालेख	89
5. अम्ल, क्षार और लवण	55
6. आपेक्षिक घनत्व	69

यह अंक वितरण उन 15 वर्षों के प्रश्न पत्रों के सर्वेक्षण पर आधारित है जिनके प्रश्न पत्र और अंत में निर्धारित अंक उपलब्ध हैं। 15 वर्षों में कुल पूर्णांक 900 (60X15) हैं और उपरोक्त 6 चीज़ों को इनमें से 467 अंक (51 प्रतिशत) मिले।

कुछ अन्य अध्याय जिनका प्रतिनिधित्व ठीक-ठाक रहा:

1. दशमलव	36 (न्यूनतम अपेक्षा)
2. वर्गीकरण, समूहीकरण	33 (न्यूनतम अपेक्षा)
3. विद्युत	48
4. दोलक	32
5. सही/गलत	35
6. जंतुओं का जीवन चक्र	45
7. मानव शरीर रचना	33

इनमें से आखरी दो (जंतुओं का जीवन चक्र और मानव शरीर रचना) को स्थान 1987 से मिलने लगा। दरअसल 1986 की प्रश्न पत्र समीक्षा में यह बात काफी सशक्त ढंग से उठी थी कि कई अध्याय परीक्षा में पूछे ही नहीं जा रहे हैं और इस वजह से उन्हें पढ़ाया नहीं जाता। वास्तव में रोचक तथ्य तो यह है कि जीव विज्ञान के अध्यायों को परीक्षा में स्थान न के बराबर मिलता था। यह देखिए कि उक्त अवधि के 15 वर्षों के प्रश्न पत्रों में जीव विज्ञान की अवधारणाओं का क्या हश्र रहा।

1. पर्यावरण/सामान्य अवलोकन	11
2. फसलें	22
3. फूल, पौधों में प्रजनन	8

4. जंतुओं का जीवन चक्र	33
5. मानव शरीर रचना	45
6. वृद्धि/परिवर्धन	12
7. सजीव और निर्जीव	22

इन्हें 900 में से कुल 153 अंक (17 प्रतिशत) मिले। यह स्थिति तब है जब 1987 के बाद से लगभग हर साल मानव शरीर रचना और जंतुओं का जीवन चक्र को परीक्षा में स्थान मिलने लगा।

1986 तक हालत ऐसी थी:

ग्राफ	29
मापन	27
आपेक्षिक घनत्व	22
स्तंभालेख	21
अम्ल, क्षार	20
निर्देशांक	19
पर्यावरण/अवलोकन	11
दोलक	9
फूल, प्रजनन	7
फसलें	5
मिट्टी	2
जीवन चक्र	0
शरीर रचना	0
वृद्धि	0
सजीव निर्जीव	0

परीक्षा के माध्यम से सीखने की जांच करने में यह असंतुलन कई सवाल खड़े करता है। सबसे पहला सवाल तो यही उठता है कि इसका शिक्षण कार्य पर क्या असर हुआ होगा। इस सम्बंध में कोई व्यवस्थित जानकारी तो उपलब्ध नहीं है मगर शिक्षकों की बात मानें तो स्कूलों में शिक्षकों ने इस बात को ताड़ लिया था और अपने अध्यापन कार्य को तदनुसार ढाल लिया था। जैसे पिपरिया में शिक्षकों के साथ गोष्ठी में यह पूछने पर कि क्या परीक्षा का स्कूल में अध्यापन कार्य पर असर पड़ता था, तो सबने कहा कि असर तो बहुत पड़ता था। जो अध्याय परीक्षा में नहीं आते थे, उनको नहीं पढ़ाया जाता था। परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्यायों में गति के ग्राफ, समूहीकरण, अम्ल, क्षार और लवण, चीज़ें क्यों तैरती हैं, समय और दोलक, संयोग और संभाविता, वगैरह गिनवाए गए। परीक्षा में उपेक्षा के कारण जो अध्याय पिट गए थे उनमें आकाश की ओर, मशीनें, सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत, वर्गीकरण, विद्युत, वृद्धि और परिवर्धन के नाम आए।

दूसरा सवाल यह उठता है कि ऐसा क्यों हुआ। क्या यह प्रश्न पत्र बनाने वालों की सृजनात्मकता की सीमा थी या हमें यह मानना होगा कि कुछ अवधारणाएं, हुनर वगैरह ऐसे हैं जिनका परीक्षण इस तरह की परीक्षा में संभव ही नहीं है। दूसरे शब्दों में, सवाल यह है कि क्या लिखित परीक्षा और प्रायोगिक परीक्षा के अलावा होशंगाबाद विज्ञान की परीक्षा में किसी और आयाम को जोड़ने की ज़रूरत थी? जैसे जीव विज्ञान के अध्यायों में अक्सर कोशिश यह थी कि बच्चे अपने पर्यावरण में पाए जाने वाले जीव जंतुओं और

पेड़ पौधों का, फलों और फूलों का, कीड़े-मकोड़ों का, फसलों का, फसलों के रोगों व कीटों का अध्ययन करें और इसके ज़रिए अध्ययन के वे तरीके सीखें जिनसे वे न सिर्फ पर्यावरण के प्रति जागरूक बनें बल्कि स्वतः अध्ययन करते रहें। अब इसका परीक्षण लिखित परीक्षा में कैसे करेंगे? इसी प्रकार से मानव शरीर रचना में कोशिश यह है कि बच्चे अपने शरीर में हड्डियों को पहचानें, उनके जोड़ों को महसूस करें, शरीर के विभिन्न अंगों की एक मानसिक छवि बना सकें। इसे एक प्रश्न का रूप कैसे देंगे। जंतुओं का जीवन चक्र, सजीवों में वृद्धि व परिवर्धन, प्रजनन व गैरह सबके यही हाल हैं। पर्यावरण के प्रति सजगता को कैसे जांचेंगे?

इन सब मामलों में बच्चों के दिमाग में अपने परिवेश की एक समझ विकसित करने की बात है, ऐसे कुछ तरीकों से उन्हें परिचित कराने की बात है, जिनकी मदद से पर्यावरण का अध्ययन किया जाता है। न तो यह समझ सार्वभौमिक है, न ये तरीके। यदि अवधारणा के स्तर पर देखें तो हमारी परीक्षा, सारे नवाचारी प्रयासों के बावजूद व्यवहारवादी ही रही। बच्चों से कुछ ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे जिनका, मोटे तौर पर, एक सही जवाब होना चाहिए ताकि मूल्यांकन किया जा सके। अवधारणात्मक समझ या मानसिक छवियां इस तरह के मूल्यांकन के हत्थे नहीं चढ़तीं। इस समस्या का माकूल जवाब सृजनात्मकता की मांग करता है।

इसी समस्या का एक रोचक परिणाम देखा जा सकता है। जब बहुत दबाव पड़ा कि किताब के अधिक से अधिक हिस्सों से प्रश्न पूछे जाएं तो खासकर दो अध्यायों (जंतुओं का जीवन चक्र और मानव शरीर रचना) में शिक्षकों ने प्रश्न बनाए। 1987 के बाद सारे प्रश्न पत्रों में इन अध्यायों के सवाल मिलेंगे मगर ये सवाल 1987 में बने सवाल में ही थोड़ा फेरबदल करके बनाए जाते रहे।

1993 (कक्षा 8)

ऊपर दिए गए अंगों को पहचानकर तालिका पूर्ण करो -

चित्र क्रमांक	अंग का नाम	अंग किस तंत्र से सम्बंधित है	अंग का कार्य
---------------	------------	---------------------------------	--------------

इसी समस्या का एक रूप और भी देखने को मिलता है। हमने ऊपर देखा कि परीक्षा में कुछ अध्यायों का वर्चस्व था। मगर इन अध्यायों से सम्बंधित सवाल देखने पर लगता है कि ये मूलतः आंकिक सवाल (न्यूमेरिकल्स) होते थे। यह तो माना जा सकता है कि मापन, निर्देशांक, ग्राफ वस्तुतः गणितीय अवधारणाएं हैं मगर संयोग और संभाविता, अम्ल, क्षार और लवण तथा आपेक्षिक घनत्व में सवालों का सम्बंध प्रायः अवधारणात्मक समझ से न होकर गणनाओं से होता था।

तो ऐसा लगता है कि इन अध्यायों का वर्चस्व इसलिए स्थापित हुआ था क्योंकि इनसे सम्बंधित ऐसे सवाल बनाए जा सकते थे जिनमें मूल्यांकन आसान व वर्तुनिष्ठ तरीके से किया जा सकता था। जैसे अम्ल, क्षार और लवण में या तो सवाल यह होगा कि एक तालिका दी गई है जिसमें विभिन्न पदार्थों का सूचकों पर असर बताया गया है और छात्रों को यह बताना होता है कि कौन-से अम्ल हैं, कौन-से क्षार हैं। मगर ज्यादा लोकप्रिय सवाल गणना के होते थे। इसी प्रकार से संयोग और संभाविता का अध्याय एक अमूर्त अवधारणा पर आधारित है और इसमें यह अपेक्षा नहीं है कि बच्चे इसे पूरी तरह समझ जाएंगे। मगर आम तौर पर इस अध्याय की उक्त अवधारणा को लेकर प्रश्न बहुत कम बने हैं। इसकी बजाय आंकड़ों का स्तंभालेख बनाना, बहुसम्मत मान निकालना, औसत निकालना व गैरह जैसे सवालों की प्रचुरता रही।

प्रश्नों की प्रकृति में एक बात और उल्लेखनीय है। होता यह था कि जब किसी अवधारणा को लेकर कोई सवाल पूछना है तो क्रमबद्ध ढंग से सवाल पूछना होता था। इनमें से प्रत्येक चरण को कुछ न कुछ अंक दिए जाते थे। अंत में उस अवधारणा को लागू करने का सवाल आता था जिसे बाकी चरणों की तरह ही कुछ अंक मिल जाते थे। एक उदाहरण से बात को समझते हैं।

एक उदाहरण ऐसे सवाल का

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के तहत एक सर्वथा नए तरह की परीक्षा प्रणाली की रचना की गई थी। वैसे यह याद रखना भी ज़रूरी है कि आदर्श रूप में तो हो.वि.शि.का. समूह बच्चों के मूल्यांकन का काम शिक्षकों के भरोसे ही छोड़ना पसंद करता मगर मुख्य धांरा की ज़रूरतों के मद्दे नज़र संभाग स्तर पर बोर्ड परीक्षा एक मजबूरी थी। परीक्षा में बच्चों को तनाव से मुक्त करने के लिए खुली किताब की व्यवस्था की गई थी और शुरुआती वर्षों में असीमित समय का भी प्रावधान रखा गया था। परीक्षा को वास्तविक परिस्थितियों के प्रति संवेदी बनाने के लिए शिक्षकों के समूहों द्वारा प्रश्न पत्र का निर्माण और परीक्षा उपरांत प्रश्न पत्र की समीक्षा तथा अंकों के पुनर्निर्धारण की व्यवस्था भी बनाई गई थी। इसके अलावा बच्चों के प्रायोगिक हुनर को महत्व देने हेतु प्रायोगिक परीक्षा का प्रावधान भी किया गया था। ये सब तत्व परीक्षा पर किसी भी विमर्श के लिए महत्वपूर्ण हैं।

हो.वि.शि.का. के तहत ली जाने वाली परीक्षा के संदर्भ में यह स्पष्ट निर्देश था कि इसमें बच्चों से रटी-रटाई जानकारी नहीं पूछी जाएगी और न ही ऐसे सवाल पूछे जाएंगे जिनके उत्तर किताब में से सीधे उतारे जा सकें। इस निर्देश का असर यह हुआ कि हो.वि.शि.का. का प्रश्न पत्र बनाना शिक्षकों के लिए एक चुनौती बन गया और संतोष की बात है कि अधिकांश शिक्षकों ने इसे सकारात्मक रूप से लिया और पूरी कोशिश की कि ऐसे प्रश्न बनाएं जो बच्चों की समझ का मूल्यांकन करते हों। मगर लगता है कि इस संदर्भ में सीमाएं काफी जल्दी सामने आ गई थीं। खास तौर से स्थानीय परीक्षा (यानी बोर्ड के अलावा परीक्षाओं) के अनुभव बहुत अच्छे नहीं कहे जा सकते। बोर्ड परीक्षा के बारे में यह तो मानना होगा कि ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद के करीब 25 सालों में शिक्षकों ने नए-नए सवाल बनाने की भरसक कोशिश की और यह बात प्रश्न पत्रों में झलकती भी है।

एक अच्छी बात यह भी हुई थी कि परीक्षा के प्रति भय की भावना काफी कम हुई थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि परीक्षा में किताब कॉपी ले जाने की छूट थी। हालांकि परीक्षा देते समय बच्चे इनका ज्यादा उपयोग शायद नहीं करते थे मगर किताब पास में होने का मनोवैज्ञानिक असर तो होता ही है।

शिक्षकों के बीच भी परीक्षा को लेकर सोच में बदलाव आया। सामूहिक रूप से प्रश्न बनाने तथा बाद में सामूहिक रूप से प्रश्न पत्र की समीक्षा करने की प्रक्रियाओं ने शिक्षकों के बीच शैक्षणिक विचार-विमर्श का एक नया मंच प्रदान किया था। इन पारदर्शी प्रक्रियाओं ने परीक्षा को अनावश्यक रहस्य व गोपनीयता से मुक्त करने में भी योगदान दिया।

अलबत्ता हो.वि.शि.का. में भी परीक्षा के स्वरूप ने कई सीमाएं आरोपित की थीं। जैसे अन्य परीक्षाओं की अपेक्षा हो.वि.शि.का. में खुली प्रकृति के प्रश्नों की गुंजाइश ज़्यादा ज़रूर थी मगर शिक्षकों में ऐसे प्रश्न पूछने को लेकर झिझक बनी रही जिनका मूल्यांकन स्पष्ट रूप से न किया जा सके। इस कारण से कई अवधारणाएं परीक्षा में कम स्थान पाती रहीं। जैसे हो.वि.शि.का. परीक्षा प्रतिवेदन में कहा गया है कि यह मूल्यांकन का एक विषय होना चाहिए कि क्या बच्चों में सार्थक प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति पैदा हुई या क्या वे वैकल्पिक व्याख्याओं के प्रति सजग हैं या क्या वे मतभेद को स्वीकार करने को तैयार हैं वर्गेरह (देखें ‘मूल तत्व’)। मगर इनको परीक्षा में स्थान नहीं मिल पाया।

प्रश्न पत्रों के विश्लेषण से पता चलता है कि ज़्यादा महत्व गणनात्मक अवधारणाओं को मिला था। गुणात्मक अवधारणाओं को बहुत कम स्थान मिल पाया था जबकि खुली प्रकृति के प्रश्नों अथवा सार्थक

प्रश्न पूछने या प्रयोगों का आपसी सम्बंध समझने वगैरह जैसे बातें तो लगभग नदारद ही रहीं। ऐसा लगता है कि इनमें से कई चीजें तो ऐसी हैं जिनका मूल्यांकन तो शायद स्कूल के स्तर पर शिक्षक द्वारा ही करना संभव होगा। दस हजार बच्चों के लिए ऐसे प्रश्न बनाना शायद संभव ही न हो। और शायद एक प्रश्न से मूल्यांकन न हो पाए, प्रति प्रश्नों के लिए भी जगह होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में मौखिक परीक्षा का प्रावधान भी रखना होगा।

यहाँ यह बात गौरतलब है कि बोर्ड परीक्षा पर इतनी मेहनत व लगन से काम करने के बावजूद स्थानीय परीक्षाओं में प्रश्नों वगैरह में पारंपरिक पद्धति काफी हद तक हावी रही। दरअसल इस बात ने खोत शिक्षकों को काफी चिंतित किया था और भब्बे के दशक में उन्होंने प्रयास किया था कि स्थानीय परीक्षाओं को संगम केंद्र के स्तर पर संगठित किया जाए ताकि उपयुक्त स्तर हासिल किया जा सके। इस प्रयास के तहत कई संगम केंद्रों पर ठीक उसी तरह प्रश्न पत्र बनाए जाने लगे थे, जैसा कि ज़िला स्तर पर होता था। हाँ, वहाँ प्रश्न पत्र की समीक्षा व अंकों के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया लागू नहीं की जाती थी। वैसे यह प्रयास पूरी तरह शिक्षकों का था, इसके लिए कोई प्रशासनिक आदेश नहीं होता था।

तो जहाँ एक ओर हो.वि.शि.का. के अंतर्गत परीक्षा के व्यवस्थागत पहलुओं पर काफी सकारात्मक काम हुआ, वहीं सृजनात्मकता की बाधाओं को भी काफी हद तक तोड़ा गया। मगर काफी कुछ और करने की ज़रूरत भी है और गुंजाइश भी। हो.वि.शि.का. में परीक्षा को लेकर किए गए नवाचार अत्यंत व्यापक कहे जा सकते हैं मगर इनमें से कई सवाल उठते हैं।

जैसे सबसे प्रमुख सवाल तो यही उठता है कि क्या अंततः यह परीक्षा कोई नई भूमिका निभा पाई या मूलतः इसने भी वहीं उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण वाली भूमिका ही निभाई? सवाल यह भी उठता है कि क्या इस तरह की केंद्रीकृत परीक्षा में बुनियादी परिवर्तन संभव हैं? शुरुआत में हो.वि.शि.का. समूह का बहुत ज़ोर था कि बच्चों के मूल्यांकन में शिक्षक द्वारा किए जाने वाले आंतरिक मूल्यांकन का काफी महत्व होना चाहिए। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि शायद हो.वि.शि.का. समूह मूल्यांकन का पूरा काम ही सम्बंधित शिक्षक को सौंपकर खुश होता। मगर अनुभव बताता है कि स्वयं शिक्षक इसके खिलाफ थे। प्रायोगिक परीक्षा का केंद्रीकरण शिक्षकों के आग्रह का ही परिणाम था। ऐसी स्थिति में परीक्षा में नवाचार किस हद तक संभव है?

यदि एक केंद्रीकृत परीक्षा की ज़रूरत को स्वीकार कर लिया जाए, तो सवाल यह उठता है कि उसमें किस ढंग के सवाल पूछे जाएं कि बच्चों का मूल्यांकन इस दृष्टि से हो सके कि उन्होंने क्या सीखा है। हो.वि.शि.का. परीक्षा का अनुभव बताता है कि जब आप एक केंद्रीकृत परीक्षा में प्रश्नों के माध्यम से यह जानने की कोशिश करते हैं तो कई बाधाएं उपस्थित होती हैं। कारण यह है कि आपको सवाल ऐसे पूछना होते हैं, जिनके जवाब लिखित रूप में दिए जा सकें और उनका स्पष्ट मूल्यांकन हो सके। .

उपसंहार

इस दस्तावेज़ में हमने जितनी बातें कीं, उससे ज्यादा छूट गई हैं। हमने मूलतः हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री के विकास, शिक्षकों के प्रशिक्षण व भागीदारी, कक्षा के अनुभवों तथा परीक्षा के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की। कहीं-कहीं इनकी बारीकियों की चर्चा करना ज़रूरी लगता है क्योंकि प्रायः हो.वि.शि.का. या किसी भी नवाचार कार्यक्रम पर कुछ लेबल लग जाते हैं और फिर उन्हें उसी लेबल के संकीर्ण अर्थों में समझा जाता है - *label and libel*। यह दस्तावेज़ लेबल के दायरे से बाहर निकलने का प्रयास है। प्रायः हो.वि.शि.का. को 'करके सीखो' का पर्याय माना जाता है। यहां की गई चर्चा से स्पष्ट है कि 'करना' इस पूरे नवाचार का बहुत महत्वपूर्ण पहलू होते हुए भी एक पहलू ही था। सीखने की प्रक्रिया के कई और आयाम हैं जो उक्त लेबल के पीछे ओझल हो जाते हैं। हमने ऐसी कई चीज़ों की बात की मगर अभी भी हो.वि.शि.का. पद्धति के कई पक्ष होंगे जो इस दस्तावेज़ से छूट गए होंगे।

कुछ लोगों को शायद छूटी हुई बातें ज्यादा महत्वपूर्ण लगती हों, उन्हें शायद अधूरापन रास नहीं आएगा।

शायद यह बात भी नज़र आई होगी कि पूरे दस्तावेज़ में कहीं भी हो.वि.शि.का. को किसी सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास नहीं किया गया है। कई लोगों को शायद यह बात खटकेगी। इस सम्बंध में दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह है कि तीस सालों के इतिहास में स्वयं हो.वि.शि.का. समूह ने कभी कार्यक्रम को किसी सैद्धांतिक मत से जोड़ने का प्रयास नहीं किया। सारे निर्णय स्कूली परिस्थिति और विज्ञान व विज्ञान की पद्धति की एक मोटी-मोटी साझा समझ के आधार पर किए गए। हरेक निर्णय सम्बंधित मुद्दे के गुण-दोषों के विश्लेषण के आधार पर होते रहे। एक समय पर यह आग्रह था कि बाल वैज्ञानिक में किसी भी वस्तु को शामिल करने की शर्त यह होगी कि उसे गतिविधियों व प्रयोगों के माध्यम से किया जा सके। इसे यदि *inductive logic* पर अतिशय ज़ोर या *empericism* कहा जाए तो हो.वि.शि.का. समूह को कोई आपत्ति नहीं होगी। मगर समय के साथ इसमें भी लचीलापन दिखता है। इसी से जुड़ी एक बात यह भी थी कि हो.वि.शि.का. समूह किसी एक चट्टान का नाम नहीं था जो किसी एक विचारधारा के प्रति समर्पित हो।

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि इस दस्तावेज़ को लिखने की ज़िम्मेदारी मैंने उठाई और मैं मूलतः यह बताने को उत्सुक था कि हमने क्या किया। मैं कई वर्षों से इस कार्यक्रम का अंग रहा हूं और इसकी प्रक्रियाएं मेरे लिए रोमांचक व 'शिक्षाप्रद' रही हैं। औपचारिक शैक्षिक विमर्श का मुझे कोई अनुभव नहीं है। इसलिए यह दस्तावेज़ इतना ही है - हमने क्या किया। इस सम्बंध में मेरी अपनी और (शायद) हो.वि.शि.का. समूह की स्थिति दुष्प्रति कुमार के शब्दों में यों व्यक्त होगी:

मैं हाथों में अंगारे लिए सोच रहा था

कोई मुझे आग की तासीर बताए

मगर एक नवाचार की बात सिर्फ उसके शैक्षणिक पहलुओं से पूरी नहीं होती। इन शैक्षणिक पहलुओं को व्यवहार रूप देकर लागू करवाने का एक समाज शास्त्र होता है। खास तौर से हो.वि.शि.का. के संदर्भ में यह बात बहुत मौजूद है।

जैसे शुरू से यह निर्णय था कि उत्कृष्टता के टापू नहीं बनाना है। तो सरकारी स्कूली व्यवस्था में हस्तक्षेप करना एक स्वाभाविक निर्णय था। इस निर्णय ने पूरे काम में एक अलग ही आयाम जोड़ दिया - राज्य सरकार, शिक्षा विभाग, शिक्षा प्रशासन, सरकारी शिक्षा व शिक्षा अनुसंधान व प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ काम करने के अनुभव विविध प्रकार के रहे हैं। कार्यक्रम शुरू करने के निर्णय से लेकर कार्यक्रम बंद करने के निर्णय तक कई उत्तार-चङ्गाव आए हैं; कुछ शैक्षणिक, कुछ राजनैतिक। इस पूरे आयाम को

इस दस्तावेज़ में शामिल नहीं किया गया है। वैसे इस पर कई लोगों ने लिखा और कहा है। जैसे अनिल सद्गोपाल ने अपनी पुस्तक ‘शिक्षा में बदलाव के सवाल’ में इसकी विस्तृत समीक्षा करते हुए हस्तक्षेप करने वाली संरथा की प्रकृति पर भी सवाल उठाए हैं। एकलव्य द्वारा प्रकाशित ‘न्यू बिगिनिंग्स’ में भी इस मुद्दे पर (खासकर कार्यक्रम बंद किए जाने के घटनाक्रम पर) काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अलावा किशोर भारती और एकलव्य द्वारा प्रकाशित विभिन्न प्रतिवेदनों में इस पर काफी कुछ कहा गया है। मगर फिर भी सरकार के साथ काम करने के अनुभवों, सीमाओं और संभावनाओं को समझने की दृष्टि से हो.वि.शि.का. एक अच्छा प्रकरण हो सकता है। कार्यक्रम क्रियांवयन में शिक्षा प्रशासन की भूमिका की समीक्षा करना भी उपयोगी होगा जो यहां नहीं की गई है।

ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद कार्यक्रम को औपचारिक रूप से सरकार को सौंप देने के बाद भी किशोर भारती व बाद में एकलव्य को कार्यक्रम से सम्बंधित एक-एक काम करवाने के लिए कितने पापड़ बेलना पड़ते थे, यह इस तरह के प्रयासों का एक आयाम है जिसे इस दस्तावेज़ में नहीं छुआ गया है। यह भी अध्ययन का विषय हो सकता है कि क्यों सरकारी नौकरशाही नवाचारों को और नवाचारों के साथ जुड़ी संस्कृति को आत्मसात नहीं कर पाती।

इसी प्रकार हमने यह बात भी नहीं की कि इस तरह के कार्यक्रम को चलाने के लिए जिस तरह के मानव संसाधन चाहिए, उनकी क्या स्थिति है। ऐसा बताते हैं कि जब किशोर भारती इस कार्यक्रम की शैक्षणिक जवाबदारी उठाता था, तब वहां इसके लिए ‘ढाई’ कार्यकर्ता थे और एकलव्य की शुरुआती अवस्था को छोड़ दें तो हालत बहुत बेहतर वहां भी नहीं थी। सवाल यह है कि यदि ऐसे कार्यक्रमों को बड़े स्तर पर फैलाना है या नवाचार की इस भावना को जगह-जगह रोपना है तो इसके लिए ‘स्रोत व्यक्ति’ कहां से आएंगे। यह अपने आप में खोजबीन का विषय हो सकता है और हो.वि.शि.का. के प्रयासों के अनुभव इसमें काफी मददगार होंगे।

यह भी बहस का विषय रहा है कि जब हम कार्यक्रम के फैलाव की बात करते हैं तो उसका आशय क्या है। क्या जगह-जगह ‘बाल वैज्ञानिक पैकेज’ लागू करवा देना ही फैलाव होगा? या जगह-जगह इस तरह के समूहों के निर्माण में मदद देना जो अपनी समझ व परिस्थिति के अनुसार स्थानीय शिक्षकों व अन्य लोगों की भागीदारी से कार्यक्रम विकसित करें? इस विषय पर हो.वि.शि.का. समूह में शुरु से ही काफी बहस चलती रही और देखा जाए तो फैलाव के दोनों ही स्वरूप अपनाए, आज़माए गए। पहले किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर ने ज़िला स्तरीय प्रसार का काम किया और एकलव्य ने स्वयं अपनी पहल व प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से मध्यप्रदेश के कई ज़िलों में ‘बाल वैज्ञानिक पैकेज’ लागू करवाने का काम किया तो वहीं गुजरात व राजस्थान में वहां के समूहों की मदद की ताकि वे अपना पैकेज विकसित कर सकें। दोनों तरह के अनुभवों की समीक्षा शायद आगे के लिए कुछ स्पष्टता प्रदान करे।

कार्यक्रम के क्रियांवयन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समुदाय भी शारीक होता है। और खास तौर से पंचायती राज व्यवस्था लागू होने के बाद इस भागीदारी को एक औपचारिक मंच भी मिला है। हो.वि.शि.का. में समुदाय की भागीदारी की दिशा में वैसे तो कोई व्यवस्थित या योजनाबद्ध प्रयास नहीं किए गए थे मगर यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

और अफसाने में जिस बात का ज़िक्र न के बराबर आया है: बच्चे सीखते क्या थे? अब शायद इसके व्यवस्थित अध्ययन का समय बीत चुका है। इस तरह के अध्ययन की योजनाएं कई बार बनीं मगर कभी हो नहीं पाया। कार्यक्रम बंद होने के तुरन्त बात भी एक योजना बनाई गई थी, पायलट अध्ययन भी हुआ था मगर किसी वजह से गाड़ी अटक गई। तो शायद इस पक्ष को छोड़ना होगा।